

आप इनको भी पढ़ें

बारबियाना स्कूल के बच्चे
अध्यापक के नाम पत्र

सिल्विया एश्टन-वॉरनर
अध्यापक

गैरेथ बी. मैथ्यूज
बच्चों से बातचीत

पॉलो फ्रेरा
उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र

शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

मूनिस रज़ा

अनुवादक
सुजाता राय

शिक्षा, विकास और समाज का आपस में बहुत घनिष्ठ संबंध होता है। शिक्षाव्यवस्था किसी समाजव्यवस्था का अभिन्न हिस्सा होती है, इसीलिए इसको समाज व्यवस्था की उप-व्यवस्था कहा जाता है। हिंदुस्तान में ऐसे बहुत कम शिक्षाशास्त्री हैं जिन्होंने अपनी शिक्षाव्यवस्था को इस संदर्भ में रख कर जांचा-परखा है। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक महत्वपूर्ण और स्वागत योग्य कदम है। यह एक ऐसे शिक्षाशास्त्री के सुदीर्घ अनुभव और चिंतन का नतीजा है जो लगभग चालीस वर्षों तक शिक्षा और शोधकार्य से घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहा है और जिसने अनेक प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर काम किया है और लगातार शिक्षा की विभिन्न समस्याओं पर लिखता रहा है।

पुस्तक में शिक्षा के बदलते आदर्शों और जमीनी यथार्थ के बीच उभरने वाले अंतर्विरोधों का विवेचन अनुभवाश्रित अनुसंधानों से प्राप्त निष्कर्षों के आलोक में किया गया है। यहां उपनिवेशवादी शिक्षाव्यवस्था के अवशेषों की समीक्षा को, वर्तमान शिक्षाव्यवस्था की असंगतियों को और भविष्य के आदर्शों के संकेतों को सरलता से पहचाना जा सकता है। इस पुस्तक में स्वतंत्रता के बाद की भारतीय शिक्षा की उपलब्धियों और सीमाओं का तर्कसंगत विवेचन किया गया है।

इस पुस्तक के विषय का आधार फलक बहुत व्यापक है जहां साक्षरता-कार्यक्रम, प्राइमरी शिक्षा, प्रौढ़शिक्षा और विश्वविद्यालय शिक्षा के साथ अनुसंधान कार्य को भी एक जगह प्रस्तुत करने का सराहनीय उपक्रम देखा जा सकता है। आज हमारी शिक्षाव्यवस्था जिस बदलते सामाजिक यथार्थ की चुनौती का सामना कर रही है, उसका भी विश्लेषण इस पुस्तक में यत्रतत्र किया गया है।

पुस्तक प्रत्येक शिक्षाकर्मी, प्राध्यापक, शोधार्थी और शिक्षा में दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्तियों के लिए समान रूप से उपयोगी है।

शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

मूनिस रज़ा

अनुवादक
सुजाता राय

ग्रंथ शिल्पी
नई दिल्ली 110002

ग्रंथ शिल्पी

© श्रीमती शहला रज़ा
प्रथम हिंदी संस्करण : 1996
ISBN 81-86684-01-8

गुल के लिए

ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002
द्वारा प्रकाशित तथा डी.पी. ग्राफिक्स, एफ-4 मिलाप नगर, उत्तम
नगर, नई दिल्ली 110059 द्वारा लेजर सेट होकर तरुण
ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली 110053 में मुद्रित.

SHIKSHA AUR VIKAS KE SAMAJIK AYAAM
by Moonis Raza

विषयानुक्रम

भूमिका

ix

अध्याय एक

भारतीय शिक्षा का ऐतिहासिक परिदृश्य

1

अध्याय दो

ग्रामीण परिवारों के संदर्भ में शैक्षिक निवेश और उसके परिणाम

22

अध्याय तीन

भारत के साक्षरता स्तर में असमानताएं

53

अध्याय चार

भारत में स्कूल शिक्षा का विकास

83

अध्याय पांच

भारत में उच्च शिक्षा की संरचना के कुछ पहलू

107

अध्याय 6

उच्च शिक्षा में शिक्षकों की भूमिका

124

अध्याय सात

भारतीय उच्च शिक्षा में परस्पर विरोधी दबाव

154

भूमिका

अध्याय आठ	
उच्च शिक्षा में मूल्यांकन	173
अध्याय नौ	
शिक्षा और भविष्य	187
संदर्भ ग्रंथ	207
अनुक्रमणिका	211

नारसिसस के चरित्र की खासियत यह थी कि वह अपने को ही देखता था। भारतीय विश्वविद्यालयों का चरित्र इसके एकदम उलटा है। उनका ध्यान अपने को छोड़ कर दुनिया की हर चीज पर होता है। अर्थशास्त्र के उच्च शिक्षा के केंद्रों ने उच्च शिक्षा के अर्थशास्त्र को हाथ लगाने से इनकार कर दिया है। जिन विश्वविद्यालयों में कानून की पढ़ाई के अच्छे विभाग हैं, उन विश्वविद्यालयों की अपनी नियम और अध्यादेश पुस्तिकाओं की हालत दयनीय है। प्रबंध विषय की शिक्षा देनेवाले प्रतिष्ठित संकायों की अपनी प्रबंध शैली 19वीं शताब्दी के ढांचे पर चलाई जा रही है। एक ओर शिक्षा के फलते-फूलते विभाग जहां काफी बड़ी संख्या में पहले से किए गए अनुसंधान के क्षेत्रों में अनुसंधान करते चले जा रहे हैं लेकिन शैक्षिक क्षेत्र को संपूर्ण समाज व्यवस्था के एक अंग के रूप में विश्लेषित करने में उनकी कतई दिलचस्पी नजर नहीं आती है, ऐसी समाज व्यवस्था जिससे शिक्षा व्यवस्था का एक अंग घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। जहां समाज विज्ञान में शिक्षा को हाशिए पर कर दिया गया है, वहीं शिक्षा में सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण को हाशिए पर ढकेल दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक एक भागीदार पर्यवेक्षक की सोच का परिणाम है जो एक वरिष्ठ अकादमिशियन भी है और गत पचास सालों से शैक्षिक प्रयास में लगा हुआ है तथा जिसने स्वतंत्रता के बाद नवजागरण में प्रगति की खुशी और पतन की पीड़ा को साथ-साथ झेला है और जिसने अपने बहुआयामी अनुभवों को आत्मसात कर इसके जरिए कुछ सार्थक और प्रामाणिक बौद्धिक निर्मितियां देने की कोशिश की है। यह पुस्तक खासतौर से चार कारणों से महत्वपूर्ण है :

पहला कारण यह है कि इसमें दिए गए सामान्यीकरण सामाजिक अनुभवों के आधार पर किए गए हैं। यानी सारतत्त्व का सारतत्त्व तथा अमूर्तन का अमूर्तन इसमें विद्यमान है जिसमें अनुभव का यथार्थ और मिट्टी की गंध मौजूद है। इसमें जहां बारीकी से सिद्धांतों को सूत्रबद्ध किया गया है, वहीं संसार में सबसे बड़े आंकड़ों को आधार के रूप में लेकर उनका आनुभविक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जहां हमारे पैर मजबूती से धरती पर जमे हैं, वहीं हमारी निगाहें आसमान के सितारों को निहार रही हैं। इसमें सिद्धांत और व्यवहार को इस तरह मिलाया गया है कि सैद्धांतिक बांझपन और व्यावहारिक दिशाहीनता से बचा जा सके।

इसमें दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि प्रस्तुत पुस्तक अतीत और भविष्य दोनों ही दिशाओं में वर्तमान का अतिक्रमण करती है जहां इसमें औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली का नए तरीके से विश्लेषण किया गया है, वहीं स्वतंत्रता के बाद की शिक्षा व्यवस्था की सफलता और असफलता दोनों की तर्कसंगत समीक्षा की गई है। भावी परिप्रेक्ष्य इस पुस्तक में सर्वाधिक उत्तेजक तत्त्व है जहां पर सत्य, शिव और सुंदर का पृथ्वी के नागरिकों की मानवीय दृष्टि के साथ, सौर मंडल के साथ, आकाश गंगा के साथ और प्रकृति के अन्य तत्वों के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में रहनेवाले दिनोंदिन व्यापक होते हुए संसार के साथ मेल होता है।

तीसरा, इस पुस्तक को खास महत्त्व प्रदान करनेवाली बात यह है कि यह संपूर्ण शिक्षा तंत्र को समग्रता में देखने का प्रयास है। इसमें साक्षरता कार्यक्रम, विद्यालय शिक्षा से लगाकर विश्वविद्यालय शिक्षा तथा उच्च अध्ययन और अनुसंधान शामिल है। इसमें प्रत्येक पहली अवस्था बाद की अवस्था के लिए आगत (इनपुट) समझी जाती है तथा जहां श्रमबाजार की जरूरत और शिक्षाप्रणाली के निर्गत (आउटपुट) को एक दूसरे से जोड़ कर देखा जाता है।

और चौथी बात, इस पुस्तक की एक विशेषता यह भी है कि यह भारतीय परिवेश की विविधता में एकता की शर्त को पूरा करती है। इसका परिप्रेक्ष्य तो राष्ट्रीय है लेकिन विश्लेषण में जिला स्तर को उसकी द्वांत्मक एकता, सामाजिक सजातीयता, ऐतिहासिक निरंतरता और प्राकृतिक एकरूपता को ध्यान में रखते हुए आधार व्यष्टिस्तर (जिला स्तर) पर किए गए अध्ययन में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया का शैक्षिक आगतों के प्रति संवेदनशीलता का अध्ययन। नमूने के रूप में चुने गए एक ही जिले के 245 गांवों के 20,000 परिवारों के ऊपर आधारित विश्लेषण। शायद आंकड़ों के आधार पर शिक्षा और विकास के संबंध का अब तक किया गया सबसे बड़ा अनुसंधान है।

दो शताब्दियों के दौरान हुए भारतीय शिक्षा के विकास के विहंगावलोकन से हमारी यह अज्ञात देश की यात्रा शुरू होती है। यहां चित्रकार की मोटी तूलिका से उपनिवेशवादी शिक्षा की मुख्य-मुख्य बातों को रूपाकार दिया गया है। ऐसा इस विश्वास के साथ किया गया है कि विरासत में मिली बहुत-सी बातें अब भी चलती जा रही हैं और हमारी समकालीन शिक्षा के परिदृश्य को विकृत कर रही हैं। विकासशील समाज में सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया के संदर्भ में शैक्षिक कार्य की पहचान की जा चुकी है तथा इन कार्यों के लिहाज से शिक्षा के क्षेत्र में किए गए प्रयास की सफलता-असफलता का भी आकलन किया जा चुका है। यह उन वायदों पर ध्यान केंद्रित करने के लिए किया गया है जिन्हें अभी तक पूरा नहीं किया गया है उस दूरी को दर्शाने के लिए जिसे अभी तय करना है।

जिस रूपाकार की ऊपर चर्चा की गई है, उसके संदर्भ में भारतीय शिक्षा के विकास

के इस ऊंचे पिरामिड के विभिन्न सोपानों की जांच-पड़ताल शुरू करने से पहले यह ठीक समझा गया कि शिक्षा और विकास के आपसी रिश्तों की, (खास तौर से ग्रामीण इलाकों में) छानबीन कर ली जाए। इस मकसद से ग्रामीण परिवारों पर आधारित काफी बड़े आंकड़ों का उपयोग किया गया है। आंकड़ों का हमारा विश्लेषण लोगों के इस आम दृष्टिकोण की पुष्टि करता है कि स्कूलों की संख्या का वितरण एकदम असंतुलित है और परिवारों की शिक्षा का स्तर उन परिवारों की जातों के आकार से जुड़ा हुआ है। कृषि के आधुनिकीकरण पर शिक्षा के प्रभाव की भी पड़ताल की गई। इसके लिए यंत्रीकरण के स्तर, विकसित तकनीकों का उपयोग तथा राजकीय संस्थाओं से ली जाने वाली मदद को आधार बनाया गया है। जनसंख्या के शैक्षिक स्तर और इसकी जनांकिकीय विशेषताओं के पारस्परिक विश्लेषण से पता चला है कि शिक्षा के स्तर ने शादी की उम्र को, खास तौर से स्त्रियों की उम्र को, बच्चे तथा महिला के अनुपात को और कुछ दूसरे जनांकिकीय लक्षणों को बहुत ज्यादा प्रभावित किया है। लगता है कि शिक्षा के स्तर तथा ग्रामीण जनसंख्या के गांव से बाहर जाने के बीच भी बहुत गहरा संबंध है। लोगों को बसाने की योजना बनाने में इसकी मदद काफी उपयोगी और मूल्यवान साबित हो सकती है। यदि असमता और विरासत में मिले शैक्षिक ढांचे की कमजोरियों को ध्यान में रखकर शिक्षा पर विचार करें तो शिक्षा और विकास के बीच अनुभवाश्रित संबंधों का स्वरूप संकेत देता है कि अर्थ व्यवस्था के ढांचे में परिवर्तन किया जाना चाहिए।

समग्र रूप से शैक्षिक विकास की एक रूपरेखा प्रस्तुत करके तथा ग्रामीण संदर्भ में शिक्षा और विकास के बीच संबंधों की पड़ताल करके हम अपनी शैक्षिक प्रणाली के आधार के अध्ययन की तरफ बढ़ते हैं जो हमारी साक्षरता दर में प्रतिबिंबित होता है। इस स्तर पर असमानताओं को मापा गया है तथा उनके स्वरूप और स्थानिक प्रसार की आलोचनात्मक परीक्षा की गई है। देखने में आया है कि स्त्री-पुरुष, ग्रामीण-शहरी, अनुसूचित जाति और गैरअनुसूचित जाति, और विकसित तथा अल्पविकसित असमताएं अकेली काम नहीं करती हैं। वे सामाजिक-आर्थिक वंचकता से भीतर से जुड़ी हुई हैं जिसने सामाजिक व्यवस्था को बांध रखा है। जैसे ही हम अपेक्षाकृत विकसित इलाकों में गैरअनुसूचित जाति, पुरुष तथा नगरीय से हटकर अपेक्षाकृत कम विकसित इलाकों में अनुसूचित जाति स्त्री और ग्रामीण की ओर बढ़ते हैं तो पाते हैं कि असमानता का प्रभाव अधिक तीव्र होता गया है। यह भी पता चला है कि क्षेत्र का आर्थिक आधार भी उस क्षेत्र में साक्षरता के प्रसार पर अपना शक्तिशाली प्रभाव डालता है। अल्पविकास के दुश्चक्र की पहचान की गई है जहां पर कमजोर आर्थिक आधार, नगरीकरण का नीचा स्तर, साक्षरता का नीचा स्तर तथा ऊंची असमानता एक दूसरे की मदद करती हैं और मिल कर समस्या गंभीर बनाती हैं। हमारे विश्लेषण में इस तथ्य को खासतौर से उजागर किया गया है कि साक्षरता का विस्तार समग्र विकास

प्रक्रिया से भीतर से जुड़ा है तथा शैक्षिक योजना निर्माण में संकीर्ण क्षेत्रीय दृष्टिकोण अपना कर राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

साक्षरता की ऊँची-नीची जमीन की नापजोख करने के बाद यानी स्कूल शिक्षा की प्रारंभिक अवस्था को जानने के बाद देश में स्कूल के विकास के अध्ययन में प्रयुक्त विश्लेषण और संश्लेषक के उपकरणों को गढ़ने और धारदार बनाने की दिशा में हम बढ़ते हैं। हमारी स्कूल प्रणाली की गिनती दुनिया की सबसे बड़ी प्रणालियों में की जाती है लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि अभी तक समुचित रूप से इसकी परीक्षा नहीं की गई है। इसकी एक खास वजह यह है कि हमारे सोच का खाका धुंधला और अस्पष्ट रहा है। इसके अध्ययन के तरीके बहुत कमजोर और बेजान रहे हैं। खासतौर पर यहां पर अध्ययन की पद्धति (तरीके) पर हमने अपना ध्यान केंद्रित किया है।

ऐसा देखा गया है कि जितना ही अधिक वर्णनात्मक से विश्लेषणात्मक भावचित्रात्मक से पद्धतिपरक होते जाते हैं उतना ही ज्यादा हमें संख्यात्मक औजारों की जरूरत पड़ती है। असमानता के मापन की समस्याओं की यहां परीक्षा की गई है तथा इस काम के लिए असमानता के सोफर्स इंडेक्स में सुधार किया गया है। अनुप्रस्थ-काट विश्लेषण (क्रॉस सेक्शनल एनालिसिस) के लिए जिला स्तर के आंकड़ों के महत्त्व की परीक्षा की गई है। और इसको सार्थक मूल्यांकन के लिए आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकार किया गया है। स्कूल के विकास की जिन विशेषताओं को मापने की आवश्यकता है, उनकी पहचान की गई है, वे हैं, पहुंच, उपलब्धता मात्रा, गुणवत्ता, समता, अंतर्संबद्धता और उपयोगिता। मूलतः ये गुणात्मक विशेषताएं हैं जिनको सूचकों में प्रक्षेपित किया गया है। सहज रूप से ये मात्रानुगामी हैं। सूचकों को लक्षणों में रूपांतरित किया गया है। संपूर्ण घटना क्रिया को हमने अलग-अलग भागों में बांटा है, हम अंततः एकदम विपरीत दिशा में गए हैं। इन भागों से पुनः हम संपूर्ण की तरफ चले हैं तथा स्कूल के विकास का संश्लिष्ट इंडेक्स बनाया है। शैक्षिक योजनाकार इन पृथक् किए हुए लक्षणों का और अंततः सबका मिलाजुला एक इंडेक्स तैयार करता है ताकि वह क्रियान्वयन की प्रगति की निगरानी कर सके।

भारत में स्कूल शिक्षा के विकास की बाधाओं तथा समस्याओं का परीक्षण करने के बाद हमने उच्च शिक्षा के क्षेत्र को लिया है जहां ज्ञानदान सहज रूप से ज्ञान की उत्पादन के साथ जुड़ जाता है। संपूर्ण शिक्षा प्रणाली के लिए विश्वविद्यालय मां की भूमिका अदा करते हैं अर्थात् ज्ञानदान और ज्ञानउत्पन्न को जारी रखने का काम करते हैं, इसलिए शिक्षा व्यवस्था के इस स्तर की जांचपड़ताल हमने कुछ अधिक विस्तार से की है। भारत में उच्च शिक्षा के ढांचे के कुछ पहलुओं के परीक्षण से हमारा यह काम शुरू होता है। ऐसा देखा गया है कि यद्यपि उच्च शिक्षा में दाखिले के विस्तार

की गति काफी तेज रही है फिर भी कुछ आबादी की तुलना में यह दाखिला बहुत कम है। एक तुलनात्मक खाके के भीतर दाखिले की वृद्धि दर का आलोचनात्मक आकलन किया गया है। इस प्रक्रिया में हम इस निष्कर्ष से बच नहीं सके हैं कि हमको अब पहले जैसी शिक्षा की जरूरत नहीं है बल्कि काफी भिन्न प्रकार की उच्चशिक्षा की आवश्यकता है। इसकी इस कमजोरी का कारण देश की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं के प्रति इसकी दुर्बल और निष्क्रिय प्रतिक्रिया रही है, खासतौर से हरितक्रांति तथा औद्योगिक आत्मनिर्भरता के संदर्भ में यह बात अधिक सच है। संकाय के आधार पर किया गया दाखिले का विश्लेषण दर्शाता है कि कुल दाखिले में कला संकाय का सबसे बड़ा हिस्सा अभी भी बना हुआ है। विज्ञान संकाय में दाखिले का हिस्सा इसके एकदम विपरीत है। वाणिज्य संकाय में बहुत तेज रफ्तार से बढ़ोतरी हो रही है जिससे जाहिर होता है कि देश में व्यापार और बैंकिंग की गतिविधियां काफी तेजी से बढ़ी हैं। उत्पादन के क्षेत्र से सीधे जुड़े संकायों की प्रवृत्ति काफी चिंताजनक है, प्रौद्योगिकी और इंजीनियरिंग में दाखिले का हिस्सा तो और भी कम है। सबसे आश्चर्यजनक रूप से दुखद हालत कृषि तथा पशुचिकित्सा विज्ञान की है जहां दाखिले का स्तर बहुत नीचा है तथा वृद्धि की दर बहुत धीमी है। जबकि शिक्षा और स्वास्थ्य यानी समाज सेवा से जुड़े उच्च शिक्षा के दोनों हिस्सों में काफी गिरावट आई है, दवा-की शिक्षा के मामले में यह गिरावट और ज्यादा है। संकाय के ढांचे के आधार पर किए गए दाखिले के विश्लेषण के संदर्भ में विश्वविद्यालयों के निर्गत (आउटपुट) तथा श्रमबाजार के आगत (इनपुट) के बीच की खाई को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। आसमान असंतुलन वर्तमान परिस्थिति की विशेषता हो चुकी है—यह असंतुलन ऊपर से ऊर्ध्वगामी विकास, स्थानीय विकास और शैक्षिक विकास की दृष्टि से है। इस विश्लेषण से यह तथ्य उजागर होता है कि भारतीय उच्च शिक्षा का संकट उसके ढांचागत विरूपता तथा कमियों में निहित है जिसके कारण यह उत्तराधिकार में प्राप्त रुकावट को तोड़ने में असमर्थ रही है।

अगले अध्याय में चलकर हमने उच्च शिक्षा में विरोधी दबावों (अंतर्विरोधी दबावों) का अध्ययन किया है। ऐसा देखा गया है कि स्वतंत्र भारत में विरोधी दिशा में सक्रिय दो प्रकार के कारकों ने शिक्षा के प्रक्षेप पथ को निर्धारित किया है जोकि दोनों ही कारकों का स्वरूप रचनात्मक रहा है। स्वतंत्र भारत में जो हमें शिक्षानीति का दिशाहीन भटकाव जैसा दिखता है, उसे हमको भिन्न रूप में देखना चाहिए। अल्पविकास से विकास की ओर संक्रमण से जो उथल-पुथल होती है उसकी क्षतिपूर्ति की कार्रवाई के रूप में इसे लिया जाना चाहिए। कुछ जो महत्वपूर्ण विरोधी दबाव हैं उन्हें पहचाना जा सकता है जैसे संख्या की दृष्टि से विस्तार और गुणवत्ता में सुधार, समता और दक्षता, मूल्य तथा उपयोगिता, प्रतिबद्धता और निस्संगता, विशुद्ध रूप से अकादमिक तथा अध्यापन से तीव्र लगाववाला अध्याय, एकता और विविधता, केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण और अंत में स्वायत्तता और उत्तरदायित्व।

चूँकि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में संकाय की काफी निर्णायक भूमिका होती है, अगले अध्याय में थोड़ी गहराई में जाकर उनके कार्यों की परीक्षा की गई है। शिक्षा और अनुसंधान के बीच लाभकारी और जीवंत संबंध उच्च और तकनीकी शिक्षा की उल्लेखनीय विशेषता है क्योंकि विश्वविद्यालय ऐसा स्थान है जहाँ अनुसंधान-अध्यापन-अनुसंधान की शृंखला कभी टूटती ही नहीं है, और इसके द्वारा भविष्य में बदलते हुए वर्तमान की समझ लगातार गहरी होती चलती है। इस बात की कल्पना नहीं की जाती है कि यह काम सामाजिक संदर्भों से काट कर एकांत में या बंद कमरे में पूरा होता है। इन दो ध्रुवों पर संपन्न होनेवाला शिक्षा का कार्य अपने को तीसरी दिशा में प्रक्षेपित करता है जिसे हम समुदाय सेवा और साथ ही पाठ्यतर तथा पाठ्यक्रम सहगामी कार्यक्रम मानते हैं। ऊपर के विश्लेषण के नतीजे के रूप में संकाय के निम्नांकित कार्य हो सकते हैं :

1. अध्यापन और मूल्यांकन के मेल से नई पीढ़ी को संग्रहीत ज्ञान देना,
2. नए ज्ञान का सृजन,
3. अकादमिक अनुसंधान से होनेवाले लाभों को अधिकांश लोगों तक पहुंचाना और समुदाय की सेवा के लिए, खासतौर से वंचित तबकों के लिए इसका इस्तेमाल करना; और
4. संस्था के प्रबंध और उसके अन्य संबंधित क्रियाकलापों में भाग लेना।

चूँकि मूल्यांकन प्रणाली खास तौर पर उच्च शिक्षा के क्षेत्र में; शिक्षा-प्रणाली का अविभाज्य हिस्सा है, इसलिए इस महत्वपूर्ण क्षेत्र से जुड़ी, समस्याओं के परीक्षण से हमने अपनी बात प्रारंभ की है। एक जैसी, बाहरी परीक्षक द्वारा सत्र के अंत में ली जानेवाली निबंध शैली की परीक्षा पद्धति की परीक्षा थोड़ी गंभीरता से की गई है। इसे हमने औपनिवेशिक काल से विरासत में पाया था। उस समय इसका मकसद शिक्षा की दुकानों पर पैदा किए जानेवाले तरह-तरह के सामान पर अलग-अलग तरह की गुणवत्ता की मुहर लगाना था जिनका उपयोग मूलतः रोजगार बाजार में और मूल रूप से तथाकथित सेवा क्षेत्र (सर्विस सेक्टर) में होता था। विकासशील अर्थव्यवस्था तथा लोकतांत्रिक समाज की मांग थी कि हम अपने शिक्षा प्रयासों को नई दिशा में मोड़ें और हमारी मूल्यांकन पद्धति को इसी के अनुकूल बदला जाना था। एक सैद्धांतिक खाका तैयार किया जाना है जिसके भीतर मूल्यांकन के उपकरणों को रूपाकार दिया जाएगा। यह ऐसा सिद्धांत होगा जो ज्ञान को गतिशील मानता हो, यह मानता हो कि ज्ञान हमेशा नए रूप धारण करता रहता है और मूल्यांकन के उपकरण भी इसी से निकलेंगे। अर्जित सूचनाओं का बोझ ढोने की क्षमता की तुलना में जो उपकरण सीखने वाले की जिज्ञासा प्रतिभा को विशेष महत्व देंगे। और जिसमें असहमति तथा मौलिकता को धनात्मक मूल्य प्रदान किया जाएगा। इसलिए मूल्यांकन के उपयुक्त उपकरणों की तलाश का अर्थ होगा सही सिद्धांत

की तलाश। विभिन्न योग्यताओं तथा विशेषताओं के मूल्यांकन के लिहाज से कई तरह के उपकरणों का परीक्षण किया गया है। अंतिम रूप से श्रेणी निर्धारण (ग्रेडिंग) के लिए कई मापने योग्य विशेषताओं के संदर्भ में किसी छात्र के मूल्यांकन की समस्या एक प्रकार से उसकी बहु आयामी विशेषताओं के मापने की समस्या है, जिनको सीधे गिना नहीं जा सकता है। लेकिन कतिपय माप योग्य विशेषताओं में उनकी अभिव्यक्ति होती है। इस पृष्ठभूमि में कुछ पूर्वसर्ग की परीक्षा की गई है तथा इस संबंध में एक नवाचारी पद्धति सुझाई गई है। अंततः ऐसा देखने में आया है कि मूल्यांकन प्रक्रिया के भीतर से कोई कितना भी व्यक्तिनिष्ठता को निकालने की कोशिश कर ले घूमफिर कर वह वहीं पहुंच जाता है।

शैक्षिक गतिविधियों के विभिन्न पहलुओं तथा उसकी विभिन्न अवस्थाओं पर विचार कर लेने के बाद हम ने अंततोगत्वा भविष्य की ओर देखा है। भावी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो मनुष्य और प्रकृति और मनुष्य की प्राचीनतम एकता को वापस ला सके। एक तरफ तो इसे समाज के मन को सामाजिक सार्वभौमीकरण के लिए तैयार करना है दूसरी तरफ उसकी अस्मिता को भी बचाए रखना है। पृथ्वी की एकता तथा विविधता के बीच के अंतर्विरोध को हल करने में योगदान अवश्य करना चाहिए। शिक्षा की नीतियां आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तन के साथ भीतर से जुड़ी होनी चाहिए। इसके बिना नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था कपोल कल्पना भर रह जाएगी। आशा की जाती है कि शैक्षिक प्रयास के क्षेत्र में आयात की जानेवाली स्थानापन्नता की चुनौती का यह सामना करेगी और जड़ परंपरा और निर्मूल आधुनिकता को अस्वीकार करेगी। इसके बदले आत्मनिर्भर राष्ट्रीय परंपराओं का आधुनिकीकरण किया जाएगा। जो हम जानते हैं, उसकी जगह जो हमें जानना है उस पर इसमें अधिक बल दिया जाएगा, ज्ञान को संयोजित करनेवाले समग्रतामूलक सिद्धांतों पर बल दिया जाएगा। बहुविषयी तथा अंतर्विषयी दृष्टिकोण अपनाया जाएगा। इसकी जड़ें काम में होंगी ताकि यह भविष्य की शिक्षा बन सके। मनुष्य अपनी पशुता का अतिक्रमण कर सके, इसके लिए शिक्षा को उसकी मदद करनी है साथ ही इस बात से भी उसे बचाना है कि कहीं वह मस्तिष्कहीन यंत्र मानव न बन जाए।

अध्याय एक

भारतीय शिक्षा का ऐतिहासिक परिदृश्य

सामाजिक स्थितियों से शिक्षा बहुत गहरे स्तर पर जुड़ी होती है। सामाजिक रूपांतरण में इसकी केंद्रीय भूमिका को स्वीकार किया गया है। विकासप्रक्रिया से इसका घनिष्ठ संबंध है और परंपरा के आधुनिकीकरण का इसको जरूरी उपकरण बताया गया है।

शिक्षा के विषय में उपर्युक्त दृष्टिकोण को मद्देनजर रखते हुए भारत में शैक्षिक विकास के सार्थक विहंगावलोकन के लिए निम्नांकित बातों पर क्रमबद्ध रूप में विचार करना जरूरी है : (1) विरासत में प्राप्त शिक्षा के औपनिवेशिक ढांचे की विशेषताओं को पहचानना; (2) विरासत में मिले इस शैक्षिक ढांचे में स्वतंत्रता मिलने के बाद हुए रूपांतरण का आलोचनात्मक मूल्यांकन करना; (3) वांछित दिशा को ध्यान में रखकर आगे बढ़ने के लिए भविष्य की दिशा पर विचार करना; (4) सामाजिक-आर्थिक प्रणाली की उपप्रणाली के रूप में शिक्षा का मूल्यांकन करना।

औपनिवेशिक शैक्षिक ढांचे की विरासत

भारत में परंपरागत शिक्षा व्यवस्था का एक लंबा इतिहास रहा है लेकिन औपनिवेशिक शिक्षाप्रणाली परंपरागत शिक्षाव्यवस्था का कोई आधुनिकीकृत रूपांतरण नहीं थी। शैक्षिक परिदृश्य पर इसका आविर्भाव ऐतिहासिक रूप से विकसित भारतीय ढांचे के बाहर और इसके प्रभाव से मुक्त रह कर हुआ था। जहां एक तरफ हजारों साल के बौद्धिक अनुभव को जड़ बना दिया गया तथा इस प्रक्रिया में वह निष्प्राण, क्षीण और रूढ़िवादी हो गया, वहीं दूसरी तरफ इस नष्टप्रायः परंपरा की रिसती हुई सतह पर सात समुंदर पार से आयातित आधारहीन आधुनिकता की एक पतली तह चढ़ा दी गई। इस तरह औपनिवेशिक भारत की खड़िया में जंगम परंपरा और सारहीन आधुनिकता का घालमेल तैयार किया गया। आगे बढ़ने से पहले बेहतर होगा कि विरासत में मिली इस व्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताओं पर निगाह डाल ली जाए।

ध्यान देने की इस संदर्भ में पहली बात यह है कि परिमाण की दृष्टि से यह व्यवस्था बहुत संकुचित थी और इस उपमहाद्वीप में रहनेवाली करोड़ों जनता का बहुत छोटा-सा हिस्सा इसकी प्रभावपरिधि में था। जिस देश ने सबसे पहले शून्य की अवधारणा

और दशमलव प्रणाली का विकास किया था, उसी देश में साक्षरता का स्तर दुखद रूप से कम था। स्वाधीनता के ठीक पहले प्रति एक लाख जनसंख्या पर नामांकन या दाखिले की दर आज के स्विटजरलैंड और सोमालिया की दरों के लगभग बराबर और लिसोथो और जांबिया की दरों से कम थी।

इसी संदर्भ में अब हम दूसरी बात को लें। औपनिवेशिक भारत में शिक्षा सामाजिक-आर्थिक विकास का साधन बनने की जगह विदेशी शासन की जरूरतों को पूरा करती थी। औपनिवेशिक प्रशासन के कार्यकलाप के परिणामस्वरूप प्रति हेक्टेयर और साथ ही प्रतिव्यक्ति कृषि उत्पादकता तथा श्रमशक्ति में द्वितीयक क्षेत्र का भाग कम होते जाने के कारण उत्पादकता के लिए निवेश के रूप में और प्रौद्योगिक विकास के लिए वैज्ञानिक प्रौद्योगिक आधार तथा प्रशिक्षित श्रमशक्ति जुटाने की दृष्टि से शिक्षा आवश्यक नहीं रह गई थी। इसके बजाए इससे आशा की जाती थी कि यह शासनतंत्र के लिए शिक्षित पुर्जे तैयार करेगी। हजारों वर्षों के दौरान शिक्षा और काम में जो खाई पैदा हो गई थी, उसे पश्चिमी देशों में औद्योगिक क्रांति के जरिए पाटा जा चुका था। लेकिन तीसरी दुनिया के देशों में ऐसी कोई क्रांति होने ही नहीं दी गई इसका नतीजा यह हुआ कि शिक्षा और काम के जो संबंध प्राचीन और मध्यकालीन समाज में पहले से ही कमजोर चले आ रहे थे, औपनिवेशिक युग में आकर और भी क्षीण हो गए।

इसमें विचार करने की तीसरी बात है कि उपनिवेशकालीन शिक्षाव्यवस्था बहुस्तरीय और पिरामिडाकार थी और इसका आधार बहुत संकीर्ण था। प्राथमिक से माध्यमिक, माध्यमिक से उच्चतर माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक से स्नातक (तृतीयक स्तर) और स्नातक से स्नातकोत्तर (उच्च तृतीयक) स्तर तक पहुंचने की दर बहुत कम थी। एक उदाहरण से इस बात को समझा जा सकता है। स्नातकोत्तर शिक्षा और शोधकार्य, शिक्षा में आत्मनिर्भरता के आधारभूत निवेश का काम करते हैं। उच्च शिक्षा में इनका अनुपात असाधारण रूप से कम था। स्नातकोत्तर स्तर पर यह अनुपात 11.5 प्रतिशत था और अनुसंधान में यही अनुपात सिर्फ 0.8 प्रतिशत था। उच्च शिक्षा अधिकांशतः स्नातक स्तर तक सीमित थी। एक अन्य तथ्य ने इस स्थिति को और निष्क्रिय कर दिया था। उपनिवेशों में शैक्षिक रूप से अर्ध उपजाऊ जमीन में एक ऐसी दुर्लभ प्रजाति का उदय हुआ जिसके कारण स्नातक शिक्षा शेष उच्चतर शिक्षा से कटकर रह गई। इस दुर्लभ प्रजाति का नाम था, 'डिग्री कालेज'। इन संस्थानों के निर्दय वातावरण की कल्पना करना कठिन नहीं है जिनमें संकाय से बस इतनी उम्मीद की जाती थी कि वे बाहरी अभिकरणों (एजेंसियों) द्वारा तैयार किए गए 'पाठ्यक्रम' की तैयारी कराएं और सत्र के अंत में निबंध शैली की परीक्षाओं के लिए छात्रों को तैयार करें।

विचार करने की चौथी बात यह है कि औपनिवेशिक भारत में शिक्षा और विशेष रूप से उच्च शिक्षा बंदरगाहों पर बसे नगरों में और उनके आसपास के इलाकों तक सीमित थी। इस प्रकार शिक्षा कुछ छिटपुट जगहों में सिमटी हुई थी। कुछ स्थानों का विकास, कुछ का अल्पविकास किया गया था और कुछ विकास से स्वतः वंचित थे।

यह शिक्षा उसमें एक महत्वपूर्ण तत्त्व थी। इसमें कलकत्ता, बंबई और मद्रास में महानगरों की स्थापना कर इनको शोषण का केंद्र बनाया गया था और पराधीन अर्थव्यवस्था की संपत्ति का अधिशेष इन नगरों के अंधाधुंध विस्तार में खिंचता चला जाता था।

इस संदर्भ में विचार करने की पांचवीं बात यह है कि इस नई परिस्थिति के चलते हजारों साल से भारतीय संस्कृति और सभ्यता का केंद्र और हृदय माना जाने वाला क्षेत्र हाशिए पर ढकेल दिया गया। हड़प्पा सभ्यता के समय से ही भारत का उत्तरी क्षेत्र तथा गंगा-यमुना का मैदानी इलाका हमारी सांस्कृतिक परंपराओं का स्रोत रहा था। तक्षशिला और ननकाना, इंद्रप्रस्थ और उज्जयिनी, वाराणसी और अयोध्या, वैशाली और पाटलिपुत्र, सरहिंदी और देवबंद तथा फिरंगी महल और फुलवारी शरीफ उत्तर भारत के मैदानी इलाके में एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए थे। ये भारतीय मनीषा और चिंतन के केंद्र थे, जहां से भारतीय जनसमुदाय की सामासिक संस्कृति को उजागर करनेवाली मेधा हमको प्राप्त होती थी। उपनिवेशवादी शासकों ने मध्यप्रदेश कहे जानेवाले इस क्षेत्र में विकास के केंद्र नहीं स्थापित किए। उन्होंने विकास केंद्रों की स्थापना परिधि पर की। इन परिधीय नगरों को हम बंदरगाहों की संज्ञा देते हैं। इस तरह से भारतीय भूभाग का परंपरागत संघटन उलट दिया गया। इन बंदरगाही नगरों तक सीमित भारतीय नवजागरण पीलिया और रक्ताल्पता रोगों का शिकार था और इसलिए इस देश की सामासिक संस्कृति को संश्लिष्ट करने में अशक्त और असमर्थ था। यह सांस्कृतिक क्रमभंग का नतीजा था। जिस क्षेत्र ने भारतीय जनमानस को हजारों साल तक ऊर्जस्वित किया था, और राम, कृष्ण, निजामुद्दीन औलिया खुसरो, नानक, कबीर, सूर, और तुलसी जैसी महान् विभूतियों को जिस भूमि ने जन्म दिया था, वही अब सांस्कृतिक जड़ता का क्षेत्र बन गई। राष्ट्रीय जीवन के विखंडन में इन दोनों के दर्शन हुए जिसमें एक ओर निष्प्राण, विकासचेतना से रहित परंपरा बची थी और दूसरी ओर बिना जड़मूलवाली आधुनिकता। गंगा-यमुना के मैदान और उत्तरी क्षेत्र में निष्प्राण परंपरा बची रही तथा जड़मूल से रहित आधुनिकता ने परिधि पर अपना क्षणभंगुर अस्तित्व बनाए रखा।

इस प्रसंग में छठी बात यह कहना चाहूंगा कि औपनिवेशिक भारत में शिक्षा का सामाजिक-आर्थिक आधार निहायत संकुचित था। हजारों हजार श्रमजीवी बहुसंख्यक जनता के लिए इसके दरवाजे बंद थे। जनसंख्या के एक बहुत बड़े हिस्से को सामाजिक और आर्थिक सुविधाओं से वंचित रखा गया था। इसमें अनुसूचित जातियों और जनजातियों का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। शैक्षिक संस्थाओं के पवित्र परिसर में इनका प्रवेश तकरीबन असंभव था। कहना न होगा कि भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या ग्रामीण इलाकों में रहती थी (और आज भी रहती है)। उनके लिए शैक्षिक सुविधाएं तकरीबन नहीं के बराबर थीं। खास तौर से शिक्षा में महिलाओं की भागीदारी का स्तर तो बहुत ही कम था। शिक्षा में असमानता का पूरा ढांचा महिलाओं के ही दुर्बल कंधों पर टिका हुआ था।

इस प्रसंग में विचार करने की आठवीं बात यह है कि औपनिवेशिक भारत में

4 शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

शिक्षा 'अध्यापन' (शिक्षण) पर केंद्रित थी 'अधिगम' (सीखना) पर नहीं। शिक्षक और छात्र का रिश्ता इस मान्यता पर टिका हुआ था कि गुरु से 'ज्ञान प्राप्त' किया जाता है। इसलिए सीखने की सबसे मान्य पद्धति थी, बिना तर्क और बहस के अनालोचनात्मक तरीके से, ईश्वरीय संदेश की तरह, गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान को स्वीकार करना। इस पद्धति से बुद्धि के बाजार के लिए शिक्षा की दुकानों में जो माल तैयार होता था, उस पर गुणवत्ता (प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी आदि) की अलग-अलग छाप लगी होती थी तथा इसका उपयोग मूलतः तथाकथित सेवाक्षेत्र में किया जाता था। इस तरह से प्राप्त सत्य (ज्ञान) को अनालोचनात्मक रूप से स्वीकार करने की योग्यता को सत्र के अंत में एक जैसी निबंध शैली की परीक्षा द्वारा ही सर्वोत्तम तरीके से परखा जा सकता था।

और अंत में आठवीं बात सबसे अधिक महत्त्व की है। वह यह कि औपनिवेशिक भारत में जिस शिक्षा को विलायत से लाकर रोपा गया था, उसकी मंशा राष्ट्रीय एकता की ताकतों को मजबूत बनाना नहीं, उनको कमजोर करना था। ये राष्ट्रीय शक्तियाँ एक तरफ राष्ट्रीय घरेलू बाजार के विकास के साथ-साथ विकसित हो रही थीं और दूसरी ओर राष्ट्रीय आंदोलन से इनको ताकत मिल रही थी। इस काल में पाठ्यक्रम के जरिए सांप्रदायिकता, जातिवाद, और क्षेत्रवाद का विष राजनीति में बड़ी चतुराई से फैलाया गया। एक उदाहरण से इसको आसानी से समझा जा सकता है। स्कूलों में हिंदुओं और मुसलमानों को यह पढ़ाया गया कि उनके बीच कोई साझी विरासत नहीं है। सिर्फ उनका धर्म अलग नहीं है बल्कि इतिहास के अलग-अलग काल धर्म के आधार पर विभाजित हैं। हिंदुओं तथा मुसलमानों का पहनावा भी अलग था और वे अलग भाषाएं बोलते थे। इस नई व्यवस्था में राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने का उपकरण होने के बजाए शिक्षा राष्ट्रीय एकता को तोड़नेवाली एक ताकतवर हथियार बन गई।

स्वतंत्र भारत में शिक्षा

उपनिवेशवादी शासकों से विरासत में मिली शिक्षाप्रणाली के ढांचे की खामियों को दूर करना और भारतीय राजनीतिक प्रणाली के सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण के लिए इसमें परिवर्तन करना, स्वतंत्रता मिलने के बाद भारत के सामने पहली जिम्मेदारी थी ताकि हमारा देश औपनिवेशिक अल्पविकास की अवस्था से निकलकर विकास के आत्मनिर्भर रास्ते पर चल सके। इस अवधारणा के तहत शिक्षा को विकास प्रक्रिया से संबद्ध और उसका महत्त्वपूर्ण अवयव माना गया। स्वतंत्र भारत को नीचे दिए गए कार्यभारों की स्पष्ट रूपरेखा बनाने में काफी समय लग गया :

- पहला, विरासत में प्राप्त संकुचित शैक्षिक आधार को परिमाण के स्तर पर इस प्रकार फैलाया जाए कि गुणवत्ता और परिमाण दोनों का समन्वित विकास किया जा सके;

भारतीय शिक्षा का ऐतिहासिक परिदृश्य 5

- दूसरा, शिक्षा और श्रमबाजार के संबंधों को सुदृढ़ किया जाए और काम और ज्ञान की खाई को पाटा जा सके;
- तीसरा, शिक्षा के क्षेत्र में एक स्तर से दूसरे स्तर तक ले जाने के लिए एक कुशल व्यवस्था बनाई जाए जिससे प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण हो, माध्यमिक स्तर पर दी जानेवाली शिक्षा को रोजगारपरक बनाया जाए और आत्मनिर्भर विकास से संबंधित विशेष प्रशिक्षण तथा बुद्धि के क्षेत्र में आयात को विस्थापित करने के लिए शिक्षा को बहुमुखी बनाया जाए;
- शिक्षा के प्रसार में विद्यमान विसंगतियों को कम किया जाए ताकि देश के सभी भागों को इसका फायदा मिल सके;
- संरक्षणात्मक भेदभाव (प्रोटेक्टिव डिस्क्रिमिनेशन) और उचित प्रोत्साहन के कार्यक्रमों के जरिए शिक्षाप्रणाली के सामाजिक-आर्थिक आधार को व्यापक बनाया जाए ताकि जनता के अनुसूचित और गैर-अनुसूचित, ग्रामीण और नगरीय तथा स्त्री-पुरुष के बीच के अंतर को अंततः समाप्त किया जा सके;
- छठा, मूलतः शिक्षक और शिक्षणोन्मुखी तालीम को ज्ञानोन्मुखी तालीम में रूपांतरित किया जाए और ज्ञानार्थी की सृजन शक्ति पर जोर दिया जाए, दिए गए सत्य को हृदयंगम करने पर विशेष बल न दिया जाए; और
- सातवां, अर्थसंगत तरीके से शिक्षा का इस प्रकार विकास किया जाए कि वह राष्ट्रीय एकता, मानवतावाद और प्रकृति प्रेम को बढ़ावा देने में योगदान कर सके।

आइए ऊपर बताई गई मंजिलों तक पहुंचने में मिली कामयाबी का समीक्षात्मक आकलन करें तथा इन कार्यभारों के प्रति राष्ट्र ने जो प्रयास किए उसकी अपर्याप्तता का आलोचनात्मक विवेचन करें।

स्वाधीनता मिलने के बाद प्राचीन परंपराओंवाला परंतु नवजीवन के उल्लास से ओतप्रोत, यह देश भवितव्यता से जूझने के लिए आगे बढ़ा और अब खुद को आधुनिक बनाने तथा संभवतः दुनिया की सबसे बड़ी और जटिल शिक्षाप्रणाली तैयार करने में जुटा है। दुनिया में प्राथमिक स्तर पर नामांकित हर छः छात्रों में एक, माध्यमिक स्तर पर हर सात में एक और स्नातक स्तर पर हर आठ में एक छात्र भारतीय है। प्राथमिक स्तर पर नामांकित छात्रों की संख्या स्पेन की कुल जनसंख्या के दोगुने से अधिक और कनाडा की जनसंख्या की लगभग तीन गुनी है। माध्यमिक स्तर पर नामांकित छात्रों की संख्या आस्ट्रेलिया की जनसंख्या की लगभग दोगुनी है। उच्चतर स्तर पर नामांकित छात्रों की संख्या डेनमार्क की जनसंख्या के लगभग बराबर है। यह संख्या सोवियत संघ में शिक्षकों की संख्या की 3.5 गुनी और फ्रांस की तुलना में नौ गुनी है। भारत में पांच लाख से अधिक प्राथमिक विद्यालय हैं, अर्थात् ग्रेट ब्रिटेन की तुलना में पंद्रह गुने से अधिक। भारत में कालेजों की संख्या मलेशिया के स्कूलों की संख्या के बराबर है और नाउरु की जनसंख्या के लगभग बराबर है। यह विशालकाय प्रणाली अत्यंत

जटिल है और इसका दायरा एक अध्यापक वाले स्कूलों से लेकर तीस लाख छात्रों वाले विश्वविद्यालयों तक तथा ऊंटों की पीठ पर घूमनेवाली जातियों के साथ चलने वाले स्कूलों से लेकर अंतरिक्ष में उपग्रह भेजनेवाली वैज्ञानिक शिक्षा और शोध संस्थानों तक फैला हुआ है।

शिक्षा और काम के बीच कमजोर तथा दुष्क्रियात्मक संबंध और श्रम बाजार के बीच तालमेल का अभाव मौजूदा स्थिति की सबसे बड़ी कमजोरी है। काम के अनुभव के महत्त्व की तरफ, स्कूल की दुनिया से निकलकर काम की दुनिया में प्रवेश करने की तरफ और शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में उद्योग में व्यावहारिक प्रशिक्षण के साथ देश के लिए जरूरी मानवशक्ति के विकास की तरफ कोठारी आयोग ने विशेष रूप से ध्यान दिया था।

सामाजिक रूप से उपयोगी और उत्पादक कार्य (एस.यू.पी.डब्ल्यू.) का तीसरे आयाम के रूप में प्रारंभ और शिक्षा के प्रति एक गुणात्मक रूप से नया दृष्टिकोण ऐसी चीजें थीं जिनको पाटिल समिति के शब्दों में “विद्यालय पाठ्यचर्या में केंद्रीय महत्त्व दिए जाने” की आशा की जाती थी। इस नवीकरण से संबंधित महती आशाओं के बावजूद वे इसके परिणाम के आलोचक हैं जो लोग ठोस वास्तविकताओं से अवगत हैं। देखा गया है कि प्रायः एस.यू.पी.डब्ल्यू. को एक औपचारिकता बनाकर रख दिया गया है और अकसर इसका संचालन ऐसे अध्यापकों का समूह करता है जो काम के प्रति अपने दुराग्रहों को छात्रों के मन में भी भर देता है। कुछ आलोचकों ने, संभवतः कुछ कठोर शब्दों में कहा है कि एस.यू.पी.डब्ल्यू. का व्यवहार में अर्थ है, ‘कुछ उपयोगी घंटों की बरबादी’। माध्यमिक शिक्षा को रोजगारपरक बनाने में भी कोई खास सफलता नहीं मिली है। कहा गया है कि देश में जितना शिक्षा को रोजगारपरक बनाया गया है उससे कई गुना ज्यादा उसका प्रचार किया गया है। स्थिति का सबसे दुखद पहलू यह है कि हालांकि केंद्र सरकार ने रोजगार परक बनाना प्रारंभ किया है और वह उसका प्रमुख समर्थक रही है, फिर भी केंद्रीय विद्यालयों में या केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा संचालित स्कूलों में इसे स्थान नहीं मिल सका है। उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्रों में कुल 1.2% ने ही रोजगारपरक विषय चुने हैं।

स्नातक स्तर (जिसे तृतीयक स्तर भी कहा जाता है) पर स्थिति और भी दुखद है। इस स्तर पर कला संकायों में नामांकन कुल नामांकन का काफी बड़ा भाग रहा है। 1980-81 में यह संख्या 40% थी। देश में आर्थिक दृष्टि से कुछ कम विकसित भागों में यह प्रतिशत खास तौर पर अधिक रहा है। जैसे—अरुणांचल में 86%, जम्मू व कश्मीर की बाहरी पहाड़ियों में 70%, मेघालय में 69% और नागालैंड में 68% संकायों में उत्पादन क्षेत्र से संबंधित नामांकन बहुत ही निराशाजनक हैं। छठे दशक के आरंभ में इंजीनियरिंग और प्रौद्योगिकी विषयों में नामांकन कुल 6.5% था, मगर इस दशक के बाद के वर्षों में बढ़ा। सातवें दशक में यह 7.5% के आसपास रहा और 1963-64 में अधिकतम (8%) रहा। उस दशक के बाद के वर्षों में इसकी प्रगति

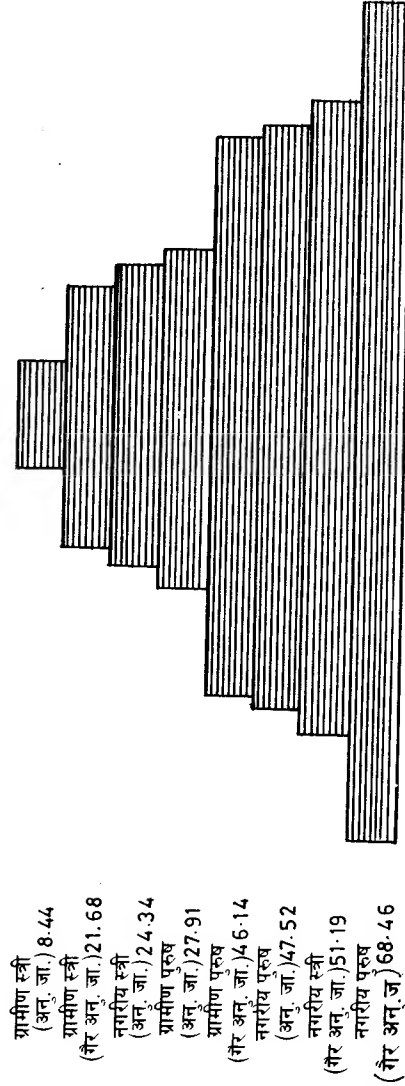
धीमी हुई और आठवें दशक के उत्तरार्ध तक यह स्थिति बनी रही; 1974-75 में यह न्यूनतम 13.8% रही। तब से यह धीमी गति से बढ़ रही है और उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार अब 4.5% के आस-पास बनी हुई है। आशा की जाती है कि देश में प्रौद्योगिकी के विकास के साथ इंजीनियरिंग और प्रौद्योगिकी विषयों में नामांकन भी बढ़ेगा और इस नामांकन दर में उतार-चढ़ाव को औद्योगिक विकास की सीमाओं के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है।

परिणाम की दृष्टि से शिक्षा में प्रसार और विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच की खाई को पाटने में प्रगति तो हुई है, इसके बावजूद देश की शिक्षा प्रणाली के अंदर असमानताएं अभी भी बहुत अधिक हैं। जहां केरल के कोटायम जिले में गैर-अनुसूचित नगरीय पुरुष जनसंख्या में साक्षरता की दर लगभग 90% है, राजस्थान के बाड़मेर जिले में अनुसूचित जातियों की ग्रामीण महिलाओं में यही दर 1% से भी कम है। पिछड़े क्षेत्रों के ग्रामीण इलाकों की अनुसूचित जाति की महिलाओं के कारण असमानताएं और भी पुष्ट होती हैं और भारतीय शिक्षा प्रणाली को एक बीमार पीलियाग्रस्त व्यवस्था बनाती हैं। साथ में दिया गया चित्र जिसमें जनसंख्या के विभिन्न भागों के बीच साक्षरता की दर को दर्शाया गया है, असमानता की इस बहुस्तरीय व्यवस्था के स्वरूप को सामने लाता है।

उच्च शिक्षा क्षेत्र की असमानताएं कुछ कम तीखी नहीं हैं। देश की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जातियों का भाग 15% है परंतु उच्च शिक्षा में उनके नामांकन का हिस्सा आधा ही है। फिर भी यह बात उत्साहजनक है कि उच्च शिक्षा में उनका नामांकन गैरअनुसूचित जनसंख्या की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ा है। इसके परिणामस्वरूप सामान्य शिक्षा में उनका नामांकन 1964-65 के 5.5% से बढ़कर 1977-78 में 7.7% हो गया, और व्यावसायिक शिक्षा में उनका नामांकन इसी काल में 4.3% से बढ़कर 6.8% हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि खाई कम हुई है, मगर वह अभी भी बहुत बड़ी है। जहां तक अनुसूचित जनजातियों में उच्च शिक्षा के प्रसार का प्रश्न है, 1977-78 में यह नामांकन मात्र 1.6% था। स्नातकोत्तर और शोध स्तर पर उनके नामांकन की स्थिति और भी निराशाजनक है। स्नातकोत्तर व्यावसायिक विषयों के संबंध में अनुसूचित जनजातियों का नामांकन, उदाहरण के लिए, मात्र 0.3% है।

जहां तक पुरुष-स्त्री के बीच की असमानता का संबंध है, यह बात ध्यान देने योग्य है कि उच्च शिक्षा में स्त्रियों का नामांकन बहुत बढ़ा है। कुल नामांकन में स्त्रियों का भाग 1966-67 में 21.5% से बढ़कर 1981-82 में 27.7% हुआ है। इस महत्वपूर्ण वृद्धि के बावजूद उच्च शिक्षा में पुरुषों और स्त्रियों का अनुपात 3 : 1 है जो बहुत भयानक अंतर कहा जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं का शिक्षा से वंचित रहना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि वंचित होने के उनके अन्य सभी लक्षणों को यह खाई रेखांकित करती है। निःसंदेह अनुसूचित जातियां इस हानि का शिकार हैं परंतु उनमें भी ग्रामीण औरतें पुरुषों से अधिक वंचित हैं। इसलिए भारतीय समाज के संदर्भ

साक्षरता में असमानताओं के सोपान भारत (1981)



चित्र-1

में स्त्री शिक्षा को आंदोलन का रूप देने का अर्थ केवल स्त्री शिक्षा के आंदोलन से कहीं बहुत बड़ी वस्तु है। यह आंदोलन असमानताओं की उस परजीवी व्यवस्था की जड़ों पर ही चोट करता है जो भारतीय राजनीतिक तंत्र को जकड़े हुए है लगातार उसका रक्त चूसती रहती है और उसे बीमार और कमजोर बनाती है। स्त्री शिक्षा न केवल स्त्रियों बल्कि पूरे भारतीय समाज की मुक्ति का जरूरी साधन है।

संकीर्णतावादी दबावों के कारण भारतीय शिक्षाप्रणाली में राष्ट्रीय तत्त्व बहुत ही कमजोर हुआ है। यह विखंडित प्रणाली श्रमिक शक्ति की अंतर्क्षेत्रीय गतिशीलता के लिए बहुत बड़ी बाधा बन गई है। 10 + 2 + 3 की शिक्षा प्रणाली राष्ट्रीय सहमति के आधार पर आरंभ की गई थी। इसलिए यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि सभी राज्यों में यह प्रणाली अभी तक लागू नहीं की जा सकी है। स्कूल प्रणाली में केंद्रीय पाठ्यचर्या का समावेश अभी तक सपना बना हुआ है। आज भी क्षेत्रवाद, संप्रदायवाद और जातिवाद खुले और छिपे तौर पर स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों में परिलक्षित होते हैं। इतिहास और भूगोल के पाठ्यक्रमों के बारे में यह बात खासकर सही है। इतिहास की कक्षाओं में 'हिंदू' काल और 'मुस्लिम' काल के भूत मंडराते रहते हैं। श्रेष्ठतावादी और संकीर्णतावादी वक्तव्य और विचार नवयुवकों के मन को पूर्वाग्रहों से दूषित करते हैं और आगे चलकर राजनीतितंत्र में इन्हीं से परस्पर विरोधी दबाव पैदा होते हैं। भूगोल की पाठ्यपुस्तकें पर्यावरणीय नियतिवादी व्याख्याओं से भरी हुई हैं। राष्ट्रीय संसाधनों को क्षेत्रीय संसाधन बतलाया जाता है और नवयुवकों में ऐसा दृष्टिकोण पैदा किया जाता है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अंदर श्रम के क्षेत्रीय विभाजन के परिप्रेक्ष्य में संसाधनों के विकास को न देखकर अलग-अलग बंद प्रणालियों के अंदर संसाधनों के उपयोग के रूप में उसे वे देखें। हिमालय का बर्फ पिघलने से बनी उत्तरी-पश्चिमी नदियों को इस राज्य या उस क्षेत्र की संपत्ति और बंबई हाई के कुओं से निकले तेल को इस या उस राज्य की संपत्ति बतलाकर क्षेत्रीय और साथ ही राष्ट्रीय विकास दोनों को खतरे में डाला जा रहा है।

शिक्षा की इस विशालकाय प्रणाली का आधार आज भी मूलतः शिक्षक और शिक्षण है। ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को अभी तक अधिगम के रूप में केंद्रीय महत्त्व नहीं मिल सका है। युवकों की रचनात्मकता को, जो इतिहास की मूल शक्ति है, अभीष्ट महत्त्व नहीं दिया गया है। सत्र के अंत में होनेवाली बाहरी परीक्षा प्रणाली अभी तक शिक्षाव्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व बनी हुई है, और यह ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को बाधित करती है तथा अध्यापन कार्य के बहुत बड़े भाग को मूलतः दुष्क्रियात्मक (डिस्फंक्शनल) बनाती है। 'पाठ्यक्रम पूरा करना', नोट लिखवाना तथा प्रश्नोत्तर लिखना ही सुकराती परंपरा का विकल्प बन रहा है। संकेतों की तलाश, 'संभावित' प्रश्नों के उत्तर रटना और परीक्षा में अनुचित उपायों का सहारा लेना ज्ञानार्जन का विकल्प बन गया है। स्कूल में अनेक स्तरों पर परीक्षाप्रणाली के उन्मूलन का अर्थ शिक्षार्थी और शिक्षा दोनों को नष्ट करना रहा है। दुर्भाग्य से विश्वविद्यालय स्तर पर शैक्षिक सुधार

लागू करने के प्रयासों को बुरी तरह असफलता मिली है। बाहरी और मूलतः दुष्क्रियात्मक परीक्षाप्रणाली अभी तक हमारे अधिकांश शैक्षिक प्रयासों का आदि और अंत बनी हुई है।

समकालीन भारत में शिक्षा प्रणाली की, खासकर उच्च शिक्षा प्रणाली की, सबसे दुखद विशेषता शिक्षा और रोजगार के बीच की विसंगति है। जो कुछ आज हम देख रहे हैं, वह यह है कि एक तरफ रोजगार के अवसर एकरस गति से बढ़ रहे हैं और दूसरी तरफ लगातार शिक्षा के प्रसार के साथ बेरोजगार शिक्षितों की कतार बढ़ रही है। शिक्षितों की बढ़ती बेकारी और उच्च शिक्षा की मांग के बीच किसी सकारात्मक संबंध की नहीं तो कम-से-कम एक सकारात्मक सहसंबंध की परिकल्पना तो की जा सकती है। इस तरह के सकारात्मक सहसंबंध की परिकल्पनाओं के लिए चाहे जो भी परस्पर विरोधी व्याख्याएं पेश की जाएं लेकिन इस तथ्य को दरकिनार नहीं किया जा सकता है कि परिमाणात्मक प्रसार की जो प्रवृत्ति सामने आई है उसके कारण श्रमिक शक्ति संबंधी असंतुलन और तरह-तरह की असंगतियां पैदा हुई हैं। यह बात बड़े पैमाने पर स्वीकृत की जा चुकी है कि भारत में शिक्षितों की बेरोजगारी समय के साथ बढ़ती ही गई है। 1955 और 1978 के बीच इसमें 28 गुनी वृद्धि हुई है। जबकि इसी काल में नामांकन में केवल 9 गुनी वृद्धि हुई है। दूसरे शब्दों में, बेरोजगारी में वृद्धि की दर नामांकन में वृद्धि की दर की लगभग तीन गुनी रही है। यह बात सामान्यतः स्वीकार की गई है कि बेरोजगारी शिक्षा के स्तर के विलोमानुपात में बढ़ती-घटती है। भारत में शिक्षा के अलग-अलग स्तरों पर बेरोजगारी की दर का वक्र अंग्रेजी के अक्षर यू (U) की शक्ति का है। अगर हम स्नातक बेरोजगारों की स्थिति पर गंभीरता से विचार करें तो पाते हैं कि कला विषयों, और उनसे कम मात्रा में विज्ञान और वाणिज्य जैसे विषयों ने सातवें दशक में शिक्षित बेरोजगारी के परिमाण को सबसे अधिक बढ़ाया है। और यह प्रवृत्ति अभी भी जारी है। 1968-69 में स्नातक बेरोजगारों में इन तीन संकायों के स्नातकों का भाग 92% था। यद्यपि 1977-78 में यह भाग घटकर 85% रह गया, फिर भी उनका योगदान आज भी प्रमुख है। शायद यह प्रसन्नता की बात नहीं है कि उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे छात्रों में इन संकायों के छात्रों का भाग लगभग 85 प्रतिशत है। स्वतंत्रता के बाद में शिक्षा के क्षेत्र में हुए विकासों का जो संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया गया है, उससे प्रगति की रूपरेखा का और साथ ही इस शिक्षाप्रणाली की चली आ रही कमजोरियों का पता चलता है। स्वाधीनता मिलने के बाद के घटनाक्रमों के संदर्भ में यह बेहतर होगा कि हम इक्कीसवीं सदी के दरवाजे पर खड़ी शिक्षाप्रणाली के लिए कुछ कार्यभारों की शिनाख्त कर लें।

यहां से किस दिशा में बढ़ें ?

इस दशक में जन्म लेनेवाला बच्चा इक्कीसवीं सदी में विश्वविद्यालय का छात्र होगा। इसलिए अगर भविष्योन्मुखी शिक्षा नहीं है तो उसे शिक्षा नहीं कहा जा सकता। हमारे

समय के लिए जबकि वर्तमान तेजी से भूत में बदलता जा रहा है, यह बात खास तौर पर सच है। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने देश की शिक्षाप्रणाली, उसके गुणों और अवगुणों का मूल्यांकन इस दृष्टि से करें कि आनेवाले कल के संभवतः कम खंडित संसार में, एक आत्मसम्मानपूर्ण और आत्मनिर्भर देश के नागरिकों के रूप में, हमें अगली सदी में संक्रमण के लिए ज्ञान और कौशल का आधार दे सकने में वह प्रणाली सक्षम है या नहीं। देश में यह आम धारणा है कि अनेक सफलताओं के बावजूद भारतीय शिक्षाप्रणाली औपनिवेशिक विरासत का शिकंजा तोड़ने में नाकाम रही है, और सामाजिक-आर्थिक विकास की गति को तेज करने तथा जनता का जीवनस्तर सुधारने की दृष्टि से हस्तक्षेप का मानदंड ऊपर उठाने की जिम्मेदारी निभाने में भी वह नाकाम रही है। दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्यों और राष्ट्रीय लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए आवश्यक है कि शैक्षिक प्रयास को नई दिशा देने तथा उसे सामाजिक रूपांतरण का एक और प्रभावशाली साधन बनाने के लिए कुछ तात्कालिक उपाय किए जाएं। हमने पहले देखा है कि भारतीय शिक्षाप्रणाली के राष्ट्रीय तत्त्व जो पहले ही कमजोर थे, परवर्तीकाल में और भी कमजोर हुए हैं। इस विखंडित प्रणाली को तात्कालिक रूप से सुगठित करने तथा राष्ट्रीय विकास और एकीकरण का एक प्रभावशाली साधन बनाए जाने की आवश्यकता है।

10+2+3 की प्रणाली राष्ट्रीय सहमति के आधार पर ही आरंभ की गई थी, उसे तो सभी राज्यों द्वारा लागू किया जाना चाहिए। इस संरचनागत सीमा को तत्काल समाप्त करना आवश्यक है, और देश के सभी भागों के विशेषज्ञों की भागीदारी से एन. सी. ई. आर. टी. ने माध्यमिक स्कूलों के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का जो ढांचा तैयार किया है, उसे पूरे देश में अपनाया जाना चाहिए। इस पाठ्यचर्या का एक बड़ा भाग साझा होना चाहिए परंतु उसमें स्थानीय इतिहास व भूगोल के तथा स्थानीय पर्यावरण से लिए गए उदाहरणों व दृष्टान्तों के समावेश की पर्याप्त गुंजाइश होनी चाहिए।

राष्ट्रीय स्तर पर एक ऐसे व्यापक और अत्यंत संवेदनशील परिवीक्षण प्रणाली की आवश्यकता है जो संकीर्णतावादी और सांप्रदायिक विकृतियों का, खासकर इतिहास-भूगोल के अध्यापन के क्षेत्र में, लगातार पता लगाती रहे ताकि उनको दूर किया जा सके और यह सुनिश्चित किया जा सके कि भारत ने स्वाधीनता संग्राम के दौरान उत्पन्न और राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत मूल्यों को खासकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवतावाद, देशभक्ति, धर्मनिरपेक्षता, जनवाद और समाजवाद जैसे मूल्यों को छात्र वर्ग स्वीकार करे। छात्रों के प्रवेश और विशेषकर अध्यापकों की नियुक्तियों में क्षेत्रीयतावाद तथा सांप्रदायिक विचारों पर सख्ती से रोक लगाई जानी चाहिए।

शिक्षा में राष्ट्रीय प्रतिमानों के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक है कि नियुक्तिपूर्व स्कूल शिक्षकों के प्रशिक्षण की जिम्मेदारी एक राष्ट्रीय स्वायत्त संगठन को दी जाए। प्रशिक्षण की आवश्यकताओं के विषय-भाग को और भी मजबूत बनाया जाना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, भौतिकी के शिक्षक को, एक अच्छा भौतिकीविद

होना चाहिए जो अपने विषय की नवीनतम प्रवृत्तियों से परिचित हो। एक तरफ किसी विषय के फैलते ज्ञान भंडार और दूसरी तरफ शिक्षक-शिक्षण कार्यक्रमों के जड़मान पुराने पड़ चुके ज्ञानाधार के बीच की खाई चिंताजनक है। इस खाई को तेजी से पाटना जरूरी है। इसके अतिरिक्त, स्वीकृत राष्ट्रीय मूल्यों का अंतर्निवेश शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम का अभिन्न अंग होना चाहिए।

उच्चतर शिक्षा का स्तर बनाए रखने और सुधारने तथा राष्ट्रीय रोजगार बाजार के लिए उच्चकोटि के विशेषज्ञ तैयार करने के लिए सभी रोजगारपरक पाठ्यचर्याओं तथा शोध कार्यक्रमों में प्रवेश का नियमन राष्ट्रीय प्रवेश परीक्षाओं के द्वारा किया जाना चाहिए। आवश्यकता इसकी भी है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से उच्च ज्ञान अर्जित करने की ऐसी संस्थाओं का राष्ट्रव्यापी जाल तैयार किया जाए जिनके पास गतिशील और नवीकरणोन्मुखी पाठ्यक्रम हों और जो अपने लिए राष्ट्रीय प्रवेश प्रणाली के जरिए स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्र लेने के लिए तैयार हों।

राष्ट्रीय शिक्षाप्रणाली को एक सूत्र में बांधनेवाले तत्त्व के रूप में एक खुले राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की जा चुकी है। प्रथम, इसका भौगोलिक क्षेत्र भारतीय सीमा के समवर्ती होगा। दूसरे, इसके कार्यक्रम देश की विविधता में एकता को प्रतिबिंबित करेंगे क्योंकि उनका सारतत्त्व एकसमान होगा मगर उसमें क्षेत्रीय विभिन्नताओं का समावेश होगा। तीसरे, उसके पाठ्यचर्या-कार्यक्रमों में सैद्धांतिक दृढ़ता तथा व्यावसायिक झुकाव का सुंदर समन्वय होगा और वे ज्ञान पर आधारित कौशल के विकास के तथा खासकर जनसंख्या के वंचित भागों के लिए रोजगार बाजार में ऊपर की ओर बढ़ने के प्रभावशाली साधन होंगे। चौथे, इसकी पाठ्यचर्या दो या तीन वर्षोंवाली पाठ्य-योजनाओं के सख्त कालगत ढांचे में न बंधी होकर संक्षिप्त, मध्यम और दीर्घ-अवधि की पाठ्य-योजनाओं के लचीले ढांचेवाली होगी, और यह ज्ञान पर आधारित विभिन्न कौशलों के विकास की विशिष्टताओं पर निर्भर होगा। पांचवें, औपचारिक विश्वविद्यालय प्रणाली और इसके कार्यक्रमों से, खासकर पढ़ने की सामग्री से इसका घनिष्ठ संबंध होगा। समूची उच्च शिक्षा की पाठ्यचर्याओं पर ब्रिटेन की तरह उसका गहरा प्रभाव पड़ेगा। छठा, ज्ञानार्थियों की एक विशाल संख्या तक अपने कार्यक्रमों को पहुंचाने के लिए आधुनिकतम संचार प्रौद्योगिकी का इसके द्वारा उपयोग किया जायगा। इस तरह देखा जाए तो राष्ट्रीय खुला विश्वविद्यालय भारत की शिक्षा-प्रणाली में राष्ट्रीय एकीकरण का सबसे शक्तिशाली माध्यम बन सकता है। अपने जीवन के अंतिम दिनों में स्वयं श्रीमती इंदिरा गांधी ने इस प्रस्ताव को अंतिम रूपरेखा दी थी। उनकी चिंतन-दृष्टि का, उनकी संवेदनशीलता, नवीकरण के प्रति उनकी रुचि और अभावग्रस्त लोगों के लिए उनकी प्रतिबद्धता का इससे अच्छा स्मारक कोई नहीं हो सकता कि राष्ट्रीय खुला विश्वविद्यालय नाम उनके नाम से खोला गया है।

भारतीय शिक्षा प्रणाली के स्तर पर विविधता में एकता लाने के लिए बयालीसवें संविधान संशोधन के अंतर्गत समुचित कानून बनाए जाने चाहिए। समवर्तिता पूरे देश

के एकसमान शैक्षिक विकास के लिए संघ और राज्य सरकारों के बीच सही अर्थों में सहभागिता बन जाती है। विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एकीकरण तथा विभेदीकरण द्वैतात्मक रूप से जुड़े व एक-दूसरे पर निर्भर हैं। एक कोशीय अमीबा न एकीकृत होता है और न विभेदीकृत, जबकि जटिल मानव संरचना दोनों होती है। एकीकरण को समांगीकरण से भिन्न समझा जाना चाहिए। किसी प्रणाली में एकता के लिए बहुलता आवश्यक है, और एकता बहुलता में ही होती न कि उसे नकारकर। जबकि अस्मिताओं के टूटने और समन्वित वस्तुओं में उनके दल जाने का नाम समांगीकरण है, एकीकरण अंतर्निर्भरताओं के एक बहुस्तरीय और श्रेणीबद्ध व्यवस्था के द्वारा संभव होता है। वास्तव में समांगीकरण एकीकरण का विरोधी है। जिस तरह कुछ अधिक मात्रा में मनुष्य होने के लिए कुछ कम मात्रा में भारतीय होने की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह अधिक भारतीय होने के लिए कुछ कम तमिल होना भी आवश्यक नहीं है। न तो एकीकरण का अर्थ विगलन है और न विभेदीकरण का अर्थ विखंडन। विभेदीकरण को विच्छेदन और अलगाव से भिन्न समझा जाना चाहिए। किसी व्यवस्था में बहुलता एकता को नकारती नहीं है बल्कि उसी में निहित और उसी पर निर्भर होती है। जबकि विभेदीकरण का अर्थ है विशिष्टीकरण की प्रक्रिया का आगे बढ़ना। विखंडन परिभाषा द्वारा ही अंतर्निर्भरताओं के संबंधों को मजबूत बनाता है, इसके विपरीत विच्छेदन की प्रक्रिया इन संबंधों के टूटने का नाम है। ऊपर की बातों से जाहिर होता है कि विकास की प्रक्रियाएं न तो एकीकरण से रहित विभेदीकरण पर आधारित हैं और न ही विभेदीकरण से शून्य एकीकरण पर। विभेदीकृत तत्त्वों के एकीकरण और साथ ही एकीकृत तत्त्वों के विभेदीकरण के रूप में ही विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। यही सिद्धांत शिक्षा के क्षेत्र में समवर्तिता का आधार मुहैया कराता है।

भारतीय शिक्षा प्रणाली में सक्षमता का स्तर बहुत ही कम है और इसे प्राप्त दुर्लभ संसाधन भी प्रशासन और प्रबंध की गंभीर कमियों के कारण नष्ट हो जाते हैं।

अनेक शिक्षा संस्थाओं में वर्ष में वास्तविक शिक्षण कार्य दिवसों की संख्या बहुत ही कम है। दीर्घावकाशों और सरकारी अवकाशों (साथ ही, पवित्र दिनों) के अलावा भी प्रायः शिक्षण कार्य किसी न किसी कारण से स्थगित हो जाता है। जैसे, किसी मैच में विजय, किसी बड़े व्यक्ति का निधन, सांस्कृतिक सप्ताह आदि अवसरों पर अवकाश घोषित हो जाता है। दुष्क्रियात्मक परीक्षाओं और लंबी प्रवेश प्रक्रियाओं में ही साल का एक बड़ा भाग नष्ट हो जाता है। देश के कुछ भागों में हम तेजी से एक 'वर्ग विहीन' (बिना कक्षावाले) समाज की ओर बढ़ रहे हैं। इस दुखद स्थिति को सुधारने के लिए तत्काल उपाय की आवश्यकता है। इस संबंध में कुछ सुझाव इस प्रकार हैं :

स्कूल स्तर पर कम से कम 230 दिन और विश्वविद्यालय स्तर पर 180 दिन तक कक्षाएं लगाए बिना किसी भी संस्था को छात्रों की अगले वर्ग में तरक्की की प्रक्रिया को संचालित करने की छूट न दी जाए।

प्रवेश प्रक्रियाओं, परीक्षाओं (और उनके लिए तैयारी की छुट्टियों) का संचालन

दीर्घावकाशों के दौरान होना चाहिए। अध्यापन कार्य सत्र के पहले दिन से ही आरंभ होना और अंतिम दिन तक चलना चाहिए।

कक्षाओं के संचालन के परीक्षण के लिए त्रुटिहीन व्यवस्था होनी चाहिए, और इस संबंध में किसी स्कूल कालेज के कार्य-निष्पादन को ही उसे अनुदान दिए जाने का महत्वपूर्ण आधार माना जाना चाहिए। इस संबंध में किसी अध्यापक के कार्य-निष्पादन को उसकी उन्नति में समुचित महत्त्व दिया जाना चाहिए।

किसी शिक्षा संस्था को दी जानेवाली सुविधाओं की एक न्यूनतम सीमा होती है। दुर्भाग्य से 'प्रसार' के नाम पर देश में बड़ी संख्या में 'अक्षम' संस्थाएं उग आई हैं जिनकी कम कुशलता का कारण उन्हें मिलनेवाली सुविधाओं का आवश्यकता से कम होना है। एक अध्यापकवाले भवनहीन प्राथमिक विद्यालय इसी स्थिति के उदाहरण हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सभी मौजूदा संस्थाओं का स्तर प्राथमिकता के आधार पर न्यूनतम सीमा तक बढ़ाया जाए ताकि वे सक्षम बन सकें और उनमें जो भी संसाधन पहले लगाए जा चुके हैं, वे उत्पादक हो सकें।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रयासों की पुनरावृत्ति बहुत है और असमन्वित गतिविधियां भी बहुत हैं। उदाहरण के लिए, अनौपचारिक और औपचारिक उपप्रणालियां बहुत कमजोर क्षैतिज संबंधोंवाली अर्धबंद ऊर्ध्व संरचनाएं बन गई हैं। उनको काफी मजबूत करने की जरूरत है।

शिक्षा क्षेत्र के ऊर्ध्व संबंध भी बहुत ही कमजोर हैं। विश्वविद्यालयों के विभाग कालेजों के प्रति उदासीन हैं और कालेज स्कूलों से एक श्रेष्ठतावादी तटस्थता बनाए हुए हैं। आवश्यक यह है कि यह बहुस्तरीय श्रेणीबद्ध व्यवस्था एक ऐसी प्रणाली में बदली जाए जिसमें पाठ्यक्रमों और अध्यापन विधियों के आधुनिकीकरण का लाभ ऊंचे स्तर की संस्थाओं से निचले स्तरवाली संस्थाओं तक पहुंच सके। इस प्रतिकृति (माडल) में राष्ट्रीय दिक् की कल्पना एक ऐसी प्रणाली के रूप में की गई है जिसमें क्षैतिज संबंधोंवाली शिक्षा संस्थाओं की एक बड़ी संख्या है और उनके शीर्ष पर विश्वविद्यालय है। यह प्रणाली इस तरह से काम करती है कि उच्चस्तरीय शिक्षा संस्थाएं अपने प्रभाव क्षेत्र के निम्नस्तरीय संस्थाओं की प्रगति का परीक्षण करती हैं, उन्हें तकनीकी और बुनियादी ढांचे से संबंधित सहायता देती हैं और उनके संकाय के आधार को आधुनिकतम बनाने के प्रबंध करती हैं।

विकास प्रक्रिया में जिन अन्य क्षेत्रों के संपर्क में शिक्षा का क्षेत्र आता है, उन क्षेत्रों के साथ उसके समन्वय की कमी है। लगभग सभी विभागों के अपने-अपने शैक्षिक या अर्धशैक्षिक कार्यक्रम हैं। निवेश और उत्पादन के अनुपातों को आदर्श मान बनाने के लिए इन सभी कार्यक्रमों को शिक्षा विभाग की गतिविधियों से समन्वित किए जाने की आवश्यकता है। यह बात माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के व्यवसायीकरण के लिए और भी महत्वपूर्ण है।

शिक्षा का व्यय कुल प्रशासनिक व्यय का बहुत छोटा-सा भाग, मात्र 1.9% है।

इसे 5% तक बढ़ाया जाना आवश्यक है। राष्ट्रीय शैक्षिक योजना और प्रशासन संस्थान को और भी मजबूत बनाया जाना चाहिए ताकि वह शिक्षा के क्षेत्र में प्रबंध कुशलताओं को सुधारने के लिए प्रशिक्षण और शोध के क्षेत्र में अपने अतिरिक्त उत्तरदायित्व को पूरा कर सके।

स्वतंत्रता के बाद शैक्षिक प्रबंध, खासकर उच्च शिक्षा के प्रबंध में जो मूलभूत अंतर्विरोध बहुत तीखेपन के साथ उभरा है, वह स्वायत्तता (आटोनोमी) और जवाबदेही (एकाटेबिलिटी) का अंतर्विरोध है। इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि इनमें से अपने आप में किसी की तलाश करने या उससे लगाव रखने से एक तरफ कार्य की नैतिकता काफी प्रभावित हुई है और दूसरी तरफ विश्वविद्यालयों को सरकारी विभागों में बदलकर रख देनेवाले क्रूर कानून बने हैं। इस बात को प्रायः अनदेखा किया गया है कि स्वायत्तताओं की व्यवस्था जवाबदेहियों की एक संगत व्यवस्था से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। संकाय का सदस्य विभाग से स्वायत्त और उसके प्रति जवाबदेह है; संकाय विश्वविद्यालय से स्वायत्त और उसके प्रति जवाबदेह है; विश्वविद्यालय समुदाय और उसके सरकार से स्वायत्त और उसके प्रति जवाबदेह है। वास्तव में स्वायत्तता और जवाबदेही स्वचालन और स्वसुधार की जनतांत्रिक कार्यप्रणाली के एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जवाबदेही के बिना कोई स्वायत्तता और स्वायत्तता के बिना कोई जवाबदेही नहीं हो सकती।

प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनिकीकरण को राष्ट्रीय विकास की एक अहम आवश्यकता माना जा सकता है। इसलिए यह गंभीर चिंता का विषय है कि स्वाधीनता के समय किए गए वादों को हमें अगर पूरा करना है तो हमें अभी एक लंबा रास्ता तय करना होगा। यह काम इतना जटिल और विशालकाय है कि अकेले सरकार इसे नहीं कर सकती। इसके लिए प्रभावशाली कार्यकारी रणनीति पर आधारित देशव्यापी जनांदोलन की आवश्यकता है।

निम्नतम स्तरों पर विद्यमान सत्ता के जनवादी केंद्रों (जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम पंचायतों) को गांव की प्राथमिक पाठशालाओं के प्रबंध में भागीदार बनाया जाना चाहिए। वे इस कार्य के लिए अपने बजट का एक हिस्सा दे सकती हैं। यह भारतीय परंपरा के अनुकूल भी होगा क्योंकि यहां दो हजार से अधिक वर्षों से समुदाय पाठशाला या मक़तब को सहायता देते आए हैं। बच्चों की शिक्षा के लिए धन लगाने की ग्रामीणजन की इच्छा का पता अच्छी खासी उपस्थितिवाले निजी स्कूलों की एक बड़ी तादाद की स्थापना से चलता है। शुल्क अगर गंदा शब्द हो तो अभिभावकों से प्रतिवर्ष स्कूल के लिए लेवी ली जा सकती है। सचमुच जो गरीब हैं उन्हें छूट दी जा सकती है, लेकिन इसका कोई कारण नहीं है कि ग्रामीण क्षेत्रों की बढ़ती हुई आय का एक भाग शैक्षिक क्षेत्र की ओर न आए। यह एक समानतामूलक प्रयास होगा क्योंकि निर्धन अपने आप छूट पाएंगे और आय के साथ अधिकार बढ़ेगा। इस तथ्य को खुलकर स्वीकार करना होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों के लगभग चार लाख स्कूलों को, बढ़ती खेतिहर आय

में से पर्याप्त योगदान मिले बिना संतोषजनक ढंग से चलाया जाना असंभव है। ग्रामीण स्कूलों का नौकरशाहीकरण अभी हाल की प्रवृत्ति है। आवश्यक यह है कि स्कूल और समुदाय के परंपरागत संबंध को पुनः स्थापित किया जाय। गांव की स्कूल समिति को अपनी सत्ता ग्रामीण शासन से ही प्राप्त करनी चाहिए। फिर भी यह बात सुनिश्चित की जानी चाहिए कि समाज के वंचित वर्गों को इसमें समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। सरकार की सहायता समुचित अनुदानों, पिछड़े क्षेत्रों के लिए विशेष इमदाद और वंचित जन के लिए विशेष कार्यक्रमों के रूप में होनी चाहिए।

ग्रामीण स्कूलों में महिला शिक्षकों की नियुक्ति आज की अपेक्षा बड़े स्तर पर आवश्यक है। इस संदर्भ में यह आवश्यक है कि उसी गांव या पास के गांवों की महिलाएं ही नियुक्त की जाएं और उन्हें पर्याप्त प्रशिक्षण दिया जाए। प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों के आए दिन के स्थानांतरण मुसीबत खड़ी करते हैं और परिणामस्वरूप काफी समय तक स्कूल बंद रहते हैं। प्राथमिक स्कूल के शिक्षक के एक गांव से दूसरे गांव में स्थानांतरण किए जाने का कोई शैक्षिक कारण नहीं है। फिर भी अगर इस व्यवस्था को एकदम समाप्त नहीं किया जा सकता तो इसमें काफी कटौती होनी चाहिए और हर शिक्षक को स्थानांतरण से पहले कम से कम दस साल तक बिना किसी बाधा के एक स्कूल में काम करने की अनुमति मिलनी चाहिए।

इस प्रणाली के निष्पादन (परफार्मेंस) का परिवीक्षण करने, अवकाश के बीच आवश्यक प्रबंध करने और साझी दृश्य-श्रव्य सहायक सामग्री और सुविधाओं का उपयोग करने के लिए बहुस्तरीय स्कूल व्यवस्था को प्रमुख साधन बनाया जाना चाहिए।

इस समय अनेक गांवों में अनेक लोग, खासकर सेवानिवृत्त सैनिक हैं, जिन्हें स्कूलों में संसाधन व्यक्तियों के रूप में कार्य करने के लिए तैयार किया जा सकता है। ऐसे लोगों की सेवाओं का उपयोग स्कूल की पाठ्यचर्यागत पाठ्यचर्या की सहगामी गति-विधियों और पाठ्यचर्या से इतर गतिविधियों को ठोस आधार देने के लिए किया जा सकता है।

प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनिकरण से संबंधित कार्यभार का स्वरूप और सोपान ऐसे हैं कि इसके लिए एक जन-आंदोलन की आवश्यकता है और इसमें देश के शिक्षित युवा वर्ग को इसमें अहम भूमिका निभानी पड़ेगी। ऐसा सुझाव आया है कि एक स्वयंसेवी संगठन के रूप में देश में एक तालीमी सेना की स्थापना की जाए। इसकी सदस्यता उनके लिए होनी चाहिए जो शैक्षिक कार्यों के लिए कुछ समय देने के इच्छुक हों। इसके लिए उपलब्ध सेवाओं का समुचित उपयोग स्कूल को मजबूत करने के लिए किया जाना चाहिए। दस लाख सक्रिय स्वयंसेवक भर्ती करने के लक्ष्य के साथ जितना जल्दी संभव हो तालीमी सेना का आरंभ हो जाना चाहिए। राजनीतिक इच्छाशक्ति, समर्पित कार्यकर्ताओं की एक सेना और एक दृढ़ नेतृत्व के होने पर शक्तिशाली युवाशक्ति को इस राष्ट्रीय लक्ष्य (जो एक सांविधानिक दायित्व भी है) की प्राप्ति के लिए लामबंद किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

हाल के वर्षों में सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में शिक्षा की क्षमता और साथ ही रोजगार के साथ उसके संबंधों की दृढ़ता में काफी कमी हुई है। इसकी संरचना और इसके कार्यकलाप से न तो समाज प्रसन्न है जो अपने दुर्लभ संसाधनों को शिक्षाप्रणाली में लगाता है, और न ही रोजगार देनेवाले जो इसके उत्पादों को रोजगार देते हैं। इसके अतिरिक्त छात्रों में व्यापक स्तर पर कुंठा व्याप्त है जो अपना धन और वर्षों का श्रम लगाने के बाद पाते हैं कि उनके प्रयास काफी हद तक फलहीन हैं। छात्रों में गहराई तक व्याप्त यह कुंठा अवांछित प्रवृत्तियों के लिए, व्यापक स्तर पर कानून और व्यवस्था के विघटन के लिए और कुल मिलाकर सामाजिक वातावरण के प्रदूषण के लिए व्यापक आधार प्रदान करती है।

जबकि शिक्षा के मूलतः दुष्क्रियात्मक चरित्र के लिए अनेक जटिल कारण जिम्मेदार हैं, इसमें परीक्षा प्रणाली और मूल्यांकन प्रणाली की भूमिका विशेष महत्वपूर्ण है। शिक्षा को एकदम अनुत्पादक बनानेवाली प्रक्रिया की जड़ में ये प्रणालियां ही हैं। लगभग पांच लाख प्राथमिक स्कूलों, साठ हजार माध्यमिक स्कूलों, पांच हजार कालेजों और डेढ़ सौ विश्वविद्यालयों पर आधारित इस भीमकाय भारतीय शिक्षा व्यवस्था को अंदर से वह सर्वशक्तिशाली सत्र के अंतवाली बाह्य और निबंध शैली की परीक्षा प्रणाली खोखला कर रही है। यह प्रणाली आत्मा को मारती है, बुद्धि को जड़ बनाती है और पूरे शैक्षिक जीवन को गलत दिशाओं में ले जाती है। किसी अन्य तत्त्व से अधिक इस परीक्षाप्रणाली ने इस पाठ्यक्रम को जड़ बना दिया है, और नोट लिखवाने जैसी अध्यापन विधि तथा बाजारी कुजियों पर आधारित ज्ञानार्जन विधि को सुदृढ़ कर दिया है। 'सामूहिक नकल', 'श्रेणी की प्रोत्ति' और संबंधित बुराइयों के कारण इस प्रणाली के लिए अब प्रत्यापन जैसे सीमित दायित्वों को पूरा कर पाना भी अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है इसलिए शिक्षा व्यवस्था में सुधार की किसी भी योजना में परीक्षाप्रणाली संबंधी सुधारों को सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए। परिवर्तन इस तरह के होने चाहिए कि सत्र के अंत में होने के स्थान पर परीक्षा निरंतर ली जाए, बाह्य की जगह आंतरिक हो और उसमें विषय के अध्यापक की केंद्रीय भूमिका हो और वह निबंध शैली की न होकर बहुमुखी हो। ऊपर सुझाए गए शैक्षिक सुधारों के बावजूद उपाधियों से रोजगार का संबंध विच्छेद अन्य कारणों के साथ निम्नलिखित कारणों से भी किया जाना चाहिए :

तकनीकी परिवर्तन की प्रक्रिया की गति इतनी तीव्र है कि पहले से भी शिक्षित लोगों के कौशल में पुराने की जगह नया जोड़ने की जरूरत पड़ रही है और इससे बारंबार सेवाकालीन प्रशिक्षण की आवश्यकता उत्पन्न हुई है।

सामाजिक प्रणाली में हो रहे व्यापक परिवर्तनों का साथ देने में शिक्षा प्रणाली असफल रही है और इससे शिक्षा और रोजगार के संबंध विघटित हुए हैं।

शैक्षिक उत्पादन और रोजगार बाजार की असंगति उन विकासशील देशों में काफी तीखी है, जो विश्वव्यापी प्रक्रियाओं के भंवर में फंसे हैं परंतु जिनके सामने विकसित

देशों की नकल के अलावा कोई विकल्प भी नहीं है।

आशा की जाती है कि इस संबंध-विच्छेद के कारण दुष्क्रियात्मक क्षेत्रों में औपचारिक नामांकन पर अनुचित दबाव कुछ कम होगा, जो संगठित रोजगार बाजार में, विशेषकर सार्वजनिक सेवाओं में, प्रवेश की आवश्यक शर्त है। इससे शिक्षा संस्थाओं को अपने प्रमुख कार्य-ज्ञान का सृजन और प्रसार में सहायता मिलेगी।

एक बार उपाधि या प्रमाणपत्र की जरूरत से पिंड छुड़ा लिया जाय तो एक ही नलकी से हर छात्र के गुजरने पर दिया जानेवाला जोर भी कम हो जाएगा। तब ज्ञानार्जन की प्रक्रिया आधुनिक प्रौद्योगिक प्रगति के साथ-साथ जारी रह सकेगी। फिर भी इस उद्देश्य से छात्रों के ज्ञानार्जन और कार्यकुशलता का मूल्यांकन करने के लिए किसी प्रणाली की आवश्यकता होगी। इस संदर्भ में राष्ट्रीय अर्हता परीक्षा (नेशनल मेरिट एक्जामिनेशन, एन. एम. ई.) की प्रणाली के अपनाए जाने की व्यावहारिकता की जांच की जा सकती है। किसी एक स्तर पर या अनेक स्तरों पर, जिनका निर्धारण अभी किया जाना है, विभिन्न विषयों की पृष्ठभूमिवाले, शिक्षा के विभिन्न माध्यमों और परीक्षा के विभिन्न माध्यमों और विभिन्न क्षेत्रों से आनेवाले छात्र इस तरह की किसी परीक्षा में बैठ सकते हैं। इस परीक्षा में उम्मीदवारों का क्रम उनके कार्य निष्पादन के आधार पर निर्धारित किया जाएगा और इस तरह यह मूल्यांकन के लिए मानदंड का काम करेगा। आशा की जाती है कि एन.एम.ई. प्रणाली देश भर में व्यापक आधार पर पूर्वाग्रह रहित और सुसंगत मूल्यांकन की एक प्रणाली बन सकेगी। परीक्षा का माध्यम यह भाषा है या वह भाषा, इससे अलग रहकर यह प्रणाली भेदभावरहित बन सकेगी।

शिक्षा और रोजगार की असंगति काफी व्यापक है, इसका कारण मूलतः यह है कि उच्चतर माध्यमिक और स्नातक स्तर की शिक्षा औपनिवेशिक काल की तरह ही आज भी काफी हद तक 'सामान्यमूलक' बनी हुई है और अर्थव्यवस्था के तृतीयक क्षेत्र, विशेषकर सेवा क्षेत्र, की आवश्यकता पूरी करती है। कालेज काफी सीमा तक आज भी 'पालने के पास बैठने' (बेबी सिटिंग) का कार्य ही करते हैं और बेरोजगार युवकों के लिए आरक्षित क्षेत्र बने हुए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इसकी संरचना में गुणात्मक परिवर्तन लाए जाएं और 2+3 की अवस्था को ऐसा काल माना जाए जिसमें +10 अवस्था की सामान्य शैक्षिक पूंजी का विविधीकरण हो और रोजगार बाजार की आवश्यकताओं के अनुसार उससे अनेक शाखाएं निकलें। दूसरे शब्दों में, शिक्षा को उद्देश्यमूलक और अर्थपूर्ण बनाने के लिए उच्चतर माध्यमिक और स्नातक स्तर की शिक्षा का व्यवसायपरक होना आवश्यक है। इस संदर्भ में यह गंभीर चिंता का विषय है कि कोठारी आयोग की सिफारिशों के आने के बाद इसे व्यवसायपरक बनाने की प्रक्रिया बहुत ही धीमी गति से आगे बढ़ी है। स्थिति को सुधारने के लिए दो नीतिगत निर्णयों की आवश्यकता है। पहला, शिक्षा को व्यवसायपरक बनाने का उद्देश्य तभी सफल हो सकता है जब उसका दायित्व शिक्षा और 'व्यवसायिक' मंत्रालय दोनों मिलकर संभालें अर्थात् वास्तविक उत्पादन कार्य में पहला मंत्रालय शैक्षिक लागत और

दूसरा व्यावहारिक लागत लगाएं। दूसरे, उच्चतर माध्यमिक स्तर पर व्यवसायपरक बनाने की धारा को निर्धनों के लिए अंधी गली नहीं समझा जाना चाहिए कि धनसंपन्न लोग शैक्षिक धारा के माध्यम से बड़ी नौकरियां अपने लिए हथिया लें। यहां यह सुझाव दिया जाएगा कि सभी व्यावसायिक कालेजों में स्थान का एक भाग उन छात्रों के लिए आरक्षित किया जाए जो समुचित व्यावसायिक धारा से आ रहे हों और जिनके पास कम से कम तीन वर्ष का व्यावहारिक अनुभव हो।

यहां हम यह सुझाव भी देंगे कि शैक्षिक और व्यावसायिक धाराओं के उत्पादों को अपने शेष कार्यकारी जीवन में अलग-अलग खांचों में नहीं सीमित रहना चाहिए। दोनों धाराओं के बीच पारस्परिक संपर्क और अंतर्क्षेत्रीय गतिशीलता बड़े पैमाने पर हो सकती है और होनी चाहिए। दोनों धाराओं के प्रतिभासंपन्नव्यक्तियों को विश्वविद्यालय से काम की दुनिया में और इसकी विपरीत दिशा में आना-जाना चाहिए ताकि दोनों क्षेत्र एक दूसरे से लाभान्वित हों। इस तरह ज्ञान की उत्पत्ति और सामाजिक उत्पादन में उसके उपयोग के बीच मौजूदा खाई अधिकाधिक कम हो सकेगी। इसलिए प्रवेश प्रणाली की कठिनाइयों को काफी हद तक कम किया जाना आवश्यक है ताकि सेवाकालीन प्रशिक्षण और आगे की शिक्षा के बीच समुचित संबंध स्थापित किए जा सकें। इसी तरह मध्यवर्ती पाठ्यक्रमों (सैंडविच कोर्सेज), तथा प्रसारमूलक (एक्स्ट्रा-क्यूरल) शिक्षा से भी ज्ञानार्जन तथा काम के क्षेत्रों में बेहतर अंतर्संबंध स्थापित हो सकेगा।

प्रणाली और उप-प्रणाली

अंत में, शिक्षा और समाज के संबंध को परख लेना भी उपयोगी होगा जो एक उपप्रणाली और उसकी व्यापकतर प्रणाली के संबंध का ही एक रूप है। इस तरह की किसी अवधारणा के ढांचे में एक न्यायमूलक, समता, जनतांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष समाज का निर्माण करने के कार्य के लिए शिक्षा की क्षमताओं और सीमाओं को समझ सकना अधिक सरल होगा। यह एक सामान्य और स्वीकृत तथ्य है कि शिक्षा और समाज अभिन्न रूप से एक दूसरे से जुड़े हैं। इस संबंध को व्यापक तौर पर मान्यता दी गई है। फिर भी शिक्षा में प्रगतिशील परिवर्तन लाने के इच्छुक शिक्षा सुधारक इस तरह का प्रभाव छोड़ते हैं जैसे कि शिक्षा किसी सामाजिक शून्य में विद्यमान कोई वस्तु हो। अधिकांश आधुनिक शिक्षा में व्यापक आंतरिक अताकिताएं, उदाहरण के लिए भारतीय शिक्षा व्यवस्था की असंगतियां, व्यापकतर समाज के प्रतिबिंबों के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में नहीं समझी जा सकतीं। शिक्षा जैसी उपप्रणाली का समूचे समाज की व्यापकतर प्रणाली के बाहर कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।

आमतौर पर यह माना जाता है कि यद्यपि शिक्षा व्यापकतर सामाजिक व्यवस्था का एक अंग है, फिर भी इससे इसकी स्वतंत्र गतिशीलता समाप्त नहीं होती। वास्तव में यह प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन को जन्म देती है और उसे स्थायी बनाती है।

इस विश्वास का अनुभवजन्य आधार भी है। मानव समाजों के विकास तथा सभ्यताओं के उत्थान में शिक्षा के योगदान के बारे में पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है लेकिन उपरोक्त विश्वास जिन परिकल्पनाओं पर आधारित है, वे सब की सब एक समान स्वीकार्य नहीं है। इस तथ्य से कि शिक्षा दोधारी तलवार की तरह कार्य करती है और करती रही है, उस सामाजिक उद्देश्य की कारगुजारी सही सिद्ध होती है जो इसे विशिष्ट ढंग से घुमाता और मोड़ता है। सामाजिक संगठन का स्वरूप और शासक अभिजात वर्ग की रुझानों के अनुसार, समुचित तकनीकों के रूप में शिक्षा का उपयोग युद्ध के लिए और शांति के लिए, हत्या के लिए और आत्मरक्षा के लिए, जनगण को दास बनाने के लिए और उन्हें दासता से मुक्त कराने के लिए किया जाता रहा है। शिक्षा विद्यमान ज्ञान का वाहक होती है, और इस कारण वह जिस प्रणाली का अंग है उसे स्थायित्व देने में योगदान करती है। लेकिन जब पुराना समाज शिक्षा के द्वारा अपना पुनरुत्पादन कर रहा होता है, उस समय भी असहमति की चेतना को यह बढ़ाती रहती है जो खुद समाज में विद्यमान असहमतिमूलक वास्तविकता का प्रतिबिम्ब होती है, यह चेतना ही प्रगतिशील परिवर्तन का स्रोत बनती है।

कोई किसी भी मत को माननेवाला क्यों न हो, इसमें संदेह नहीं कि प्रणाली और उसकी उपप्रणालियों के, संस्कृति संतृप्ति, सांस्कृतिक उत्पादन, पुनरुत्पादन, समाजीकरण तथा संप्रेषण के सिद्धांतों पर आधारित अनेक विश्लेषण आज हमारे पास हैं। इस तरह के विश्लेषण में उन प्रत्यक्ष या परोक्ष विधियों को जानने में भी हमारी रुचि है जिनसे संस्कृति और शिक्षा एक दूसरे पर कार्यरत होती है। लगभग सभी वैश्लेषिक प्रतिमानों में मानवीय व्यवहार को (व्यक्तिगत तथा सामाजिक, दोनों स्तरों पर) रूपांतरित करने तथा मानव पर्यावरण को ढालने में शिक्षा की शक्तिशाली भूमिका को स्वीकार किया गया है। मतभेद तभी उत्पन्न होते हैं जबकि प्रणाली या उपप्रणाली को किसी तरह की प्राथमिकता दी जाती है या जब घटनाशास्त्रीय इतिहास लिखने का प्रयत्न किया जाता है जिसमें शिक्षा को एक कारणात्मक या एक मध्यस्थात्मक भूमिका दी गई हो, या अपनी सुविधा के अनुसार मनुष्य द्वारा निर्मित इसे एक और सामाजिक कृति भर माना गया हो।

सामाजिक-आर्थिक विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में शिक्षित और कुशलता प्राप्त श्रमिक की भूमिका को काफी पहले से ही स्वीकार किया गया है और उसके प्रमाण दिए गए हैं। फिर भी केवल हमारे समय में, बीसवीं सदी के अंतिम कुछ दशकों में, इसके प्रभाव की पूरी शक्ति को समझा जा रहा है। औद्योगिक क्रांति के आरंभिक वर्षों में, जिसमें शोध और विकास के प्रयासों द्वारा अर्जित नवीन आविष्कारों की एक अंतहीन शृंखला रही है। शिक्षा और खासकर उसके तृतीयक क्षेत्र (स्नातक स्तर) ने हो सकता है बहुत सीमित भूमिका निभाई हो, मगर आज के विकसित देशों में, समाजों के पुनर्गठन और आधुनिकीकरण की आवश्यकता के रूप में, शिक्षा की भूमिका को कम करके नहीं आंका जा सकता है। द्विपक्षीय कार्य-कारण संबंध के द्वारा शिक्षा

ब सामाजिक-आर्थिक विकास आपस में अभिन्न रूप से जुड़े हैं। वे एक दूसरे को सहारा देते हैं। आगे बढ़ाते हैं और मजबूत व स्थायी बनाते हैं। इस स्वतः स्पष्ट संबंध को बार-बार, खासकर विकासशील देशों में दोहराना पड़ता है, इसका कारण या तो दिग्भ्रमित लोगों की चली आ रही मूढ़ता है या इस असमान विश्व में उन लोगों का निरंतर प्रयास है जिनका निर्धन समाजों को निर्धन बनाए रखने में निहित स्वार्थ है।

भविष्य की दुनिया पर ज्ञान और ज्ञानवानों का अधिकार होगा। इसलिए शैक्षिक नीतियों को उन मूलभूत संरचनात्मक परिवर्तनों का अभिन्न अंग होना चाहिए जिनके बिना नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था सपना मात्र रह जाएगी। इसका लक्ष्य उन भाग्यवादी विचारों का सफाया होना चाहिए जो यह प्रचारित करते हैं कि निर्धनता प्रकृति की देन है। और यह कि अभावग्रस्त लोगों को उसी तरह निर्धनता को सहना चाहिए जैसे कि प्राकृतिक आपदाओं को। इसे उन लोगों की बुद्धि ठीक करनी चाहिए जो निर्धनता की खोखली आध्यात्मिकता में आत्मतोष ढूंढते हैं, और उनको भी जो समृद्धि को उपभोक्तावादी संस्कृति में जीवन का अर्थ और उद्देश्य देखते हैं। नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण में शिक्षा को जो महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है उसे देखते हुए यह आश्चर्यजनक है कि रोम क्लब, जापानी-रोम क्लब और लियोनतिफ क्लब जैसे प्रतिमानों में शिक्षा का कोई स्थान ही नहीं है। जब तक इन भविष्यवादी प्रतिमानों की इस भयंकर सीमा को दूर नहीं किया जाता, दुनिया दो नहीं, तीन भागों में बंटकर रह जाएगी जिसकी ओर यूनेस्को के एक अध्ययन ने ध्यान दिलाया है, “इसका अर्थ है कि मूलभूत संरचनागत परिवर्तन (नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था) के बिना विश्व तीन तरह के देशों में बंटकर रह जाएगा : सबसे नीचे प्राथमिक (बेसिक) शिक्षा और वंशगत कार्य तथा निर्वाहमूलक श्रमवाले देश होंगे : बीच में व्यावसायिक शिक्षा सहित माध्यमिक शिक्षा के स्तर तक के, कुछ साधारण छंटाई-सफाई (प्रोसेसिंग) करनेवाले देश होंगे, तथा सबसे ऊपर वे देश होंगे जहां हर व्यक्ति किसी विश्वविद्यालय का स्नातक होगा और विशालकाय वैज्ञानिक प्रौद्योगिक आधारवाले अत्यंत शोधमूलक उद्योगों में कार्य कर रहा होगा।” आधुनिक युग की त्रासदी यह है कि तीसरी दुनिया इस समय भी तीसरी और चौथी दुनियाओं में बंटती चली जा रही है और विकासशील देश अल्पविकसित और अल्पतमविकसित देशों में बंट रहे हैं। असमानता को फैलाने की इस प्रक्रिया में दुर्भाग्य से शिक्षाप्रणाली महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

वास्तविकता के इस तानेबाने में भारत को हम किस जगह देखना चाहते हैं ? इस संबंध में हमारा विकल्प (और विकल्प मौजूद है) हमारी शिक्षा नीति का निर्धारण करेगा।

ग्रामीण परिवारों के संदर्भ में शैक्षिक निवेश और उनके परिणाम

शिक्षा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का अनिवार्य हिस्सा है और इसका समाज के साथ बहुत अंतरंग संबंध है। यह अपेक्षाकृत बड़ी प्रणाली की एक उप-प्रणाली है। ये दोनों ही एक-दूसरे को बनाए रखने में एक-दूसरे की मदद करती हैं। शिक्षा को विकास का कारक और नतीजा दोनों माना जा सकता है। अल्पविकसित देशों में औपचारिक शिक्षा को आर्थिक विकास के निवेश के रूप में लिया जाता है, इसलिए काफी अधिक मात्रा में इसको वित्तीय सहायता दी जाती है। समष्टि स्तर (मैक्रो लेवल) पर किए गए अध्ययन (बनेट 1967, पारिक 1982, विश्वबैंक 1980अ, 1980 ब) और व्यक्ति स्तर (माइक्रो लेवल) पर किए गए अध्ययन (मार्टिन 1982, मैडिस 1981, मोरइरा 1960, नैक्ष 1965) से इस बात के संकेत मिलते हैं कि विकास प्रक्रिया में स्कूल की शिक्षा काफी महत्वपूर्ण कारक है, गोकि इनके बीच का यह संबंध काफी जटिल और संश्लिष्ट होता है। इस क्षेत्र में अनुसंधान की दिलचस्पी पिछले दो दशकों में काफी बढ़ी है और हाल में इससे संबंधित साहित्य की समीक्षा से भी यही बात जाहिर होती है। (कालक्लोक 1982) ग्रामीण परिवारों, जनसंख्या और ग्राम समुदायों के आधार पर किए गए वर्तमान अध्ययन में इस दुहरे संबंध के एक पहलू पर ध्यान दिया गया है यानी औपचारिक शिक्षा का हमने परिवर्तन के कारक के रूप में इस अध्याय में अध्ययन किया है। इसको हमने सामाजिक व्यवस्था का परिणाम उतना नहीं माना है जैसा कि कुछ दूसरे विद्वान मानते हैं। (कारनॉय 1970, क्लिंगनेट और फास्टर 1967, डंकन 1967, मिल्स 1959, स्पैडी 1967) इस विषय पर ध्यान केंद्रित करने की वजह विकास की वह अवस्था है यानी जिस जगह हम आज हैं तथा निवेश की वह मात्रा, जो शिक्षा समेत विभिन्न ग्राम विकास के कार्यक्रम में लगाई जा चुकी है

विकास के अनेक कार्यक्रमों में साक्षरता और शिक्षा की भूमिका को रेखांकित किया जाता है। यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि शिक्षा के जरिए कर्मचारियों में ऐसा कौशल पैदा किया जाता है जो सरल आधारभूत ढांचे वाले उत्पादन के बजाय अनेक सेक्टरोंवाली जटिल अर्थव्यवस्था के लिए जरूरी होता है। दूसरे शब्दों में यह माना जाता है कि शिक्षा बाहरी पर्यावरण पर नियंत्रण का बेहतर साधन है। साथ में

ऐसा भी महसूस किया गया है कि अन्य कार्यक्रमों और नीतियों के अभाव में अकेले शिक्षा विकास को तेज करने तथा सामाजिक परिवर्तन लाने में सक्षम नहीं है। आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न पक्षों को एक साथ और एक गति से आगे बढ़ते हुए हम नहीं पाते हैं। परिणामस्वरूप विकास की गति को तेज करने के प्रयासों का विकास के विभिन्न अयामों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार के विकास के अलग-अलग पहलुओं पर भी शिक्षा का असर एक जैसा नहीं होता है।

इस अध्याय में ग्रामीण समाज के विभिन्न पहलुओं पर शिक्षा की उपलब्धियों से पड़नेवाले प्रभाव की मात्रा और स्वरूप की जांच पड़ताल का उपक्रम किया गया है। शुरू में हमने एक आधारभूत सवाल उठाया है : ग्रामीण समाज के विभिन्न स्तरों पर आपस में शिक्षा के स्तर में क्या कोई महत्वपूर्ण अंतर है? इसके पहले अनेक लोगों ने जो अध्ययन किए हैं, उनमें निष्कर्ष रूप में बताया गया है कि न सिर्फ शिक्षा के स्तर में फर्क है बल्कि मौजूदा शिक्षाव्यवस्था इन असमानताओं को जारी रखने और उनको बढ़ाने का काम करती है। एक बार अगर यह बात पक्की हो जाती है तो समाज के अलग-अलग स्तरों के संदर्भ में, शिक्षा और विकास तथा सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न पहलुओं के बीच जो संबंध हैं, उन्हें अधिक सार्थक तरीके से समझा जा सकता है।

इस अध्याय में हमारा सरोकार शिक्षा के प्रभाव से संबंध रखनेवाले मुद्दों से है। जिन बातों के ऊपर शिक्षा के प्रभाव का हम अध्ययन करेंगे, वे हैं : (क) फार्म अर्थ-व्यवस्था का आधुनिकीकरण, (ख) जनांकिकीय व्यवहार, (ग) गतिशीलता और परिवर्तन, (घ) राज्य की संस्थाओं के उपयोग और विकास प्रयासों को आत्मसात करने की क्षमता। अगर इन मुद्दों को अन्वेषणपरक सवालों में बदल दिया जाए तो इनका रूप इस प्रकार होगा : क्या जनसंख्या के शैक्षिक स्तर से सामाजिक, जनांकिकीय और आर्थिक व्यवहार पर असर पड़ता है ? यदि ऐसा है तो क्या शिक्षा के उन महत्वपूर्ण स्तरों को व्यवहार के विभिन्न बदलावों के संदर्भ में पहचाना जा सकता है ? क्या शैक्षिक स्तर की कोई उच्चतर सीमा है जिसके आगे इस स्तर के उन्नत होने की उपर्युक्त संदर्भ में कोई सार्थकता न रह जाती हो ?

आगे चलकर इन सवालों का जवाब देने का प्रयास किया गया है। कर्नाटक राज्य के तुमकुर जिले की ग्रामीण जनसंख्या को इसके लिए अध्ययन का आधार बनाया गया है। आदर्श स्थिति तो यह होती है कि आंकड़ों का संकलन करने के पहले विश्लेषण का खाका तैयार कर लिया जाता और विवेचन-विश्लेषण की पद्धति भी तय कर ली जाती क्योंकि आंकड़ों के स्वरूप का निर्धारण विश्लेषण के खाके के आधार पर किया जाता है। लेकिन हम प्रस्तुत अध्याय में इस रास्ते से थोड़ा अलग हट रहे हैं क्योंकि अध्ययन के लिए हमें काफी बड़ी मात्रा में आंकड़े उपलब्ध हैं।

आंकड़े और अध्ययन की विधि

प्रो. वी.के.आर.वी. राव ने 'सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन संस्थान' में तुमकुर जिले (कर्नाटक) में ग्रामीण विकास पर एक परियोजना आरंभ की। इस परियोजना के अनेक उद्देश्यों में से एक उद्देश्य इस प्रकार के आंकड़ों का आधार तैयार करना था जिनसे इस परियोजना की अवधि में किए जा रहे अध्ययनों के अतिरिक्त अन्य परियोजनाओं और अध्ययनों को भी मदद मिल सके। इस उद्देश्य को मद्देनजर रख कर और इसका अनुसरण करते हुए, इस प्रकार से संकलित आंकड़ों का इस्तेमाल करने के लिए वर्तमान अध्ययन की परिकल्पना की गई ताकि जो सवाल ऊपर उठाए गए हैं, उन पर विचार-विमर्श हो सके।

ये आंकड़े यादृच्छिक तरीके से संपूर्ण जिले के 245 गांवों से संकलित किए गए हैं। यदि और स्पष्ट रूप से कहें तो कहा जाएगा कि जिले के 10 तालुका के 10 प्रतिशत गांवों को यों ही चुन लिया गया था। नमूने के लिए चुने गए 245 गांवों में सभी परिवारों को सर्वेक्षण में लिया गया था। इन परिवारों की कुल संख्या 29,785 थी। इस परियोजना में आंकड़ों के संकलन का कार्य (फील्ड वर्क) अप्रैल-जून 1977 में किया गया था। आंकड़ों का संकलन गांव और प्रखंड स्तर के 250 अधिकारियों की मदद से किया गया था और इतनी ही संख्या में इस काम में विद्यालय के अध्यापकों को लगाया गया था। इन लोगों ने परियोजना में कार्यरत सदस्यों के निर्देशन और देखरेख में काम किया। संकलन के कार्य में दो प्रश्नावलियों का उपयोग किया गया था : (i) पहली प्रश्नावली काफी व्यापक थी। इस प्रश्नावली में कृषि और भूमि का उपयोग, अन्य आर्थिक गतिविधियां, ग्रामीण सुविधाएं और सेवाएं और ग्रामीण स्तर की संस्थाओं से संबंधित जानकारी मांगी गई थी, जैसे पंचायत, सहकारी समितियां, स्कूल और स्वैच्छिक संगठन और (ii) परिवारों से संबंधित आठ पेज की प्रश्नावली : इसमें प्रत्येक परिवार के लगभग 30,000 सदस्यों के बीच इसका प्रचार किया गया और जो जानकारी उनसे मांगी गई उसमें आर्थिक पक्ष पर विशेष जोर दिया गया था जैसे जीवन शैली, सामाजिक-आर्थिक हैसियत, जाति, पेशा, जमीन का स्वामित्व, मकान की बनावट, संस्थाओं तक उनकी पहुंच और उनकी संस्थाओं की सदस्यता, गांव के बाहर उनके संपर्क तथा शिक्षा और स्वास्थ्य।

इस तरह इस सर्वेक्षण में एकत्र आंकड़े इस अध्ययन के लिए उपलब्ध कराए गए हैं। तुमकुर परियोजना के दौरान ही इसकी प्रश्नावली के आंकड़ों को संगणक की मदद से व्यवस्थित किया गया। गौर करने की बात यह है कि दोषपूर्ण और अनुपयोगी सूचनाओं को इसमें से अलग कर दिया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत विश्लेषण में 25713 परिवारों से उपलब्ध आंकड़ों का विश्लेषण किया गया है। इस पूरे अध्ययन में इस कथन को हमने अपना मार्गदर्शक आधार बनाया है कि सामान्य रूप से ग्रामीण परिवारों की विशेषताओं और विशेष रूप से ग्रामीण

परिवारों की आर्थिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए जो पद्धतियां हमारे पास हैं, वे अपेक्षाकृत पुरानी हैं। (इवेंसन तथा अन्य 1980) इस समय अध्ययन की जो भी विधियां उपलब्ध हैं, वे परिष्कार की उस ऊंचाई तक नहीं पहुंच पाई हैं कि पुरानी सरल पद्धति को छोड़कर उनका इस प्रकार के अध्ययन में उपयोग किया जाए क्योंकि उस सरल पद्धति में भी सारणीयन के विभिन्न रूपों का इस्तेमाल करके शिक्षा की उपलब्धि और जनसंख्या के सामाजिक व्यवहार के संश्लिष्ट संबंधों का पता लगाया जाता है।

पहले बताया गया है कि किसी जनसंख्या की शैक्षिक उपलब्धि को उसके सामाजिक-आर्थिक हैसियत का कार्य माना जाता रहा है। यदि आबादी के किसी सामाजिक-आर्थिक समुदाय के शैक्षिक स्तर में उल्लेखनीय अंतर है तो इन दोनों के बीच व्यवहारों का अंतर सामाजिक-आर्थिक स्तरों के अंतर का परिणाम हो सकता है। इसलिए किसी भी सार्थक विश्लेषण के लिए गांव समुदाय को विभिन्न स्तरों में अलग-अलग करने की जरूरत को हम रेखांकित करना चाहते हैं।

समान समूहों या समान स्तरों के परिवारों को एक साथ करने के लिए जो भी मानदंड हम अपनाएं, वह मानदंड ऐसा होना चाहिए जिसके आधार पर बनाए गए समूह हमारे समाज के अलग-अलग स्तरों का चित्र प्रस्तुत करें। यदि अपने ग्रामीण जन समुदाय पर निगाह डालें तो हम पाएंगे कि अधिकांशतः वह अपनी आजीविका के लिए खेती पर निर्भर है। इसलिए हमने परिवारों के वर्गीकरण के लिए जोतों के आकार को ही आधार बनाया है (प्रति परिवार जोत का आकार)। ऐसा वहीं किया गया है जहां किसी परिवार की आय का मुख्य स्रोत खेती है। खेती करनेवाले परिवारों की चार कोटियों की पहचान की गई : पहली कोटि सीमांत किसान की है (जिसके पास दो एकड़ से कम जमीन है), दूसरी कोटि में छोटे किसान आते हैं (जिनके पास 2 से 5 एकड़ तक जमीन है), तीसरी कोटि मध्यम किसानों की है (इसमें 5 से 25 एकड़ तक की जमीनवाले किसानों को रखा गया है) तथा बड़े किसानों की चौथी कोटि है (इसमें 25 एकड़ से ज्यादा जोतवाले किसानों को रखा गया है)। इन लोगों की जमीनों को गुणवत्ता के आधार पर तीन श्रेणियों में बांटा गया है—वे हैं नम, सूखी तथा बागान भूमि। इस वर्गीकरण में बिना भूमि की गुणवत्ता के अंतर को ध्यान में रखे, कुल भूमि को ही आधार बनाया गया है। यह कोई गंभीर बाधा नहीं है क्योंकि यहां की 80 प्रतिशत भूमि सूखी है। शेष जिन परिवारों का, पेशा खेती नहीं है, उन परिवारों का वर्गीकरण उनके मुखिया के पेशे के आधार पर किया गया है। इस मानदंड के आधार पर हमने परिवारों को निम्नांकित रूपों में बांटा है : खेत मजदूर, कारीगर, व्यापारी, व्यावसायिक, वेतन भोगी तथा उनके बीच की फुटकर श्रेणी। सारणी सं. 2.1 में इन निदर्श गांवों के परिवारों को सर्वेक्षण के बाद समूहों में बांट कर प्रस्तुत किया गया है।

यहां पर शैक्षिक स्तर का आशय लोगों की औपचारिक शिक्षा से है। आमतौर पर किसी व्यक्तिगत सदस्य द्वारा स्कूल में बिताए गए समय (वर्ष) का इस्तेमाल शिक्षा और दूसरे चरों के आपसी संबंधों को समझने की कोशिश के रूप में किया गया है।

लेकिन चूंकि विश्लेषण के अधिकांश भाग का संबंध परिवारों की विशेषताओं से है, इसलिए इकाई के रूप में एक परिवार के लिए शैक्षिक स्तर का मापक विकसित करना हमारे लिए जरूरी हो गया है। यह गौर करने की बात है कि व्यवहार संबंधी विशेषताएं तो परिवारों के सदस्यों की अपनी-अपनी होती हैं, जैसे किसी किसान का खेती की नई प्रौद्योगिकी को अपनाना, लेकिन यह बात तर्कसंगत लगती है कि परिवार के दूसरे सदस्य भी इसके विषय में लिए जानेवाले निर्णय को प्रभावित करते हैं। खासतौर पर जो उदाहरण ऊपर हमने दिया है उसके निर्णय में घर के प्रौढ़ पुरुष सदस्यों के विचारों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। पहले जो अध्ययन किए गए हैं उनमें सामाजिक-जनांकिकीय चरों के संबंधों को ही उजागर किया गया है, जैसे शादी के समय आयु, जन्मदर, शिशुमृत्यु दर तथा महिलाओं का शैक्षिक स्तर (पुरुषों की तुलना में) अधिक सशक्त रहे हैं।

सारणी 2.1 : मोटे तौर पर पेशे के आधार पर निदर्श परिवारों का वितरण

पेशा समूह	परिवारों की सं.	परिवारों का प्रतिशत
खेत मजदूर	4, 340	16.88
कारीगर	1, 199	4.66
सीमांत किसान	4, 868	18.93
छोटे किसान	6, 893	26.81
मध्यम किसान	5, 892	22.91
बड़े किसान	281	1.09
वाणिज्य तथा व्यापार	614	2.39
व्यावसायिक तथा वेतन भोगी	1, 279	4.97
अन्य (फुटकर)	347	1.35
योग	25, 713	100.00

किसी एक परिवार के शैक्षिक स्तर के सूचकांक पर भी विचार किया जा सकता है जिसमें उस परिवार के सभी सदस्यों के शैक्षिक स्तर का समुच्चय प्रतिबिंबित हो। किसी एक परिवार के एक सदस्य द्वारा शिक्षा में बिताए गए वर्षों के महत्त्व के आधार पर वर्गीकरण के पहले भी प्रयास किए गए हैं (सीतारामु 1984)। चूंकि ग्रामीण जनसंख्या का शैक्षिक स्तर निरक्षरता की ओर बहुत बुरी तरह झुका हुआ है तथा प्रत्येक परिवार का आकार तकरीबन 5 सदस्योंवाला होता है, इसलिए समुच्चय सूचकांक निकालने पर परिवार में सबसे अधिक पढ़े-लिखे व्यक्ति के योगदान का सूचकांक बहुत नीचे आ जाना स्वाभाविक है। वास्तव में जिस अध्ययन (सीतारामु 1984) की ऊपर चर्चा की गई है, उसमें साफ तौर पर परिवार के मुखिया की शिक्षा तथा समग्र परिवार के शिक्षा का सह-संबंध दर्शाया गया है, जो 0.63 है। इस तरह की कोशिशों तथा अपने अध्ययन

की जरूरतों पर विचार करते हुए, हमने इस विश्लेषण में दो तरह के मापकों का उपयोग किया है : परिवार के मुखिया की शिक्षा तथा परिवार में प्रौढ़ पुरुष की शिक्षा का उच्चतम स्तर, क्योंकि अपने लिए इनको हमने सर्वाधिक उपयोगी पाया है।

शिक्षा के चार स्तरों का पता लगाया गया है : (अ) जहां कोई औपचारिक स्कूल शिक्षा नहीं है; (ब) एक से चार वर्ष के बीच की स्कूल शिक्षा; (स) पांच से सात वर्ष की स्कूल शिक्षा; (द) दस साल से ऊपर की स्कूल शिक्षा (इसमें कालेज की शिक्षा तथा हाईस्कूल के बाद की डिप्लोमा शिक्षा भी शामिल है)।

स्कूल शिक्षा के स्तरों का वितरण

यह बात साफ है कि पेशे पर आधारित समूहों (जिनको हमने परिभाषित किया है) और शिक्षा के स्तरों (सारणी 2.2) में बहुत गहरा संबंध है। हम देखते हैं कि सबसे कम शिक्षा पानेवालों में खेत मजदूर और सीमांत किसान की संख्या अधिक है जहां पर 80 प्रतिशत से अधिक परिवार के मुखिया लोगों की कोई भी औपचारिक शिक्षा नहीं हो पाई है। इसके बाद गांव के कारीगर और छोटे किसान हैं जिनकी स्थिति लगभग इनके जैसी ही है लेकिन इनकी शैक्षिक उपलब्धि स्पष्ट रूप से खेत मजदूरों और सीमांत किसान से अधिक है।

किसानों में शिक्षा का बढ़ता हुआ स्तर उनकी जोतों से जुड़ा हुआ है। विभिन्न शैक्षिक स्तरों पर परिवारों के मुखिया की तुलना करने पर यह तथ्य बार-बार सामने आता रहा है। किसानों के प्रत्येक समूह में सबसे बड़ा अनुपात बिना स्कूल शिक्षावाले परिवारों के मुखिया का है लेकिन वेतनभोगी व्यावसायिक समूहों में स्थिति इससे भिन्न है। इनमें परिवारों के मुखिया का अधिकतम अनुपात ऐसा है जिसकी स्कूल शिक्षा 8 से 10 साल तक की है।

इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि हर परिवार में सबसे अधिक पढ़े-लिखे पुरुष सदस्य की योग्यता उस परिवार के मुखिया की शैक्षिक योग्यता से प्रायः ज्यादा है। यह बात हर पेशेगत समूह में देखी जा सकती है। व्यावसायिकों अथवा वेतन भोगी लोगों के मामले में बढ़ोतरी अपेक्षाकृत काफी कम है। जहां परिवार के मुखिया का शैक्षिक स्तर काफी ऊंचा है वहां खेत मजदूर समेत पूरे खेतिहर समुदाय में परिवार का शैक्षिक स्तर बढ़ता नजर आता है। लेकिन ऐसा तब होता है जब हम परिवार के शैक्षिक स्तर को प्रौढ़ सदस्यों के उच्चतम शैक्षिक स्तरों के आधार पर दर्शाएं।

यद्यपि हमारी जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा, विशेष रूप से ग्रामीण इलाका, निरक्षर है फिर भी साक्षर जनसंख्या का अनुपात बढ़ता रहा है। ऐसा देखा गया है कि इन साक्षरों के बढ़ते अनुपात के बावजूद जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ निरक्षरों की वास्तविक संख्या भी बढ़ती रही है। जहां साक्षरों के अनुपात में इस बढ़ोतरी का कारण शैक्षिक कार्यक्रम, स्कूलों का विस्तार और विकासशील समाज की मांग है, वहीं यह

सारणी 2.2 : पेशे के आधार पर बने समूहों के परिवारों के मुखियों के शैक्षिक स्तर का वितरण

पेशेगत समूह	प्रतिशत परिवारों के मुखिया					कुल
	कोई स्कूल शिक्षा नहीं	1 से 4 साल की स्कूल शिक्षा	5 से 7 साल की स्कूल शिक्षा	8 से 10 साल	10 से ऊपर	
खेत मजदूर	90.3	5.1	3.2	1.4	0.1	100.0
कारीगर	71.1	13.9	11.3	3.7	-	100.0
सीमांत किसान	83.3	8.8	5.6	2.2	0.1	100.0
छोटे किसान	77.9	10.8	7.5	3.4	0.4	100.0
मध्यम किसान	67.0	13.0	12.3	6.6	1.2	100.0
बड़ा किसान	48.4	15.3	18.5	12.1	5.7	100.0
वाणिज्य/व्यापार	51.4	14.7	20.0	12.5	1.3	100.0
व्यावसायिक/वेतन	28.2	7.0	16.7	33.9	14.1	100.0
अन्य	76.2	6.1	7.8	7.2	2.6	100.0
सभी परिवार	74.7	10.0	8.6	5.25	1.2	100.0

सवाल हमारे मन में चिंता पैदा करता है कि क्या जनसंख्या को दी जानेवाली शैक्षिक सुविधाएं समाज के सभी वर्गों को बराबर-बराबर मिल पा रही हैं अथवा आर्थिक हैसियत तथा विभिन्न ग्रामीण वर्गों की शैक्षिक उपलब्धियों का फायदा उनकी अगली पीढ़ी में दिखाई देता है।

यहां हम चार आधारभूत सवालों के उत्तर देने की कोशिश करेंगे : (अ) समय बीतने के साथ ग्रामीण समाज के विभिन्न समूहों के शैक्षिक स्तर में कितना बदलाव आया है ? (ब) क्या समय बीतने के साथ ग्रामीण समाज के विभिन्न समूहों के शैक्षिक स्तर की असमानता कम हुई है ? (स) परिवारों के मुखिया सदस्य तथा अन्य सदस्यों की शैक्षिक उपलब्धियों में संबंध का स्वरूप क्या है ? (द) क्या स्कूल में बच्चों के दाखिले के समय परिवार की शैक्षिक स्थिति का दाखिले पर असर होता है ?

सामाजिक गतिशीलता के खाके में पूछे गए सवालों का संबंध स्तरीकृत समाजों से है। ऐसे समाज में गतिशीलता को नापते समय देखा जाता है कि जनसंख्या नीचे के स्तर की ओर जा रही है अथवा ऊपर की ओर ? ऊपर हमने जो सवाल रखे हैं, वे बहुत सटीक ढंग से इस खाके में नहीं रखे जा सकते हैं। बहरहाल, चार सवालों में से पहले दो सवाल सामाजिक गतिशीलता के मुद्दों से संबंधित मिलते-जुलते सवाल हैं, इसलिए इनको लेकर एक जैसा दृष्टिकोण और एक जैसी अध्ययन पद्धति अपनाई

जा सकती है और इनको पद्धति विषयक एक जैसी समस्याओं का सामना भी करना पड़ सकता है। अनुभवाश्रित अध्ययनों में इस समस्या पर उन पद्धतियों को अपनाया गया है जो सहसंबंध, समाश्रयण और पद्धति-विश्लेषण (ब्लाऊ और डंकन 1967 और अन्य कई विद्वान) अथवा संक्रमण के सांचे (बोडन 1973) पर आधारित हैं।

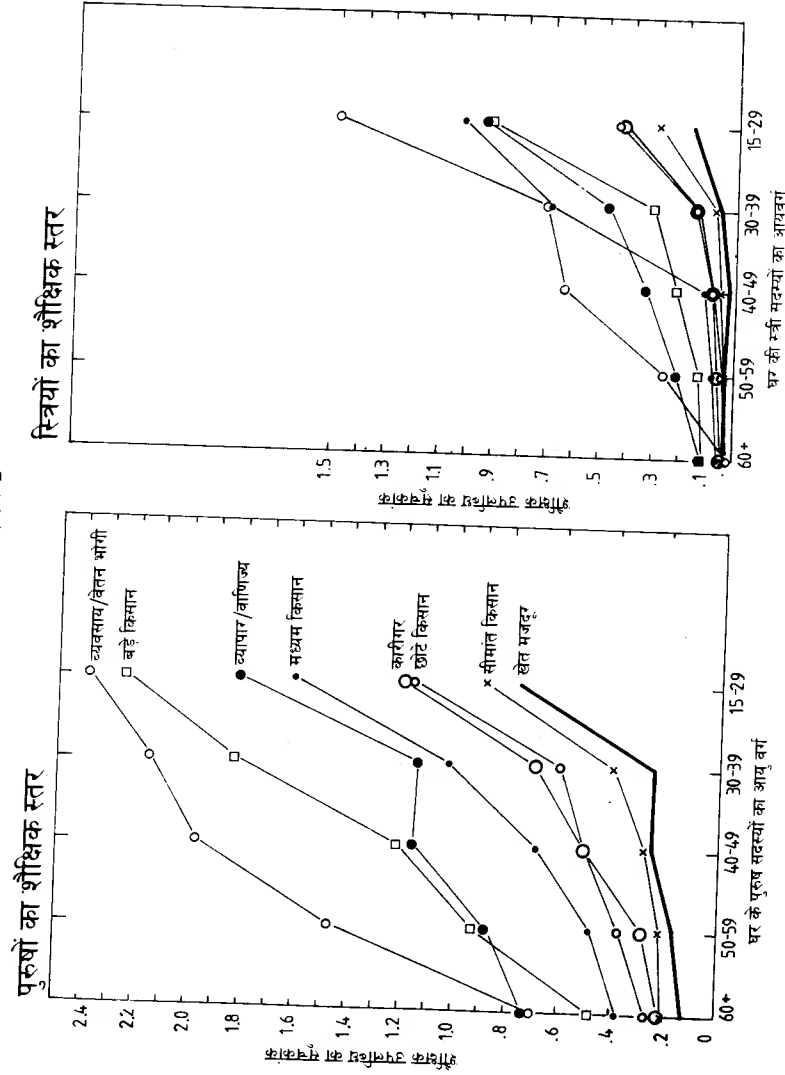
जनसंख्या के विभिन्न आयु वर्गों के स्त्री-पुरुषों की शैक्षिक उपलब्धियों की सामान्य भारित गणना समय बीतने के साथ शैक्षिक स्तर को बहुत तेजी से ऊपर ले जाती है। (चित्र 1) जहां तक गांव में पुरुषों के शैक्षिक स्तर का सवाल है, उनको देखने से पता चलता है कि जिनका जन्म स्वतंत्रता मिलने के बाद हुआ था, उनमें शैक्षिक विकास की गति बहुत तेज रही है। यदि हम उसी प्रकार के समूहों में स्वतंत्रता के पूर्व जन्मे लोगों से उनकी तुलना करें तो पता चलेगा कि इनकी शैक्षिक उपलब्धियों की रफ्तार काफी धीमी रही है। इस तीव्र वृद्धि को कमजोर वर्गों (15-29 वर्ष की आयु वर्ग में) में और स्पष्टता से लक्षित किया जा सकता है। इस प्रकार विभिन्न सामाजिक स्तरों में शैक्षिक उपलब्धियों का फर्क काफी कम हुआ है। लेकिन गांव की स्त्रियों की शिक्षा की गति बहुत मंद रही है। वैसे तो अधिक संपन्न तबकों की स्त्रियों में शिक्षा की गति आमतौर पर काफी ऊंची रही है, लेकिन 15-29 वर्ष के आयुवर्ग में इस विकास की गति को खासतौर पर देखा जा सकता है। इस तरह इनके चलते अलग-अलग तबकों के बीच शिक्षा के स्तरों में असमानता काफी बढ़ी है।

जब शैक्षिक उपलब्धियों की संयुक्त (मिली-जुली) संख्या को अलग-अलग करते हैं तो पता चलता है कि शैक्षिक पैमाने पर गांव के विभिन्न समूहों के अंतर को अंकित किया जा सकता है। इस काम को करने के लिए हम जनसंख्या के उस हिस्से को ले सकते हैं जो स्कूल नहीं गई है। इसके साथ उसे ले सकते हैं जिसने 10 साल अथवा उसके ऊपर कुछ साल स्कूल में बिताए हैं। जहां तक पुरुषों की शिक्षा का सवाल है, विभिन्न स्तरों के बीच आपस में (अंतर-स्तरीय) असमानता बहुत अधिक है। (सारणी 2.3) प्राइमरी स्कूल की शिक्षा के सार्वजनीकरण तथा स्कूल शिक्षाप्रणाली के आम विकास की कोशिशों के चलते शिक्षा के निचले स्तरों पर संभवतः विभिन्न तबकों के बीच की असमानता कम हुई है। यही प्रवृत्ति स्त्री शिक्षा के विषय में दिखाई पड़ती है।

दो वर्गों के एक ही आयु समूह के आपसी अंतरों के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि (i) आमतौर पर विभिन्न वर्गों में पुरुषों के शैक्षिक स्तर में अधिक अंतर है, (ii) पुरुष जनसंख्या में हाल के वर्षों में स्कूल शिक्षा के हर स्तर पर अंतर कम होने की प्रवृत्ति दिखाई देती है; (iii) शिक्षा के उच्च स्तर पर महिलाओं की शिक्षा में दो वर्गों के बीच की खाई गहरी हुई है।

इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि शैक्षिक स्तर के लिहाज से विभिन्न वर्गों के बीच असमानताएं कम हो रही हैं और यह भी शिक्षा के पैमाने के दोनों ही छोरों पर असमानताओं में बहुत बड़ा अंतर है। इससे यह बात जाहिर होती है कि

चित्र-2



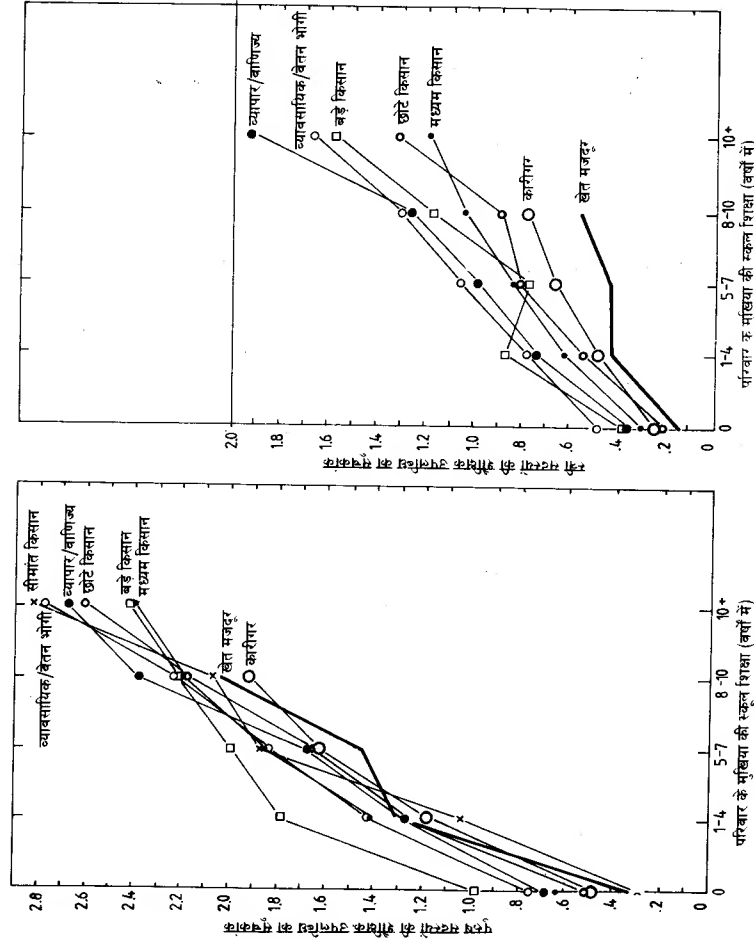
सारणी 2.3 : ग्रामीण समूहों में स्कूल शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर प्रतिशत जनसंख्या में परिवर्तन के गुणांक

शैक्षिक स्तर	आयु वर्ग							
	पुरुष				स्त्री			
	15-29	30-39	40-49	50-1	15-29	30-39	40-49	50-1
कोई स्कूल शिक्षा नहीं	6.0	6.9	7.5	3.3	1.6	1.6	1.3	0.1
1-4 वर्ष की स्कूल शिक्षा	0.5	0.9	1.2	1.3	0.5	2.2	1.9	1.0
5 से 7 वर्ष की स्कूल शिक्षा	0.3	1.4	4.3	4.0	2.8	4.1	5.8	0.8
8 से 10 वर्ष की स्कूल शिक्षा	3.6	7.8	10.2	7.9	5.9	5.1	2.9	0.4
10 साल से ऊपर की स्कूल की शिक्षा	5.8	7.5	6.2	1.7	1.5	0.3	0.3	0.5

एक समूह की निरक्षरता के कारण होनेवाला नुकसान कालांतर में भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है तथा छनने की प्रक्रिया काम कर रही है जिसके कारण कमजोर वर्गों का बहुत बड़ा तबका स्कूल शिक्षा को बरकार रखने में असमर्थ है। दूसरी ओर संपन्न वर्ग के अधिकाधिक लोग शिक्षा के ऊपरी शिखर पर पहुंचने में कामयाब हो रहे लेकिन इनका अनुपात फिर भी बहुत कम है। यह शिक्षा का भेदभावपूर्ण विकास है। इसका प्रभाव भावी पीढ़ी की शैक्षिक उपलब्धि पर पड़ता है। यह प्रभाव उस आर्थिक और सामाजिक प्रभाव के अतिरिक्त है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

परिवार के मुखिया की शैक्षिक उपलब्धि तथा परिवार के अन्य सदस्यों की शैक्षिक उपलब्धि के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करके इस प्रक्रिया का और अधिक विश्लेषण किया जा सकता है। इस संबंध को दर्शानेवाले आनुभविक प्रमाण को चित्र 2 में प्रस्तुत किया गया है। इस चित्र में जिन बातों के संकेत मिलते हैं, उनको इस प्रकार रखा जा सकता है। (i) परिवार के मुखिया की शिक्षा का सर्वाधिक असर घर के पुरुष सदस्यों पर दिखता है। (ii) घर के मुखिया का शैक्षिक स्तर स्कूल-शिक्षा की दृष्टि से जैसे बढ़ता है (एक से चार वर्ष तक) वैसे-वैसे घर के सदस्यों की शैक्षिक उपलब्धि में उल्लेखनीय वृद्धि होती है। परिवार के मुखिया सदस्यों को 1-4 वर्ष से बढ़ाकर 5-7 वर्ष की स्कूल शिक्षा प्राप्त करने से घर के अन्य सदस्यों को मिलनेवाले फायदे अपेक्षाकृत कम होते हैं। लेकिन यदि घर के मुखिया को स्कूल शिक्षा अधिक मिलती है (8 से 10 वर्ष तक) तो हम पाते हैं कि घर के दूसरे सदस्यों की शैक्षिक उपलब्धियां काफी अधिक हैं जिनको हम उल्लेखनीय उपलब्धियां कह सकते हैं।

चित्र-3



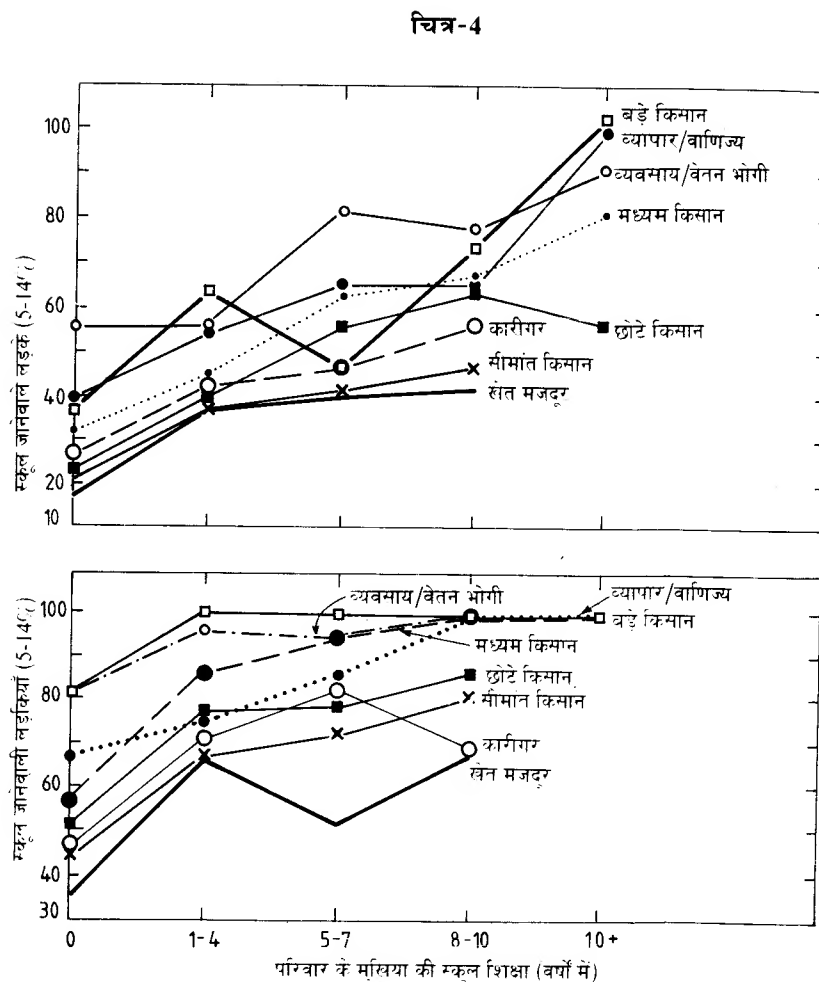
जैसा कि परिवार के मुखिया सदस्यों से पता चला कि लगभग 67 प्रतिशत बालक और 40 प्रतिशत बालिकाएं, जिनकी आयु 5-14 वर्ष की है, स्कूल में पढ़ने जाते हैं। पेशों में भिन्नता और बालकों के नामांकन में घनिष्ठ संबंध हैं (चित्र 3)। यहां तक कि जिन परिवारों के मुखिया निरक्षर हैं, कुछ विशेष पेशों के लोगों के बच्चों की नामांकन दर काफी ऊंची है। परिवार के मुखिया सदस्यों की शैक्षिक उपलब्धि का उनके बच्चों के नामांकन की दर पर प्रभाव इस प्रकार के समूहों में कम ही दिखलाई पड़ता है, विशेष रूप से उन समूहों में, जो गैर परंपरागत ग्रामीण पेशों से जुड़े हुए हैं।

बालिकाओं के दाखिले में ऊंची दर की प्रवृत्ति वहां लक्षित होती है जहां परिवार के लोग तकनीकी पेशों/नौकरी और वेतनभोगी सेवाओं में लगे हुए हैं। विभिन्न समूहों में अंतर काफी कम है तथा परिवार के मुखिया का शैक्षिक स्तर जहां काफी ऊंचा है, वहां इसका प्रभाव बालिकाओं के नामांकन दर पर भी है। बहरहाल एक ओर जहां परिवार के मुखिया की शिक्षा का स्तर जिस क्रम से ऊपर उठता है वहां उसी क्रम से आमतौर पर नामांकन की दर में बढ़ोतरी होती है लेकिन लगभग 50 प्रतिशत नामांकन की दर वहां होती है, जहां परिवार के मुखिया की स्कूल शिक्षा कमजोर वर्गों में 8-10 वर्ष के बीच अथवा उससे भी अधिक होती है। लेकिन धनी किसानों के मामले में जहां स्कूल की शिक्षा 1-4 वर्ष की है वहां पर नामांकन का स्तर 60 प्रतिशत दिखाई देता है। यही बात उस वर्ग के विषय में भी सच है जो गैर-परंपरागत व्यवसायों से जुड़े हुए हैं।

जब हम चतुष्कोणिक सहसंबंधों का अध्ययन करते हैं (सारणी 2.4) तो कुछ और दिलचस्प बातें हमारे सामने आती हैं। पहली बात है कि आर्थिक हैसियत के साथ घर के मुखिया सदस्यों की शिक्षा में बढ़ोतरी से बालकों का नामांकन भी बढ़ जाता है। दूसरी बात है कि घर के मुखिया की 10 साल से ऊपर की स्कूल शिक्षा का बालकों के नामांकन पर नाममात्र का असर होता है। लेकिन लड़कियों के नामांकन से इसका घनिष्ठ संबंध है। यह प्रभाव संपन्न वर्गों पर खास तौर से देखा जा सकता है। तीसरी बात है कि इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि बालकों के नामांकन को प्रभावित करनेवाली शुरुआती शिक्षा की तुलना में बालिकाओं के नामांकन को प्रभावित करने के लिए उच्चतर स्तर की शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। चौथी बात यह कि ग्रामीण समूहों में आर्थिक हैसियत में अंतर का घर के मुखिया की शिक्षा तथा स्कूलों में बालिकाओं के नामांकन के संबंध पर असर पड़ता है।

कृषि का आधुनिकीकरण और सामाजिक जागरूकता

सामाजिक जागरूकता और परिवारों से उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर हमने नीचे लिखे सूचक निर्धारित किए :



सारणी 2.4 : परिवार के मुखिया के शैक्षिक स्तर और स्कूलों में बच्चों के (5-14 आयु) नामांकन के बीच चतुष्कोणिक सहसंबंध

उपसमूह	बिना स्कूल शिक्षा और 1 से 4 साल की स्कूल शिक्षा		चार साल से कम और 5-7 साल की स्कूल शिक्षा		सात साल से कम और 8-10 साल की स्कूल शिक्षा		दस साल से कम और दस साल से ऊपर की स्कूल शिक्षा	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
खेत मजदूर	.14	.13	-	.10	.07	.14	-	-
कारिगर	.19	.13	.21	.12	-	.11	-	-
सीमांत किसान	.11	.13	.12	.12	.09	.08	-	-
छोटा किसान	.17	.14	.13	.20	.10	.14	-	.04
मध्यम किसान	.19	.11	.21	.16	.15	.13	.06	.09
बड़ा किसान	.25	.25	.18*	-	.15*	.20	-	.19
व्यवसाय/वाणिज्य	-	-	.18	.19	.21	-	-	.12
नौकरी पेशा/वेतन भोगी	-	-	-	.23	.14	.15	.10	.17
अनुसूचित जाति	.14	.04	.13	.10	.06	.10	-	.05

टिप्पणी : केवल उन मूल्यों को लिया गया है जिनके लिए कोई वर्ग महत्वपूर्ण है,

* ये मूल्य बेकार हो चुके हैं क्योंकि इनके पूर्व के स्तर पर शतप्रतिशत नामांकन हो चुका है।

1. फार्म परिसंपत्तियों के स्वामित्व के रूप में व्यक्त होनेवाले कृषि के यंत्रीकरण का स्तर;
2. कृषि के उन्नत तौरतरीकों के उपयोग का स्तर जैसे, उच्च उत्पादकतावाले बीज की किस्में, रासायनिक उर्वरक, कीटनाशियों का प्रयोग और अदल-बदल कर फसलें बोना;
3. कृषि की वित्तव्यवस्था और विपणन के लिए सार्वजनिक संस्थाओं से संपर्क;
4. सामाजिक प्रक्रियाओं में भागीदारी तथा सामाजिक संपर्क की सीमा, मसलन संचार माध्यमों (अखबार) से संपर्क, सहकारी संगठनों की सदस्यता, अन्य स्वैच्छिक संगठनों की सदस्यता, निजी डॉक्टरों और सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों द्वारा उपलब्ध सुविधाओं का उपयोग, आधारभूत जरूरतों के लिए चलाए जानेवाले कार्यक्रमों का फायदा उठाने की योग्यता (इसमें जनता आवास/आवास के लिए निःशुल्क जमीन आदि पाना शामिल है)।

कृषि में आधुनिकीकरण के स्तर को मापने के लिए कृषि उत्पादन में गैरपरंपरागत आगतों (इनपुट्स) पर विचार किया जा सकता है मापने के लिए अपनाए गए इस प्रकार के दृष्टिकोण में सामूहिक (समवेत) रूप में या अलग-अलग आधुनिक वस्तुओं के व्यवहार को लेकर विचार कर सकते हैं। इस प्रकार से मापने के प्रयास पहले भी किए गए हैं। (चौधरी 1968, 1974; राव तथा शेटी 1968)। इसकी उलटी दिशा से विचार करें तो इन चीजों के उपयोग का असर खेत की उपज में अथवा अतिरिक्त उत्पादन में दिखाई पड़ना चाहिए। इस तकनीक का भी इसके लिए इस्तेमाल किया गया है (एडल्टन और डाल्टन 1971; चौधरी 1968, 1974; हॉकर 1974)। कृषि में आधुनिक तौरतरीकों के विवेचन में व्यक्तिगत तौरतरीकों पर विचार करना संभव है (चौधरी 1968, 1974) अथवा भारत सूचकांक के किसी रूप को भी इसके लिए अपनाया जा सकता है (जैसा कि एडल्टन और डाल्टन 1971; राव तथा शेटी 1968; सिंह 1969 ने किया है)।

यद्यपि गैर खेतिहरों समेत विभिन्न पेशों में अधिकांश समूहों के पास जमीन है और वे खेती भी करते हैं, कृषि कार्य के आधुनिकीकरण की प्रासंगिकता उन समूहों के लिए ही है जो 85 प्रतिशत से अधिक खेतिहर जमीन के मालिक हैं। इसलिए केवल इन चार समूहों को ही विश्लेषण में शामिल किया गया है : सीमांत किसान, छोटे किसान, मध्यम किसान और बड़े किसान।

इस बात को एक बार और कह देना चाहते हैं कि सूचकों को दुहरे पैमाने पर मापा जाता है जैसे किसी चीज या विधि का उपयोग करना या उसका उपयोग न करना, खेती के विशेष औजार रखना, न रखना, उसका उपयोग करना या न करना। इस बात को भी मद्देनजर रखना जरूरी है कि सूचकों की इन कोटियों में, उपकरणों का रखना परिवार की आर्थिक क्षमता से बहुत अधिक प्रभावित होगा। इसकी तुलना में राज्य संस्थाओं और नई कृषि विधियों का उपयोग इससे कम प्रभावित होगा।

इस बात के काफी दृढ़ संकेत हैं कि गरीब किसानों में आरंभिक स्कूलशिक्षा काफी महत्वपूर्ण है और उसका प्रभाव भी अधिक है लेकिन इसके आगे की स्कूलशिक्षा का प्रभाव संपन्न किसानों पर अधिक उल्लेखनीय है (सारणी 2.5)। जिन समूहों पर इसका सर्वाधिक लाभकारी प्रभाव होता है, वे हैं मध्य तथा बड़े किसान।

हमें यह भी पता चलता है कि भूमि विकास बैंक का संसाधन के रूप में उपयोग करने के लिए ऊंची शैक्षिक योग्यता की जरूरत होती है। कुछ हद तक यही बात वाणिज्यिक बैंकों के विषय में भी सच है, यदि उनका इस्तेमाल कृषि ऋणों के लिए किया जाए। शिक्षा के कारण लगभग किसानों के सभी वर्गों के लिए वित्तीय संसाधन के रूप में सहकारी क्षेत्र का उपयोग करने की संभावना बढ़ जाती है।

खेती के औजारों और उपकरणों के स्वामित्व का संबंध चूँकि किसानों की क्रय शक्ति के साथ होता है इसलिए विभिन्न वर्गों के किसानों का इस विषय में बहुत अधिक अंतर का होना बहुत आश्चर्यजनक नहीं लगता है। किसानों के एक ही वर्ग में इन उपकरणों के स्वामित्व में, शिक्षा के स्तर के कारण, काफी अंतर दिखाई पड़ता है।

(चित्र 4)। हम यह भी देखते हैं कि जैसे-जैसे मध्यम और बड़े किसानों की शैक्षिक उपलब्धि बढ़ती जाती है, उसी तरह उनके पास खेती के उपकरणों की संख्या भी अधिक होती जाती है। लेकिन छोटे तथा सीमांत किसानों में शिक्षा के कारण यह प्रतिक्रिया बहुत मंद है। सीमांत किसान थोड़ा बहुत भी यदि शिक्षित हो जाता है तो सिंचाई के कुएं तथा पंपसेट उसके पास बढ़ जाते हैं। लेकिन उसके बाद यदि कुछ समय और वह लगातार स्कूलशिक्षा ग्रहण करता रहता तो इस अतिरिक्त शिक्षा का उसकी खेती पर नाममात्र का ही असर होता है। इस प्रकार एक सीमा के बाद आगे न बढ़ पाना उसकी आर्थिक विवशता है।

जहां सीमांत किसान पर आरंभिक स्कूलशिक्षा का ही असर देखने को मिलता है, वहां मध्यम और बड़े किसानों पर उच्च शिक्षा का महत्वपूर्ण प्रभाव दिखाई पड़ता है। यदि सह-संबंधों पर निगाह डालें तो भी प्रभाव सीमांत किसान, फिर छोटे किसान, मध्यम किसान और बड़े किसान की ओर क्रमशः बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है। ऐसा आर्थिक क्षमता के कारण संभव है जिसके चलते शिक्षा के ऊंचे स्तर पर पहुंचने के बावजूद गरीब किसान की तरक्की में कुछ नया नहीं जुड़ पाता है। जो प्रगति धनी किसान की आर्थिक शक्ति के कारण होती है, उसकी वजह कम स्कूलशिक्षा प्राप्त धनी किसान तथा बिना शिक्षावाले संपन्न किसान का अंतर धुंधला हो जाता है।

तीन आधुनिक व्यवहारों पर, जिन्हें कृषि में अपनाया गया है, यहां विचार किया गया है। वे हैं : उर्वरकों का इस्तेमाल, कीटनाशक दवाएं और अधिक उपज देनेवाले अथवा सुधरी किस्मोंवाले बीज चूँकि ये तीनों ही व्यवहार पक्की जल की आपूर्ति पर निर्भर करते हैं, इसलिए खुश्क जिले में इसकी संभावना कम हो जाती है। जब हम वित्तीय संसाधनों तथा उपकरणों को रखने के मामले पर विचार करते हैं तो किसानों के विभिन्न वर्गों में बहुत अधिक समानता नजर आती है।

कृषि के आधुनिकीकरण के इन तीन पहलुओं में, जहां तक हम समझते हैं, शिक्षा के अंतरों का स्पष्ट प्रभाव खेती के व्यवहारों (फार्म प्रैक्टिसेज) में दिखाई देता है (चित्र 5) लेकिन यह भी सच है कि विभिन्न वर्गों के किसानों की आम राय का पैटर्न मोटे तौर पर एक जैसा ही है। सीमांत किसानों की बहुत ही मंद प्रतिक्रिया और छोटी, मध्यम तथा बड़ी जोतवाले किसानों की बढ़ती हुई प्रतिक्रिया से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है दूसरी तरफ यह भी देखने में आया है कि तकरीबन सारे मामलों में पढ़े-लिखे और बिना पढ़े-लिखे किसानों के बीच नगण्य अंतर है। कुछ दूसरे मामलों में, मसलन अधिक उपज देनेवाले बीज की किस्मों को अपनाने की क्रिया की दर कम पढ़े-लिखे लोगों में नीचे गिरती हुई दिखाई देती है। इस बात को हम इस तरह स्पष्ट कर सकते हैं : इसके प्रचार का असर विभिन्न मात्रा और अलग-अलग रूपों में हुआ है। इस असर के कम या ज्यादा होने से इसको अपनाने में कोई पिछड़ गया है तो कोई आगे निकल गया है।

ऊपर दो पहलुओं पर विचार करने के दौरान हमने देखा था कि गरीब किसान

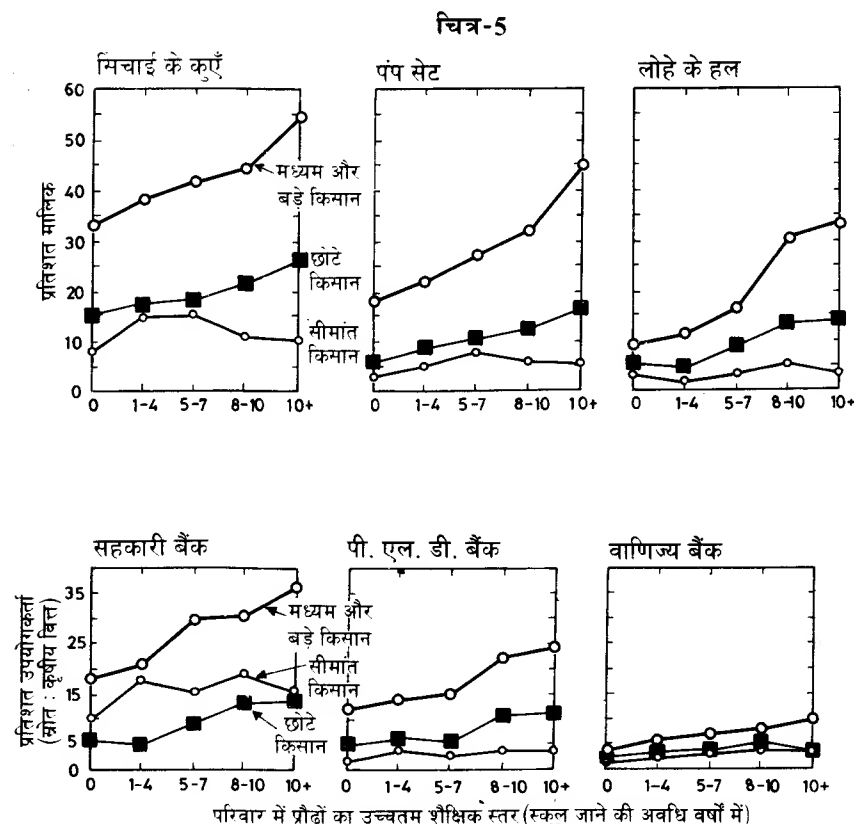
सारणी 2.5 : कृषि के आधुनिकीकरण के सूचकों और शिक्षा के स्तरों के बीच चतुष्कोष्ठिक सहसंबंध

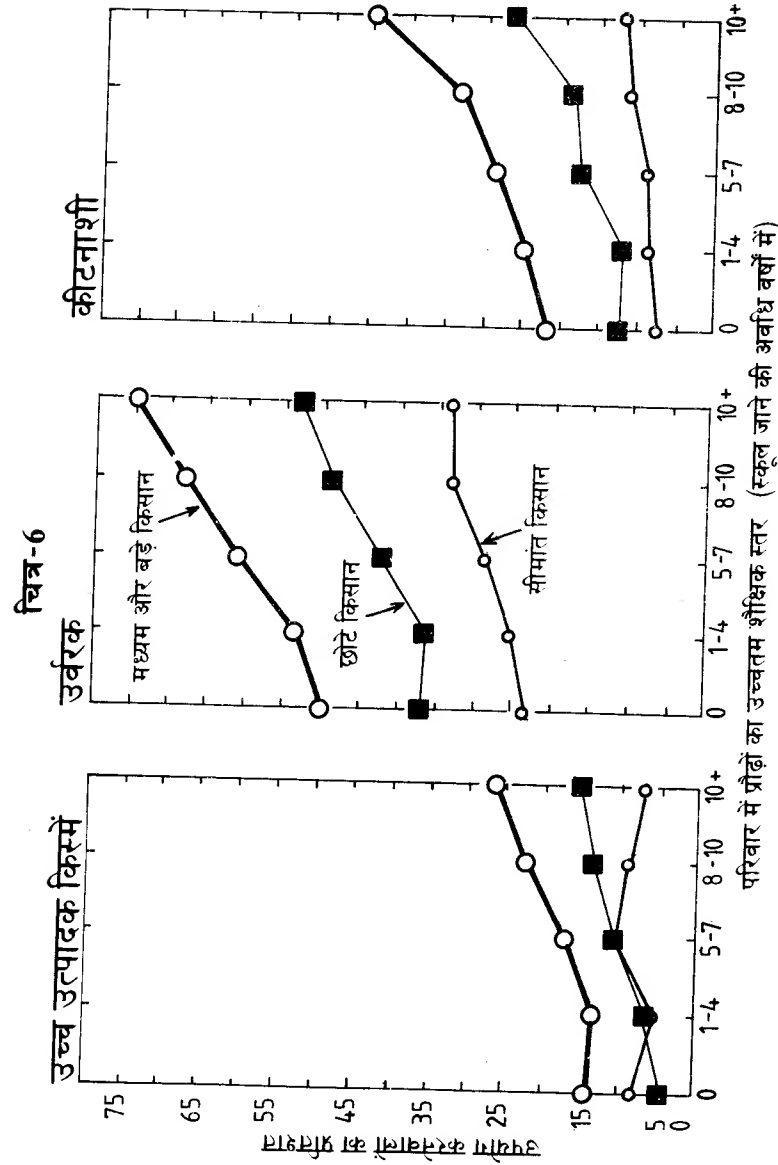
संकेतक	सीमांत किसान				छोटे किसान				मध्यम/बड़े किसान			
	1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4
सहकारी समितियों से वित्त	.08	-	.06	-	.08	.08	.10	.05	-	.10	.09	.11
भूमि विकास बैंकों से वित्त	.05	-	-	-	-	-	.06	.04	-	-	.12	.09
वाणिज्य बैंकों से वित्त	-	-	-	-	.04	-	-	-	-	-	.06	.07
सिंचाई के कुएं	.08	.06	-	-	-	-	.05	.06	-	-	.08	.12
पंपसेट	.04	.07	-	-	.04	.05	.06	.07	-	.09	.12	.17
लोहे के हल	-	-	-	-	-	.04	.09	.05	-	.09	.23	.15
उच्च उत्पादकता वाली किस्में	-	.08	.05	-	-	-	.06	.08	-	-	.09	.09
खाद	-	-	.06	-	-	.04	.08	.06	-	.09	.13	.13
कीट नाशक	-	-	-	-	-	.06	.05	.08	-	-	.11	.15

नोट : केवल सार्थक मानों (काई-वर्ग) को ही दर्ज किया गया है। 1, 2, 3 और 4 में विद्या शिक्षा के स्तर तथा परिवर्तन के बीच के सह संबंधों को दर्शाया गया है। पहले कालम में 1-4 वर्ष, दूसरे में 4 से कम से लेकर 5-7 वर्ष के बीच, तीसरे में 7 वर्ष से कम से लेकर 8-10 वर्ष के बीच और चौथे में 10 से कम से लेकर उससे आगे की स्कूल शिक्षा को क्रमशः दर्शाया गया है।

अपने बच्चों की स्कूली शिक्षा जारी रखने में असमर्थ हैं। इसके ठीक विपरीत हम देखते हैं कि खेती के नए तौर-तरीके अपनाने में उच्च शिक्षा प्राप्त किसान की प्रतिक्रिया सकारात्मक है, यद्यपि एकाध लोग इसके अपवाद भी हैं। जैसा कि कृषि के आधुनिकीकरण के अन्य पहलुओं के विषय में सच है; हम पाते हैं कि जैसे-जैसे जोतों का आकार बढ़ता जाता है, उसके बढ़ने के साथ ही शैक्षिक उपलब्धि भी बढ़ती जाती है, और खेती के नए-नए तौर-तरीके अपनाने की दर भी।

सामाजिक भागीदारी और सामाजिक संपर्क की सामान्य मिश्रित रेखा की गणना जब हम पहले बताए गए छः चरों को आधार बना कर करते हैं और तुलना के लिए इनको जब शैक्षिक स्तरों के आमने-सामने तथा दूसरे वर्गों के साथ रखते हैं तो पाते हैं कि शैक्षिक पैमाने पर असमानता साफ-साफ दिखाई देती है और एक ही वर्ग के





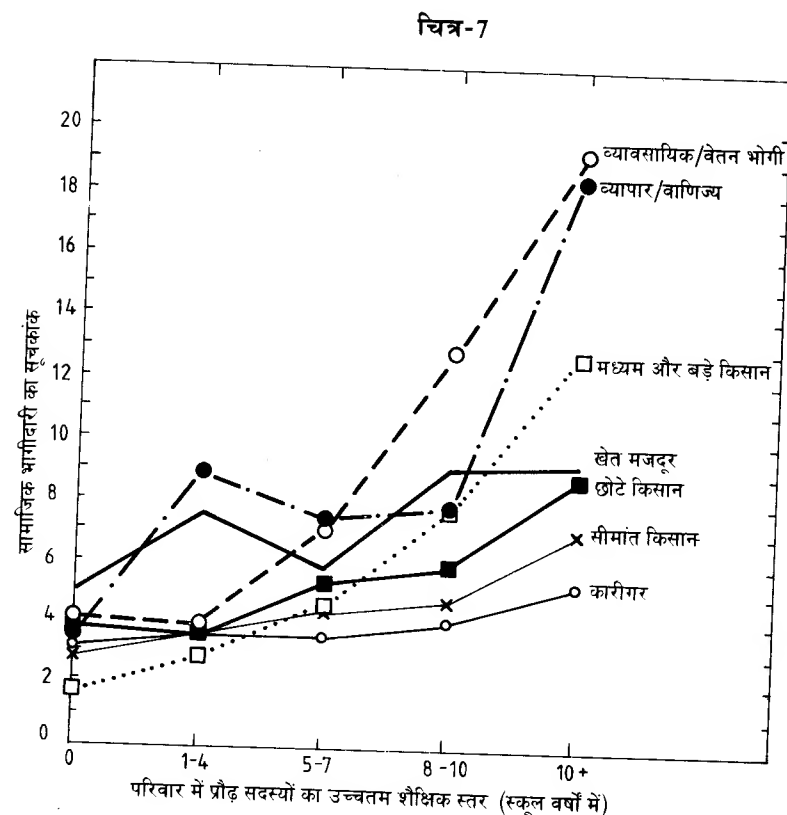
भीतर विचलन की मात्रा कम हो जाती है (चित्र 6) ध्यान देने की बात यह है कि सामाजिक भागीदारी और सामाजिक संपर्क के जिन सूचकों को ऊपर संयोजित किया गया था, उनका रूप मिश्रित था। कुछ विशेष सामाजिक स्तर के लोगों के लिए कुछ चर प्रासंगिक थे, मसलन जनता आवास योजना या आवास के लिए निःशुल्क भूमि खास तौर से कमजोर वर्ग के लोगों के लिए थे। लेकिन सहकारी संस्थानों की सदस्यता, भूस्वामियों और जोतदारों दोनों के लिए उपलब्ध थी और इस प्रकार के चर जैसे समाचार पत्रों के पाठक होने का या स्वैच्छिक संगठनों की सदस्यता का झुकाव वेतनभोगी/व्यावसायिक लोगों के वर्ग के पक्ष में था।

चूंकि विशेष कार्यक्रम खास तौर से कमजोर वर्गों के लिए नियोजित किए गए थे, सामाजिक भागीदारी के पैमाने पर, सबसे कम हैसियत रखनेवाले कृषि श्रमिकों के समूह में भी काफी अच्छा मूल्य अर्जित करने की प्रवृत्ति दिखती है। सामाजिक समता की दृष्टि से यह काफी दिलचस्प है कि इस मामले में ऊंचे अंक कुछ शैक्षिक आगतों से आकस्मिक रूप से संबद्ध हो गए प्रतीत होते हैं। (जैसे 1-4 वर्ष की अवधि की स्कूल शिक्षा) लेकिन जहां तक सामाजिक भागीदारी का सवाल है, सीमांत किसान शैक्षिक आगतों में अंतर के चलते सबसे कम प्रभावित हैं।

आंकड़ों के विवेचन से एक काफी दिलचस्प तथ्य उद्घाटित होता है कि खेतिहर मजदूरों और बड़ी जोतवाले किसानों, दोनों को ही उच्च शैक्षिक आगतों (5-7 वर्ष और 10 वर्ष और उसके आगे की शिक्षा से) से दोनों को और अधिक लाभ होता है। लेकिन इन दोनों ही मामलों में सामाजिक भागीदारी बढ़ाने में योगदान के लिए एकदम अलग तरह के सूचकों की जानकारी मिली है। खेतिहर मजदूर जहां निःशुल्क आवास भूमि और जनता आवास योजनाओं से लाभान्वित हुए हैं, वहीं बड़ी जोतवाले किसानों ने संचार माध्यमों के संपर्क और सहकारी संगठनों की सदस्यता का लाभ उठाया है।

शिक्षा के संदर्भ में लोगों की प्रतिक्रिया में इतनी स्पष्ट बढ़ोतरी के बावजूद, ऐसा देखने में आया है कि शिक्षा के निचले स्तर पर सहकारी संगठनों की सदस्यता और ऊपर के स्तर पर समाचार पत्रों के संपर्क में सांख्यिकीय दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं। (सारणी 2.6)। सीमांत किसानों की श्रेणी को छोड़कर, जहां लगता है कि ऊंचे स्तर की स्कूलशिक्षा की उपलब्धियां सरकारी योजनाओं से होनेवाले फायदों से जुड़ी हैं, निःशुल्क आवास भूमिका वितरण और जनता आवास योजना सरीखे कार्यक्रमों के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया इनसे फायदा उठानेवालों की अन्य सभी कोटियों के शैक्षिक स्तर से जुड़ी तो हैं लेकिन अत्यंत नगण्य रूप में।

सारणी 2.6 : शैक्षिक स्तर और सामाजिक भागीदारी के बीच चतुष्कोणिक सहसंबंध



निःशुल्क आवास स्थल	जनता आवास	सहकारी संगठनों की सदस्यता	स्वैच्छिक संगठनों की सदस्यता	समाचार पत्रों से संपर्क
1 2 3 4	1 2 3 4	1 2 3 4	1 2 3 4	1 2 3 4
खेत मजदूर		08.05.07		
कारीगर				.16
सीमांत किसान	19	.10 .07 .07		.14
छोटे किसान		.10 .12		.08
मध्यम-बड़े किसान	.05 .015 .15 .17		.08	.22 .20
व्यापार/वाणिज्य		.16 .16		.29 .20
व्यावसायिक/वेतनभोगी		.13	.15 .13	.14

टिप्पणी : जहां कोई वर्ग 1 प्रतिशत स्तर पर महत्वपूर्ण है, उन्हीं सहसंबंधों का अंकन किया गया है। 1,2,3,4, से शैक्षिक स्तर में शून्य से 1-4 वर्षों के बीच हुए परिवर्तन को सूचित किया गया है। 4 वर्ष से कम से लगाकर 5-7 वर्ष, 7 से कम से लगाकर 8-10 वर्ष तक और 10 से लगाकर 40 से ऊपर तक को चौथी श्रेणी में क्रमशः रखा गया है।

जनांकिकीय प्रतिक्रिया

किसी जनसंख्या की जनांकिकीय विशेषताओं और उस जनसंख्या के शैक्षिक स्तर के साथ उसके संबंध ने जनांकिकीय साहित्य में लोगों का ध्यान काफी आकर्षित किया है। लेकिन जहां तक भारत का सवाल है, यहां व्यष्टि स्तर पर उपलब्ध आनुभविक प्रमाण अपेक्षाकृत अपर्याप्त हैं। इसलिए हमारा सुझाव है कि हम शिक्षा तथा जनांकिकी के पारस्परिक संबंधों की जांच करें, जो कि उपलब्ध आंकड़े हमें कम संवेदनशील सूचकों का उपयोग करने के लिए विवरण करते हैं। ये सूचक हैं, महिला और उसके बच्चे का अनुपात और शादी के समय लड़कियों की आयु।

बच्चा तथा महिला के बीच अनुपात, जनन शक्ति पर शिक्षा के नकारात्मक पक्ष को उजागर करता है (सारणी 2.7)। अनुसंधानों से बार-बार मिले निष्कर्षों से यह बात रेखांकित होती है कि महिलाओं को शिक्षित करना सबसे बड़ा गर्भनिरोधक है। उपलब्ध आंकड़े भी इसी बात की ओर इशारा करते हैं कि अपनी आरंभिक अवस्था में शिक्षा

सारणी 2.7 शैक्षिक स्तर के आधार पर बच्चा तथा स्त्री का अनुपात*

परिवार उप-समूह	परिवार में सबसे ज्यादा शिक्षित वयस्क की शिक्षा पाने की अवधि					सभी परिवार
	0	1-4	5-7	8-10	10+	
कमजोर वर्ग**	772	792	726	701	687	757
किसान***	678	714	636	614	591	646
व्यापार/वाणिज्य	730	800	992	738	760	760
व्यावसायिक/वेतन भोगी	817	712	766	955	665	665
सभी परिवार	751	764	703	676	629	723

* 5 साल से कम आयु के बच्चे, हाल में हुई शादी 15-40 वर्ष आयु वर्ग की प्रति हजार महिलाएं;

** इसमें खेत मजदूर, कारीगर, सीमांत और छोटे किसान शामिल हैं;

*** इसमें मध्यम तथा बड़े किसान शामिल हैं।

जनन क्षमता की तुलना में मृत्युदर को ज्यादा प्रभावित करती है। प्रारंभ में शिक्षा के साथ थोड़ा संपर्क होने पर यह अनुपात स्वाभाविक रूप से बढ़ता है लेकिन यदि स्कूल की शिक्षा बीच में बंद नहीं हो जाती तो यह अनुपात तेजी से घटता है।

इस सर्वेक्षण के ठीक पहलेवाले साल में 3,007 विवाहों की सूचना दी गई है। इनमें से लगभग 30 प्रतिशत लड़कियों की उम्र 15 वर्ष या उससे भी कम थी और लगभग 8 प्रतिशत लड़कियों की उम्र 21 वर्ष या इससे ऊपर थी। (सारणी 2.8) और विवाहित लड़कियों की सर्वाधिक संख्या (यानी कुल संख्या का 30 प्रतिशत) 18 साल की उम्रवाली थी। परिवार के मुखिया के शैक्षिक स्तर ऊपर उठने के साथ ही शादी की उम्र में भी (लड़की के) बढ़ोतरी की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। 18 साल से कम उम्रवाली शादियों के अनुपात में कमी और परिवार के मुखिया की शिक्षा का स्तर ऊपर उठने पर इस उम्र से अधिक उम्रवाले अनुपात में वृद्धि से इसका संकेत मिलता है। यह काफी दिलचस्प बात है कि इसकी अच्छाई और अधिक बढ़ जाती है जब हम घर के मुखिया की शिक्षा की तुलना परिवार के उच्चतम शिक्षा प्राप्त किसी वयस्क सदस्य से करते हैं।

परिवार के मुखिया की शिक्षा का लड़कियों की शादी पर पड़नेवाले प्रभाव और उस परिवार के पेशे से कोई संबंध दिखाई नहीं पड़ता है। शिक्षा का स्तर बढ़ने से शादी की औसत आयु में बढ़ोतरी हर पेशा समूह में दिखाई पड़ती है (सारणी 2.9)।

सारणी 2.8 : दुल्हन की उम्र और परिवार के मुखिया की शिक्षा के आधार पर शादियों का वितरण

घर के मुखिया की स्कूली शिक्षा वर्षों में	दुल्हनों की उम्र शादी का प्रतिशत				
	15 से कम	16-17	18	19-20	20+
0	25	26	23	13	7
1-4	25	22	34	14	5
5-7	18	23	31	17	11
8-10	8	19	34	26	13
10+	3	3	34	26	13
सभी परिवार	23	24	30	15	8

सारणी 2.9 : परिवार के मुखिया के शैक्षिक स्तर के अनुसार स्त्रियों की शादी की उम्र का माध्य

उपसमूह	परिवार के मुखिया के स्कूल शिक्षा की अवधि					कुल योग
	0	1-4	5-7	8-10	10-1	
कमजोर वर्ग*	16.7	17.4	17.5	18.3**	-	16.9
किसान***	17.1	17.4	17.7	17.9	19.1	17.3
व्यापार/वाणिज्य****	-	-	-	-	-	17.7
वेतनभोगी/व्यवसाय	18.1	-	17.6	18.9	20.2	18.4
सभी परिवार	16.9	17.8	17.6	18.3	19.6	17.2

* इसमें खेत मजदूर, कारीगर और सीमांत तथा छोटे किसान शामिल हैं;

** इसमें मध्यम तथा बड़े किसान शामिल हैं;

*** इसमें 10 वर्ष की स्कूल शिक्षावाले कुछ परिवारों को लिया गया है;

**** घटनाओं की संख्या बहुत ही कम है।

लेकिन देखा गया है कि जो परिवार गांव के परंपरागत पेशे से जुड़े हुए हैं, उन परिवारों में लड़कियों की शादी कम आयु में होती है, अपेक्षाकृत उन परिवारों के जो गैरग्रामीण पेशों में लगे हुए हैं, जैसे व्यापार करनेवाले अथवा वेतनभोगी नौकरीपेशावाले। घर के मुखिया का शैक्षिक स्तर जैसे-जैसे ऊपर उठता जाता है, प्रत्येक उठान के साथ परिवार में लड़कियों की शादी की उम्र का माध्य (मीन) बढ़ता जाता है। सिर्फ आठ वर्ष की स्कूल शिक्षा के स्तर तक पहुंचने के बाद ही शादी की आयु में उल्लेखनीय बढ़ोतरी होती है।

तुमकु एक ऐसा जिला है, जहां के लोग अक्सर बाहर जाते रहते हैं। यह बात जनगणना के आंकड़ों (भट्ट 1979) के विश्लेषण से जाहिर होती है। घरों के जो सदस्य बाहर चले गए हैं, उन परिवारों की सदस्यों की योग्यताओं के विवेचन की मदद से उनकी सामाजिक-आर्थिक हैसियत के संदर्भ में, उनकी योग्यताओं का विवेचन किया जा सकता है। लेकिन उन्हीं परिवारों के बारे में इस प्रकार की सूचनाएं उपलब्ध थीं, जहां बाहर जानेवाले परिवारों के बाकी सदस्य अभी भी गांव में रहते हैं। हम बाहर जानेवाले उन्हीं लोगों तक अपना विवेचन सीमित रखेंगे जो गांव में रहकर काम कर रहे थे। शादी के कारण अथवा इस प्रकार के अन्य किसी वजह से जो गांव छोड़कर चले गए हैं, उनको इस विवेचन में नहीं शामिल किया गया है।

नौकरी की तलाश में 15 साल की उम्र से ज्यादा के औसतन 2.2 प्रतिशत पुरुष सदस्य गांव से बाहर कहीं अन्यत्र चले गए थे (सारणी 2.10)। ध्यान से देखने पर

**सारणी 2.10 : शैक्षिक स्तर के आधार पर प्रौढ़ पुरुष
(बाहर जानेवाले) कामगारों का प्रतिशत**

स्कूली शिक्षा की अवधि (वर्षों में)						
उपसमूह	0	1-4	5-7	8-10	10+	सभी परिवार
खेत मजदूर	14	17	16	24	63	16
कारीगर	11	19	23	33	100	18
सीमांत किसान	15	10	28	79	152	23
छोटे किसान	16	14	24	66	115	25
मध्यम किसान	11	09	11	31	95	20
व्यापार/वाणिज्य	18	-	11	23	24	16
वेतन भो/व्यवसाय	27	18	37	58	70	46
सभी परिवार	14	13	19	46	95	22

पता चला है कि जो परिवार परंपरागत ग्रामीण पेशों में लगे हुए हैं, उनकी तुलना में व्यावसायिक/वेतनभोगी नौकरियों में काम करनेवाले समूह के सदस्यों में बाहर जाने की रुझान बहुत ज्यादा है। लेकिन इस निष्कर्ष का इस बात के संदर्भ में आकलन होना चाहिए वेतनभोगी/व्यावसायिक समूहों के सदस्य प्रायः बाहर से आए हुए थे यहीं से इसको आरंभ कर सकते हैं।

जहां तक गांव के परंपरागत व्यवसायों/पेशों से जुड़े हुए परिवारों की बात है, कमजोर वर्ग के लोगों में गांव से बाहर जाने की दर मध्यम और बड़े किसानों की तुलना में थोड़ी ज्यादा है। यहां पर अत्यंत सैद्धांतिक दिलचस्पी की बात यह दिखती है कि कमजोर वर्गों में सबसे कमजोर तबका (यानी खेत मजदूर) अधिक संख्या में बाहर नहीं जाता है, इसके विपरीत जिसके पास थोड़ी-बहुत जमीन है (यानी छोटे और सीमांत किसान), वह अधिक बाहर जाता है। चल रही इस बहस के संदर्भ में इस खोज की जांच पड़ताल की जा सकती है कि क्या कृषि क्षेत्र में भारत में पूंजीवादी संबंध मौजूद हैं, क्योंकि यह बहस अब बासी हो चुकी है।

लोगों के गांव से बाहर जाने की दर का संबंध उनकी शिक्षा का स्तर है, इसकी साफ वजह है। यदि परिवार के किसी सदस्य की स्कूल शिक्षा की अवधि 8 वर्ष तक की है तो इस कोटि के सदस्यों की बाहर जाने की दर बढ़ जाती है। स्कूल शिक्षा की यह अवधि और अधिक हो जाय तो बाहर जाने की अवधि पहले से और अधिक हो जाती है। जैसे-जैसे स्कूल शिक्षा की अवधि बढ़ती चली जाती है, बाहर जाने की दर भी ऊपर चढ़ती जाती है सामान्य स्तर की स्कूल शिक्षा का बाहर जाने की दर पर कोई खास असर नज़र नहीं आता है। जनसंख्या के लगभग सारे ही समूहों में शिक्षा और बाहर जाने के बीच यह संबंध देखा जा सकता है।

इस संबंध का जब हम सांख्यिकीय विवेचन करते हैं और उसमें जब शिक्षा के क्रमशः बढ़ते हुए स्तर और लोगों के बाहर जाने की संभाव्यता का हम चतुष्कोणिक सह-संबंध निकालते हैं तो इन दोनों के बीच हमें अत्यंत क्षीण संबंध दिखाई देता है (सारणी 2.11)। फिर भी यह बात स्पष्ट है कि 8-10 साल की स्कूल शिक्षा महत्वपूर्ण शैक्षिक स्तर तक पहुंचा देती है, जहां पर दोनों के संबंध काफी महत्वपूर्ण हो जाते हैं। हर समूह से बाहर जानेवालों में अधिक संख्या ऐसे लोगों की है जिनकी स्कूल शिक्षा 8 वर्ष से ज्यादा अवधि की है। यह बात भी गौर तलब है कि सीमांत किसानों में शैक्षिक उपलब्धि और बाहर जाने की रुझान के बीच के संबंध की स्थिति काफी बेहतर है। लेकिन इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि ग्रामीण शिक्षित जनसंख्या के गांव छोड़कर बाहर जाने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के बावजूद बाहर जानेवालों में लगभग 40 प्रतिशत लोगों को कोई औपचारिक रूप से शिक्षा नहीं प्राप्त हुई है। (सारणी 2.12)।

सर्वेक्षण के लिए चुने गए निर्देश गांवों में 60 प्रतिशत से भी अधिक वयस्क पुरुष जनसंख्या को किसी तरह की औपचारिक शिक्षा नहीं मिली है। बाहर जानेवालों में इसका अनुवर्ती अनुपात 40 प्रतिशत से भी कम है। बाहर जानेवाले ग्रामीण लोगों का शैक्षिक

सारणी 2.11 : ग्रामीण जनसंख्या के बाहर जाने और क्रमशः बढ़ते हुए शैक्षिक स्तर के बीच चतुष्कोष्ठिक सहसंबंध

उपसमूह	बिना स्कूल शिक्षा वाले और 1-4 साल की स्कूल शिक्षा पानेवाले	4 साल से कम और 5-7 वर्ष तक की स्कूल शिक्षा पानेवाले	7 साल से कम और 8-10 साल की स्कूल शिक्षा पानेवाले	10 साल से कम और 10+ तक स्कूल शिक्षा पानेवाले
खेत मजदूर	-	-	-	.05
कारीगर	-	-	-	.09
सीमांत किसान	-	-	.12	.13
छोटे किसान	-	-	.10	.11
मध्यम तथा बड़े किसान	-	-	.06	.14
वेतन भोगी/व्यवसाय	-	-	.09	-

टिप्पणी: (1) एकदम कम संख्या होने के कारण वाणिज्य/व्यापारवाले समूह को छोड़ दिया गया है। इसी कारण से बड़े किसानों को मध्यम दर्जे के किसानों के साथ मिला दिया गया है।

(2) जहां पर कोई वर्ग का मूल्य 1 प्रतिशत स्तर पर महत्वपूर्ण है, उन्हीं को यहां लिया गया है।

सारणी 2.12 : शैक्षिक स्तर के आधार पर बाहर जानेवाले वयस्कों का प्रतिशत वितरण

उपसमूह	बाहर जानेवाले वयस्कों की स्कूल शिक्षा की अवधि					योग
	0	1-4	5-7	8-10	10+	
कमजोर वर्ग*	47.9	5.9	9.2	23.5	13.5	100.0
किसान**	29.9	5.0	7.0	24.8	33.2	100.0
व्यापार/वाणिज्य	46.7	-	13.3	33.3	6.7	100.0
वेतन भो./व्यवसाय	15.8	3.2	11.6	42.1	27.4	100.0
सभी परिवार	39.6	5.6	8.8	25.3	20.3	100.0

* इसमें खेत मजदूर, कारीगर, सीमांत किसान और छोटे किसान शामिल हैं।

** इसमें मध्यम तथा बड़े किसानों को शामिल किया गया है।

पैमाने पर वितरण का झुकाव कम है यदि इनकी तुलना गांव की आबादी के उल्टी दिशा में झुकनेवाले पैमाने के साथ करें तो इस तरह की स्थिति के नतीजे काफी चिंताजनक हैं। ग्रामीण शिक्षा पर अधिक जोर देने के बावजूद आनेवाले वर्षों में शिक्षा के ग्रामीण-शहरी स्तर में असमानता के बने रहने की संभावना है तथा अपनी शिक्षित मानव शक्ति को रोक रखने में गांवों की असमर्थता के भी बने रहने की संभावना है। कृषि की दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्र के लिए यह रुझान खासतौर से घातक हो सकती है।

निष्कर्षात्मक कथन

ऊपर ग्रामीण परिवारों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इससे स्कूल शिक्षा के स्तरों में असमानता के विभिन्न आयाम उद्घाटित होते हैं। ये असमानताएं स्त्री और पुरुष शिक्षा के बीच हैं और ग्रामीण समाज के विभिन्न स्तरों के बीच भी हैं। इन असमानताओं का फैलाव काफी बड़ा है। खेत मजदूरों के परिवारों में महिलाओं की साक्षरता की दर 8 प्रतिशत है, इसके ठीक दूसरे छोर पर ग्रामीण व्यवसायों में लगे हुए पुरुष हैं, उनमें यह दर 75 प्रतिशत है। 7 वर्ष तक की स्कूल शिक्षा मुहैया कराने की संविधान में गारंटी दी गई है लेकिन निदर्श के लिए चुनी गई जनसंख्या में इसका भाग मात्र 9 प्रतिशत है।

भारत में साक्षरता के आंकड़ों से यह बात जाहिर होती है कि सातवें दशक के दौरान निरक्षरों की संख्या साक्षरों की तुलना डेढ़ गुनी ज्यादा बढ़ी है। यदि देश में साक्षरों की संख्या में वृद्धि हो रही है तो अनपढ़ों की संख्या भी बढ़ रही है उम्मीदों के सपने नाउम्मीदों के दुःस्वप्न में बदल रहे हैं। जनसंख्या के कमजोर वर्गों को ध्यान में रख कर विचार किया जाए तो स्थिति विशेष रूप से निराशाजनक दिखाई पड़ती है। इसमें कोई शक नहीं कि शैक्षिक असरों और सुविधाओं को लेकर ग्रामीण परिवारों के साथ भेदभाव किया जा रहा है। लेकिन ग्रामीण आबादी में कमजोर वर्ग और सामाजिक रूप से प्रतिबंधित लोग, और इनमें भी विशेष रूप से महिलाएं, उसकी नींव हैं जिस पर असमानता की सारी व्यवस्था का महल टिका हुआ है और बरकरार है या कहना चाहिए कि भाग्य के भरोसे चल रही है।

समय के साथ और विशेष रूप से स्वतंत्रता मिलने के बाद से शैक्षिक अवसरों का विस्तार हुआ है और इस विस्तार के फलस्वरूप कुल जनसंख्या के अंदर साक्षरों के अनुपात में साधारण लेकिन महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। यह वृद्धि पिछड़े हुए इलाके, तुमकुर जिले में भी हुई है। जिन परिवारों को इस अध्ययन में शामिल किया गया है, उन पर विचार करने पर यह देखने में आया है कि जहां पर 5-14 साल की आयु वर्ग में साक्षरता की दर तकरीबन 40 प्रतिशत पहुंचती है, वहीं 60 साल अथवा इससे ऊपर की आयु वर्ग में यह 10 प्रतिशत से कुछ ही ऊपर जाती है। इस अध्ययन

के पहले के अनुभागों में प्रस्तुत की गई संख्याएं और इनसे संबद्ध ब्योरे दी गई सामाजिक परिस्थितियों में प्राप्त सकारात्मक नतीजों की तरफ तथा उन परिस्थितियों द्वारा थोपी गई सीमाओं की तरफ भी इशारा करते हैं। जहां राज्य ने बड़े पैमाने पर शिक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप किया है—यदि वृद्धि और समता के पहलुओं को एक साथ देखें तो पता चलेगा कि यह सामाजिक बदलाव का संरचनात्मक तत्त्व है। जहां हमारे अध्ययन से समाज के विभिन्न तबकों में पुरुष साक्षरता के क्षेत्र में उपलब्धियों का अधिक समतामूलक वितरण और संवृद्धि दोनों के ही संकेत मौजूद हैं, लेकिन स्त्री साक्षरता में अंतर समूहीय असमानता की प्रक्रिया इसके पीछे चलती है। लड़के और लड़कियों को हाजिरी और स्कूलों में उनके नामांकन से संबंधित जानकारी से बाद की प्रवृत्ति और अधिक मजबूत होती लगती है, तब जब हम इसकी तुलना विभिन्न सामाजिक स्तर के परिवारों के मुखियों और विभिन्न सामाजिक स्तरों की उपलब्धियों से करते हैं। पहले प्रस्तुत किए गए आनुभविक नतीजों से पता चलता है कि घर के मुखिया की शैक्षिक योग्यता बढ़ने का उस परिवार के अन्य सदस्यों के दाखिले की दर पर जबर्दस्त असर होता है। यह बात समाज के कमजोर वर्गों पर भी लागू होती है।

यह जानकर हमें कुछ संतोष हुआ है कि फार्म अर्थव्यवस्था का पैमाना बढ़ने के साथ-साथ आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति में प्रभावशाली ढंग से वृद्धि हुई है। एक बारे जब शुरुआत हो जाती है तब ऊपर के स्तर पर पहुंच कर शैक्षिक उपलब्धि के बढ़ने के साथ आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। सीमांत और छोटे किसान की कमजोर क्षमता की शिक्षा के प्रति रुझान कम होती है और शैक्षिक उपलब्धि का स्तर भी नीचा ही होता है। दूसरी ओर बड़े तथा मध्यम स्तर के किसानों की आर्थिक ताकत शिक्षा के निचले स्तरों पर रुझान के फर्क को और कम कर देती है। उपकरणों के स्वामित्व के मामले में यह प्रवृत्ति और सुदृढ़ दिखाई पड़ती है। जहां तक कृषि के आधुनिकीकरण का संबंध है, किसानों का कमजोर तबका शैक्षिक आगतों के प्रति संवेदनशील होने की स्थिति में नहीं है। जिन तीन मोटे-मोटे मुद्दों को यहां विचार के लिए लिया गया है, कृषि वित्त के संस्थागत स्रोतों तक शिक्षा के कारण उनकी पहुंच काफी बढ़ जाती है। कृषि के आधुनिकीकरण के तीनों आयामों में से प्रत्येक आयाम के सूचक के संदर्भ में अलग-अलग प्रतिक्रिया को देखा जा सकता है। जब सामाजिक और आर्थिक वंचक अनुसूचित जाति और जनजाति के मामले में एकदूसरे की सहायता करते हैं तो हो सकता है कि अधिक गरीब परिवार आधुनिक उपकरणों और उच्च स्तर की कृषि मशीनों का फायदा न उठा सकें, लेकिन शिक्षा निश्चित रूप से ऋण सुविधाओं तथा अन्य प्रकार की सूचनाओं से उनको अवगत कराती है।

गैर-परंपरागत पेशों से जुड़े हुए मुट्ठीभर परिवारों तथा खेतों से जुड़े बड़ी संख्या में परिवारों के रहन-सहन में बहुत साफ फर्क दिखाई देता है। पेशेवर/वेतनभोगी और व्यापार/वाणिज्य वर्ग के परिवारों के लोग अपना काम उस लाभकारी व्यावसायिक स्तर से शुरू करते हैं कि इनके परिवार के मुखिया को यदि किसी भी तरह की औपचारिक

स्कूल शिक्षा न मिली हो तो इनकी जानकारी या सामाजिक संपर्क का स्तर उतना ही होता है जितना उस मध्यम अथवा बड़े किसान का, जिसने 10 साल तक की औपचारिक शिक्षा प्राप्त की है। पेशे के कारण जो आरंभिक असमानता होती है, वह आगे चलकर उच्चस्तरीय स्कूल शिक्षा की वजह से और बढ़ जाती है। अर्थव्यवस्था का विरासत में जो ढांचा हमें मिला था, वह दूषित था, इसलिए स्वतंत्रता मिलने के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर व्याप्त गरीबी से लोगों को उबारने के लिए उत्पादन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में बहुत अधिक मात्रा में निवेश के साथ ही आम जनता के सीधे हस्तक्षेप को जोड़ा गया था। कम अवधि के भीतर ढांचागत सूचकों में वांछित परिवर्तन के मकसद से आबादी के आर्थिक और सामाजिक रूप से पंगु तबकों को उबारने के लिए 'गरीबी पर सीधा हमला' का नारा दिया गया था। इस प्रयत्न में निहित उद्देश्यों की प्राप्ति की एक झलक समाज के कमजोर वर्गों द्वारा 'जनता आवास योजना' तथा 'निःशुल्क आवास भूमि' जैसी योजनाओं के बेहतर उपयोग में हमें मिलती है। स्कूल शिक्षा का स्तर बढ़ने से सहकारी संस्थाओं और स्वैच्छिक संगठनों की सदस्यता के माध्यम से गरीब तबकों की सामाजिक भागीदारी का स्तर काफी ऊंचा उठता है। वह बात साफ है कि अगर आर्थिक कमजोरी का दबाव निर्णायक न हो तो कमजोर तबकों पर स्कूल शिक्षा काफी सकारात्मक असर डालती है।

जिन कार्यक्रमों का जनसंख्या के सामाजिक और आर्थिक रूप में कमजोर तबकों के कल्याण से संबंध है, ऐसे कार्यक्रमों के साथ-साथ, खासतौर से अल्पविकसित देशों में इस प्रकार के अभियान भी चलाए गए जिनका मकसद स्वास्थ्य का स्तर सुधारना तथा जन्म और मृत्युदर को कम करना था। इनको इस तरह बनाया गया था कि एक दूसरे को सुदृढ़ करनेवाले अवरोधों पर काबू पाया जा सके। ये अवरोध प्रमुख रूप से आर्थिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक थे जिनका प्रभाव ग्रामीण जनसंख्या पर सबसे अधिक था। ढांचागत परिवर्तन की लंबी प्रक्रिया से गुजरने के बजाय कोशिश की गई कि शिक्षा तथा इससे जुड़े हुए अभियानों के द्वारा लोगों के रुख में बदलाव ला कर जनसंख्या वृद्धि की गति को मंद किया जाए।

जनांकिकीय विशेषताओं पर विचार करने के क्रम में हमने देखा है कि जन्मदर की गतिक्रम करने के लिए जितनी शिक्षा की जरूरत होती है, उसकी तुलना में मृत्युदर की गति पर अंकुश लगाने के लिए कम शिक्षा चाहिए। दूसरी बात देखने में यह आई कि शादी की उम्र को बढ़ाने के लिए और उच्च स्तर की शिक्षा की आवश्यकता होती है। संबंधों के दो अलग-अलग सेट हैं जिनके फलस्वरूप जब स्कूल शिक्षा की अवधि प्रारंभिक स्तर की हो तब जनसंख्या की वृद्धि दर तेज होती है और इसकी गति में मंदी तब तक नहीं आती है जब तक स्कूल शिक्षा को लंबी अवधि तक बनाए न रखा जाए।

जहां आंकड़ों की सीमाओं के कारण हम जन्म-मृत्यु दर का विश्लेषण नहीं कर पाए हैं किंतु अपेक्षाकृत कम संवेदनशील बच्चा स्त्री अनुपात के और महिलाओं की

शादी की आयु जैसे सूचकों से प्राप्त अंतर्दृष्टि से ऐसा संकेत मिलता है कि शिक्षा और जनांकिकी के संबंधों की जिन विशेषताओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह ग्रामीण जनता के विभिन्न उप-समूहों के संदर्भ में भी वैध ठहरते हैं, स्कूल शिक्षा में विभिन्न समूहों के बीच समय के अंदर के बाद भी यह बात सच है।

शिक्षा को ऐसे कारक के रूप में देखा गया है जिसके कारण लोग गांव से बाहर चले जाते हैं इस वजह से गांव शिक्षित मानव शक्ति विहीन हो जाता है। आठ साल की स्कूल शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण अवस्था मानी गई है। इस स्तर पर पहुंचकर बाहर जाने की दर काफी बढ़ जाती है। इस तरह काम करनेवालों की दृष्टि से विचार करें तो ग्रामीण-नगरीय असमानता जारी रहती है।

शिक्षा और विकास के बीच के आनुभविक संबंधों को विरासत में मिले ढांचे की कमजोरियों तथा असमानताओं के संदर्भ में देखा गया है। शिक्षा से बेहतर और जल्दी सामाजिक लाभ पाने के लिए यह ढांचे में बदलाव पर ध्यान केंद्रित करता है। विकास के साथ जोकि इसके संबंध द्वि-दिशात्मक हैं, अकेली शिक्षा गरीबी की रुकावटों को तोड़ने में असमर्थ है। यद्यपि यह उत्प्रेरक का काम करती है, जो एक तरफ तो गुणवत्ता में सुधार लाकर श्रम की उत्पादकता को बढ़ाती है, दूसरी तरफ यह उत्पादकता, मृत्युदर तथा आब्रजन पर अपना प्रभाव डालकर यह श्रम की मात्रा को भी कम करता है। इसलिए कहा जा सकता है कि विकासशील देशों में विकास प्रक्रिया के दौरान जो असमानता पैदा होती है, उस असमानता को दूर करने का यह एक महत्वपूर्ण तथा कारगर हथियार है।

भारत के साक्षरता स्तर में असमानताओं का क्षेत्रीय आयाम

जिस समाज में शिक्षा का ढांचा पिरामिडनुमा हो और अनेक स्तरों में बंटता हो, उस समाज में साक्षरता शिक्षा का सबसे निचला स्तर (नींव) होती है। इसलिए कहा जा सकता है कि ऐसे समाज में साक्षरता न केवल विकास का महत्वपूर्ण आगत (इन पुट) होती है, बल्कि उस समाज को संपूर्ण विकास प्रक्रिया से वह बहुत गहरे स्तर पर जुड़ी होती है। इस संदर्भ में राष्ट्रीय विकास में असंतुलन और असमानता को देखते हुए साक्षरता के भौगोलिक खाके का और उसमें क्षेत्रीय भिन्नता का महत्व बढ़ जाता है। यही वजह है कि साक्षरता के प्रसार में भिन्नता का सटीक विश्लेषण हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक विकास-प्रक्रिया के साथ इस व्यवस्था की परस्पर निर्भरता के दो-तरफा संबंध को हम न जान लें। भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक शैक्षिक अवसर के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया का स्वरूप और उसका स्तर सामाजिक-आर्थिक स्थितियों से काफी मेल खाता है और उसमें भी भौगोलिक दृष्टि से काफी भिन्नता है। इसका नतीजा यह हुआ है कि मानवपूंजी निर्माण तथा मानव संसाधन के विकास की दृष्टि से कुछ क्षेत्रों को कुछ अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक फायदा हुआ है।

तीसरी दुनिया के देशों के शैक्षिक विकास की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी रही है कि काफी लंबे समय तक इनमें क्षेत्रीय असमानता बनी रही है। इसके दो प्रमुख कारण थे जिनका समवेत नतीजा हमें दिखाई देता है। पहला कारण तो शिक्षा में उन उपनिवेशवादी विद्वत्ताओं का बरकरार रहना है जिनको हमने दूर नहीं किया है। दूसरी ओर विकास अस्थिर रहा है तथा इसके लिए अपनाई गई रणनीति की अपनी सीमाएं भी रही हैं। भयानक असमानता के लगातार बने रहने के कारण तीसरी दुनिया के तमाम देशों को सिर्फ साक्षरता का सामान्य स्तर ही सुधारने में दिक्कतों का सामना नहीं करना पड़ रहा है बल्कि अपनी विकास नीति बनाते समय अंतर्क्षेत्रीय समानता के उद्देश्य को प्राथमिकता देने में भी इन देशों को मुश्किलें पेश आ रही हैं। इस तरह अनेक विकासशील देशों में सामाजिक नियोजन के प्रमुख लक्ष्यों में 'समता के साथ संवृद्धि' को प्रमुख लक्ष्य माना जा रहा है। इसमें गौर करने की बात यह है कि 'समता' और 'संवृद्धि' की मांग के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है। बिना 'संवृद्धि' के समता

का अर्थ एक 'स्थिर मलकुण्ड' के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा जिसमें परेशानी, अज्ञान, दकियानूसी विचार और अंधविश्वासों का समान बंटवारा ही मुमकिन होगा। लेकिन बिना समता के 'संवृद्धि' आने पर सामाजिक ढांचे का संतुलन गड़बड़ा जाता है। इसके चलते 'संवृद्धि' में अवरोध पैदा होता है। यदि सामाजिक स्तर पर दोनों की साथ-साथ चिंता की जाए तो दोनों के साथ एक साथ निपटा जा सकता है। दोनों एक-दूसरे की मदद कर सकते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में असमानताओं के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल करने का प्रयास किया गया है। ये असमानताएं सामान्य रूप से तीसरी दुनिया के देशों और विशेषरूप से भारत में, शैक्षिक विकास के रास्ते की बाधाएं रही हैं। इन जटिलताओं को उजागर करने के लिए जनपदवार आंकड़ों की सहायता से भारत में साक्षरता के क्षेत्रीय प्रसार की असमानताओं की पहचान तथा उनके मापांकन और उनकी व्याख्या से संबंधित प्रश्नों की छानबीन की गई है।

चूंकि साक्षरता दर की वृद्धि में असमानताओं का मापांकन हमारी पद्धति का महत्वपूर्ण चरण है इसलिए उस पर कुछ विस्तार के साथ विमर्श दूसरे खंड में किया गया है, साथ ही असमानता के कुछ सामान्यतः प्रयुक्त सूचकांकों की आलोचना की गई है और मापकों की एक नई श्रेणी के उपयोग का प्रस्ताव किया गया है। आंकड़ों के ढेर के नीचे छिपी नियमितता को सामने लाने व भारतीय राजनीतितंत्र के मूल आधार-स्तर की गहराई तक अध्ययन को ले जाने के दृष्टिकोण से, तीसरे खंड में साक्षरता दरों की असमानता के विभिन्न सूचकों से संबंधित जनपदवार आंकड़ों का विश्लेषण किया गया है। चौथे खंड में एक तरफ साक्षरता दर के स्तरों तथा असमानताओं और दूसरी ओर विकास के कुछ सूचकों के बीच प्राप्य संबंधों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। जनपदवार आंकड़ों पर आधारित इस विश्लेषण के निष्कर्षों को, परस्पर निर्भरताओं की एक व्यवस्था के रूप में पांचवें खंड में रखा गया है। वहीं अपविकास के दुश्चक्र की एक प्रतिकृति भी प्रस्तावित की गई है। निष्कर्ष के रूप में अंत में वर्तमान अध्ययन के कुछ प्रमुख परिणामों को सामने रखा गया है।

असमानता के पांच पक्ष

अनेक नवस्वाधीन देशों की सामाजिक-आर्थिक संरचना में निहित असमानताओं और विकृतियों की जड़ें उनकी ऐतिहासिक प्रक्रिया और विशेषकर उनकी औपनिवेशिक विरासत में देखी जा सकती हैं। मानव सभ्यता के आरंभ से ही दोतरफा कार्यकरण संबंध के माध्यम से शिक्षा और विकास परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े रहे हैं। विभिन्न समूहों के शैक्षिक स्तरों की असमानताएं उनके सामाजिक-आर्थिक विकास के स्तर संबंधी विभिन्नताओं के कारण और कार्य दोनों रही है। साक्षरता स्तरों के बारे में यह बात विशेष रूप से सत्य है जो शैक्षिक विकास की एक अनिवार्य पूर्व-आवश्यकता है। जबकि

आज के विकसित देशों में औद्योगिक क्रांति ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कीं कि शिक्षित श्रमशक्ति की आवश्यकता ने वहां धीरे-धीरे और स्थिर गति से साक्षरता का सार्वजनीकरण कर दिया है, औपनिवेशिक साम्राज्यों में उसी से जुड़ी हुई अल्पविकास की प्रक्रिया आम जनता के लिए साक्षरता के स्तर की असमानताओं और निरक्षरता की निरंतरता का कारण बन गई।

औपनिवेशिक शासन की आवश्यकताओं ने इन देशों के विकास को अवरुद्ध किया, कृषि में प्रौद्योगिकी विकास की राह में रोड़े अटकाए, आत्मनिर्भर वाले औद्योगिक क्षेत्र का उदय नहीं होने दिया और प्राथमिक से द्वितीयक क्षेत्र में श्रमशक्ति के अंतर्क्षेपक स्थानांतरण में गंभीर बाधाएं उत्पन्न कर दीं, या अधिक से अधिक, अपविकास को प्रोत्साहन दिया। जबकि हस्तउद्योग पर आधारित द्वितीयक क्षेत्रक के बिखराव ने प्रौद्योगिक रूप से जुड़ी प्राथमिक गतिविधियों पर आवश्यकता से अधिक बोझ डाला, औपनिवेशिक प्रशासन की आवश्यकताएं एक विस्तारित (बलोएटिड) तृतीयक क्षेत्रक के द्वारा पूरी की जाती रहीं जो श्रम से असंबद्ध था और श्रम के प्रति उसका दृष्टिकोण अपमानसूचक था। सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां, जो औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप श्रम और शिक्षा में अंतर को कम करती थीं, इस तरह तीसरी दुनिया में उदित नहीं होने दी गईं

यहां हम उस सामाजिक-आर्थिक संदर्भ को सामने रखते हैं जिसमें शैक्षिक व्यवस्था की वर्तमान असमानताएं भारतीय क्षितिज पर उदित हुईं। एक ही क्षेत्र में और अलग-अलग क्षेत्रों में आपस में असमानताओं के निम्न पांच पक्ष इस संदर्भ में ध्यान दिए जाने के अधिकारी हैं।

- अनुसूचित जातियों व अन्य के बीच;
- अनुसूचित जनजातियों व अन्य के बीच;
- पुरुषों व स्त्रियों के बीच;
- ग्रामीण व नगरीय बस्तियों के बीच; और
- विकसित व कम विकसित क्षेत्रों के बीच।

अब हम इन असमानताओं के कारणों की गहराई में उतरना चाहेंगे। सबसे पहले हम पहली बात को लें। अनुसूचित जातियों और अन्य के बीच असमानताओं का उदय ज्ञान तथा श्रमशक्ति के अलगाव के फलस्वरूप हुआ। 1971 की भारतीय जनगणना पर आधारित श्रमशक्ति के वितरण के एक अध्ययन से पता चला है कि श्रमशक्ति में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की भागीदारी गैर-अनुसूचित जनसंख्या की तुलना में बहुत अधिक है अर्थात् अनुसूचित जनजातियों के संबंध में 38.5% अनुसूचित जातियों के संबंध में 36%, और गैरअनुसूचित जनसंख्या के संबंध में 31.6%। इस तरह अनुसूचित जातियों के संबंध में समस्या श्रमशक्ति में कम भागीदारी की नहीं है बल्कि उनका अधिकांश अर्थतंत्र के प्राथमिक क्षेत्रक में खेतिहर श्रमिकों के रूप में कार्यरत है। आंकड़े दिखलाते हैं कि अनुसूचित जातियों के लगभग 80% लोग कृषि में लगे

हैं और उनमें लगभग 52% खेतिहर श्रमिक हैं। गैरअनुसूचित जनसंख्या की संगत भागीदारियां क्रमशः 65% और 20% हैं। यह सर्वविदित है कि अधिकतर खेतिहर श्रमिक अशिक्षित हैं, दुर्दशाग्रस्त हैं और निर्धनता-रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रहे हैं। श्रमशक्ति के इस वितरण का एक दिलचस्प पहलू यह भी है कि संगठित कारखानेदारी के क्षेत्र में अनुसूचित जातियों के मजदूर केवल 3.5% हैं जबकि गैरअनुसूचित जाति के मजदूर लगभग 7% हैं। संगठित क्षेत्र में निम्न शैक्षिक स्तर के कारण वे प्रायः अर्धकुशल श्रमिकों के रूप में काम करते हैं।

अनुसूचित जातियों तथा अन्य के बीच साक्षरता की असमानता 1971 की जनगणना के आंकड़ों से भी स्पष्ट हो जाती है। साक्षरता दरों का एक तुलनात्मक अध्ययन उन जनपदों को लेकर किया जा चुका है जिनके गांवों में अनुसूचित जातियां गांव की कुल संख्या का 5% या अधिक हैं। देश के कुल 356 जनपदों में से 286 इस श्रेणी में आते हैं और उनको खासतौर से अनुसूचित जातिवाले जनपदों का नाम दिया गया है। यह एक रोचक तथ्य है कि 131 जनपदों में अनुसूचित जातियों की साक्षरता दर 12% से भी कम थी जबकि एक भी जनपद ऐसा नहीं था जिसमें गैरअनुसूचित जनसंख्या की साक्षरता की दर 12% से कम हो।

अब दूसरी बात पर आएं। अनुसूचित जनजातियों और अन्य लोगों के बीच असमानता का कारण कुछ आदिवासी समुदायों के पहाड़ी, जंगली या बंजर भूभागों में निवास तथा शेष समाज से उनका निरंतर अलगाव रहा है। शैक्षिक विकास का निम्न स्तर, क्षेत्रीय दबाव और तनाव जो आज भी हैं, आदिवासी और संलग्न गैर-आदिवासी समुदायों के विकास स्तर की भिन्नता के कारण उत्पन्न हुए, इन तनावों को ऐसी असमानताएं समाप्त करके ही दूर किया जा सकता है। 1971 की जनगणना के नतीजे दिखलाते हैं कि अनुसूचित जनजातियों की कुल साक्षरता दर 11.30% है जबकि पूरे भारत के लिए यह 29.45% है। 1971 में अनुसूचित जनजातियों में भी ग्रामीण महिला साक्षरता दर 37.09% थी जो नगरीय पुरुष साक्षरता दर की तुलना में मात्र 4.85% थी।

ध्यान देने की तीसरी बात यह है कि पुरुषों और स्त्रियों के शैक्षिक विकास की असमानताओं का कारण औपनिवेशिक काल के सतही आधुनिकीकरण के कुछ लक्षणों का जारी रहना है। स्त्रियों को शैक्षिक अवसरों से वंचित रखने की प्रवृत्ति में इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों की सापेक्ष वंचना, इसके अन्य लक्षणों को भी रेखांकित करती है इसलिए यह और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। अनुसूचित जातियां निश्चित ही वंचित रहीं मगर उनमें भी स्त्रियां पुरुषों से अधिक वंचित रहीं। राजनीतितंत्र की दकियानूस पुरुष-श्रेष्ठतावादी प्रवृत्तियों को पुष्ट करने की प्रतिगामी औपनिवेशिक नीतियों के अंग के रूप में, शैक्षिक संस्थाओं के दरवाजे स्त्रियों के लिये बंद रखे गए। स्त्री साक्षरता के निम्न स्तर का जारी रहना इसी से स्पष्ट है कि 1901 में यह 0.60% थी जो 1941 तक 7.3% से आगे नहीं बढ़ सकी। ग्रामीण जनता

निश्चित ही वंचित रही मगर उसमें भी स्त्रियां पुरुषों से अधिक वंचित रहीं। जिन 286 जनपदों में अनुसूचित जातियां कुल ग्रामीण जनसंख्या के 5 प्रतिशत से अधिक थीं उसमें ग्रामीण अनुसूचित जाति स्त्री साक्षरता स्वाधीनता के 25 वर्ष बाद भी 73 जनपदों में 1% से अधिक नहीं थी और 116 जनपदों में 2% से कम थी। इसीलिए भारतीय सामाजिक संदर्भ में स्त्रीशिक्षा का कोई भी आंदोलन उनकी शिक्षा से अधिक महत्त्व रखता है। इससे भारतीय राजनीतितंत्र में निहित सामाजिक असमानताओं की उस जंगम व्यवस्था की जड़ों पर ही चोट पड़ेगी जो लगातार इसका खून पीकर पल रही है और इसे बीमार और कमजोर बनाती है। स्त्री शिक्षा न केवल स्त्रियों की बल्कि पूरे भारतीय समाज की मुक्ति का एक अस्त्र है।

अब आइए चौथी बात पर चलें। ग्रामीण-नगरीय असमानताओं का जारी रहना स्थानीय संगठन की देन है। शैक्षिक विकास को न केवल गुणात्मक बल्कि परिमाणात्मक रूप से भी प्रभावित करनेवाली औपनिवेशिक प्रक्रिया स्थानीय अर्थतंत्र में जड़ जमाए बैठी थी। औपनिवेशिक काल में उत्पन्न और पुष्ट होनेवाली स्थानिक विकृतियों को दूर करके ही आज के विकास कार्यक्रमों की कमजोरियों तथा सीमाओं को सही ढंग से समझा जा सकता है। स्थानीय संधियोजना की औपनिवेशिक प्रक्रिया स्थानीय अर्थतंत्र से अच्छी तरह जुड़ी थी। वह नगरीकरण को गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों दृष्टियों से प्रभावित करती रही है। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी वर्चस्वकारी भूमिका निभाने की उनकी क्षमता पहले तो ऐसे शैक्षिक अवसर उत्पन्न करके प्रभावित की गई जो उत्पादन के आधुनिक साधनों के उपयोग का आधार बनें। इसके अलावा अर्थतंत्र के उत्पादक क्षेत्रों में भांति-भांति के रोजगार के अवसर उत्पन्न करके इसे प्रभावित किया गया। इस संदर्भ में यह तथ्य उद्धृत किया जा सकता है कि 1931 में 34 विशालतम नगरों में साक्षरता दर पुरुषों के लिए 34.8% और स्त्रियों के लिए 14.9% थी जबकि पूरे भारत का औसत क्रमशः 13.3% और 2.5% था। इस तरह ग्रामीण क्षेत्रों की साक्षरता दर उपरोक्त उद्धृत अखिल भारतीय आंकड़ों की तुलना में बहुत ही कम दिखलाई पड़ती है।

पांचवीं बात, क्षेत्रीय असंतुलनों और अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं की निरंतरता को हम एक सीमित औद्योगिक आधार और ऐसे तृतीयक क्षेत्रक के विस्तार में प्रतिबिंबित होते देखते हैं और यह अधिकांशतः अनुत्पादक है। एक तरफ श्रमशक्ति के ऊर्ध्व अंतरण तथा दूसरी तरफ क्षैतिज गतिशीलता का संबंध विकास प्रक्रिया के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। परंपरागत अर्थतंत्र पर आधुनिक उद्योग का बाहर से प्रस्थापन लगभग पूरी तरह कुछ बड़े नगरों तक ही सीमित रहा, मुख्यतः बंदरगाहों से जुड़े क्षेत्रों में और भारतीय ग्रामों के प्रौद्योगिक पिछड़ेपन के महासागर में उनका स्वरूप द्वीपों जैसा रहा। बंदरगाहवाले नगर अपने प्राचीन तथा मध्यकालीन प्रारूपों के विपरीत एक शोषक गतिविधि के केंद्र बिंदु और आयात-निर्यातमुखी मालों के आवागमन के केंद्र रहे। इन प्रक्रियाओं से शैक्षिक विकास में भी क्षेत्रीय असमानताएं उत्पन्न हुईं। 1981 में साक्षरता दरों का अंतर पूर्वी कामेंग (अरुणाचल प्रदेश) के 6.94% से लेकर कोटायम (केरल)

में 81.35% तक रहा।

ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि ये सभी कारक एक दूसरे से अलग रह कर सक्रिय नहीं रहते हैं। सामाजिक व्यवस्था को आपस में बांधनेवाले सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़न के तानेबाने के धागे एक-दूसरे से जुड़े हैं। जब हम अपेक्षाकृत विकसित क्षेत्रों की ऊंची जाति व पुरुष और नगरीय लोगों से अपेक्षाकृत कम विकसित क्षेत्रों की अनुसूचित जाति, स्त्री और ग्रामीण लोगों की तरफ बढ़ते हैं तब असमानता की खाई अधिकाधिक बढ़ती चली जाती है।

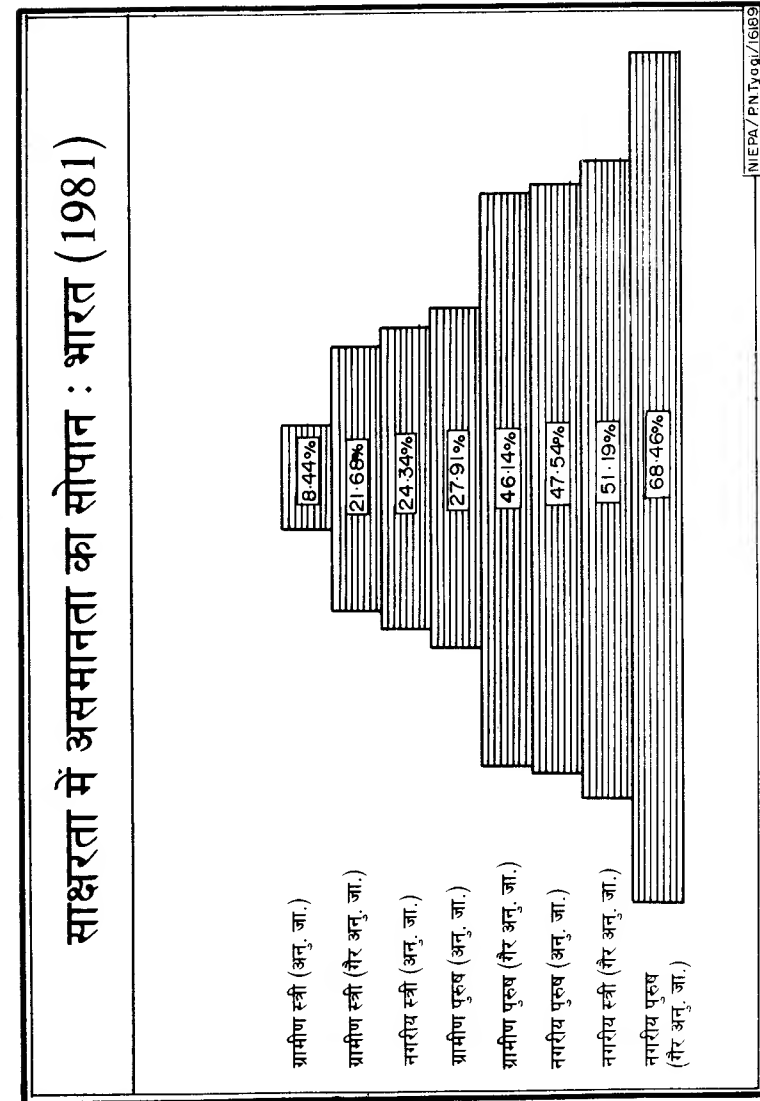
1971 की जनगणना के दौरान पता चला था कि कोट्टायम (केरल) की गैर-अनुसूचित जातियों की नगर की पुरुष आबादी की साक्षरता दर 78.22% थी तो जैसलमेर (राजस्थान) की अनुसूचित जातियों की ग्रामीण स्त्री आबादी की साक्षरता दर मात्र 0.09% थी। यह भी देखा गया है कि मध्यप्रदेश के टीकमगढ़ जनपद में नगरीय अनुसूचित जातियों की साक्षरता दर 1971 में मात्र 0.29% थी। असमानताओं के इस पिरामिड को समग्र रूप में चित्र 1 में दिखाया गया है।

साक्षरता दर की असमानताओं का क्षेत्रीय आयाम

उपरोक्त वर्णन से यह बात साफ हो जाती है कि साक्षरता की अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं का विश्लेषण या तो सामान्य स्तर की भिन्नताओं की शब्दावली में किया जा सकता है या फिर अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं के किसी चुने हुए मापक के परिमाण के शब्दों में। उदाहरण के लिए, विभिन्न क्षेत्रों के बीच ग्रामीण स्त्रियों या ग्रामीण पुरुषों की साक्षरता दर की भिन्नताएं ग्रामीण स्त्रियों या ग्रामीण पुरुषों की साक्षरता दर की अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं पर निःसंदेह प्रकाश डालेंगी लेकिन ग्रामीण समुदायों में पुरुष और स्त्री साक्षरताओं के बीच अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं की प्रकृति या परिमाण के बारे में कोई जानकारी नहीं देंगी।

इसलिए इन बहुमुखी तथा जटिल परिघटनाओं की जांच करने के लिए वांछित यह है कि उन द्विपदीय तत्त्वों को परिभाषित किया जाए जिनके शब्दों में अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं की अंतर्क्षेत्रीय भिन्नताओं का विश्लेषण किया जा सकता हो। उदाहरणस्वरूप, पुरुष-स्त्री साक्षरता दरों की अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं के स्तर में अंतर्क्षेत्रीय भिन्नताओं के स्वरूप और परिमाण का एक गहन अध्ययन बहुत उपयोगी होगा। ऐसे किसी विश्लेषण के पहले चरण में प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष-स्त्री साक्षरताओं के अंतर का मापांकन करना होगा। फिर इसके बाद मापांकित मानों की अंतर्क्षेत्रीय भिन्नताओं की जांच करनी होगी।

यह भी सोचने की बात है कि विकास की विभिन्न अवस्थाओं में साक्षरता दर की वृद्धि से एक ही क्षेत्र में और अंतर्क्षेत्रीय असमानताएं नहीं हो जाती। किसी



क्षेत्र के द्विपदीय तत्त्वों के बीच असमानताओं के परिमाण की भिन्नता, साक्षरता वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं में 'अपसरण-स्थायित्व-अभिसरण' का प्रतिमान सामने ला सकती है। इन गतिमान संबंधों के सामान्यीकरण से हमें सचेत रहना होगा और हमें ऐतिहासिक व्यवहार के आदर्शात्मक सामान्यीकरण से बचना होगा। यह भी ध्यान रहे कि वक्र का ठीक-ठीक आकार स्थितियों के अनुसार बदलता रहेगा और इनमें से हरेक के लिए शैक्षिक योजना और संसाधन आबंटन की भिन्न-भिन्न नीतियां अपनानी होंगी। साक्षरता को विकास प्रक्रिया का एक आगत माना जाए या उसका परिणाम ? उसके राष्ट्रव्यापी प्रसार के विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण चरण किसी आदर्श वृद्धि-वक्र की तलाश करना नहीं है बल्कि उसके स्तरों में अंतर्क्षेत्रीय विभेदकों की पहचान और व्याख्या करनी है।

अतः यह आश्चर्य की बात है कि शिक्षा के क्षेत्र की असमानताओं की पहचान, मापांकन और व्याख्या के इन पक्षों पर न तो समाजविज्ञानियों ने ध्यान दिया है और न शैक्षिक योजनाकार/संबंधित विद्वान् दिक् पर ध्यान दिए बिना अधिकांशतः असमानता के सामाजिक-आर्थिक सहसंबंधों से जूझते रहे हैं। यहां उसके क्षेत्रीय आयामों को दृष्टिगत नहीं रखा गया। यह इस कारण से और ज्यादा दुर्भाग्यपूर्ण है कि असमानता की समस्याएं अंतर्निर्भरताओं की क्षेत्रीय उपव्यवस्था में निहित रही हैं और इसलिए उनके किसी भी संतोषजनक विश्लेषण का कार्य और उनको कम करने की कार्यवाहियों को क्षेत्रीय चौखट में ही प्रभावशाली ढंग से हाथ में लिया जा सकता है।

अभी हाल ही में इस दिशा में कुछ उखड़े-उखड़े प्रयास किए गए हैं। शिक्षा में क्षेत्रीय असमानताओं का स्वरूप और प्रतिमान के मापांकन का व्यवस्थित प्रयास अध्ययनों की एक शृंखला में किया गया है जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय शैक्षिक योजना संस्थान ने कराया है। (सैब्रियल व न्नाक 1980)। शिक्षा की अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं और सामाजिक-आर्थिक विकास के पारस्परिक संबंधों को विशिष्ट अथवा एक ही क्षेत्र के भीतर के मामले के अध्ययन की सहायता से स्पष्ट किया गया है। इनमें वर्तमान रुग्णताओं की पहचान के लिए नई विधियों का उपयोग किया गया है। स्त्री-पुरुष निरक्षरता के एक विश्वव्यापी तुलनात्मक अध्ययन से पता चला है कि दोनों में (यानी स्त्री और पुरुष) साक्षरता की असमानताओं का परिमाण कुछ मामलों में बहुत अधिक है और यह लक्षण अभी बना रहेगा। यहां यह तथ्य उद्धृत किया जा सकता है कि अनेक देशों जैसे अफ्रीका, चाड, इथोपिया, माली, नाइजर, सोमालिया और अपर बोल्डा और एशिया में अफगानिस्तान, सऊदी अरब तथा यमन में अभी 1971 तक साक्षरता का परिणाम शून्यांक के आसपास ही था (यूनेस्को 1980)।

शैक्षिक प्रावधानों को ध्यान में रखकर शैक्षिक उपलब्धियों के संबंध में राइबा (1979) ने शैक्षिक असमानताओं के क्षेत्रीय पक्षों की विश्व स्तर पर जांच की। उन्होंने दिखलाया कि विश्लेषण के हर पैमाने पर क्षेत्रीय असमानताएं हैं और ये असमानताएं लंबे अर्से तक जारी रही हैं। पश्चिमी जर्मनी में शैक्षिक असमानताओं के प्रतिमानों से

संबंधित विलियमसन्स (1977) के अध्ययन ने इस परिकल्पना का सत्यापन किया कि शैक्षिक असमानताओं की जड़ें सामाजिक संरचना में हैं और वे यूरोप के अन्यथा विकसित देशों के विकास को भी अवरुद्ध करती रही हैं।

हाल के वर्षों में विद्वानों ने भारतीय साक्षरता के संदर्भ में शैक्षिक असमानताओं के स्वरूप और प्रतिमानों के अनेक अध्ययन किए हैं। 1961 में की गई जनगणना के परिणामों के आधार पर गौसाल (1964) ने साक्षरता के विभिन्न तत्त्वों में प्राप्य अंतर्राष्ट्रीय भिन्नताओं की मूल विशेषताओं को उभारा है। 1961 और 1971 की साक्षरता दरों की असमानताओं के स्वरूप और प्रतिमानों का तुलनात्मक अध्ययन कुन्दू तथा राव (1982) ने किया है। इस अध्ययन में विश्लेषण की इकाई राज्य है। ग्रामीण नगरीय साक्षरता दरों के अंतर्राष्ट्रीय असमानताओं की, बिहार की आदिवासी आबादी के संदर्भ में डिसूजा (1982) ने वर्ष 1971 के लिए अंतर्जनपदीय असमानताओं की पड़ताल की है। इन अध्ययनों से अभिसारक प्रवृत्तियों और साक्षरता दरों में अंतर के कम होने की प्रवृत्ति देखी गई है।

कर्नाटक में अनुसूचित जातियों की साक्षरता दरों के अंतर्राष्ट्रीय असमानताओं का अध्ययन उषा राव (1982) ने किया। गुजरात में साक्षरता दरों के अंतर और उसके कुछ आर्थिक सहसंबंधों के एक गहन अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि ग्रामीण श्रमशक्ति में चुने गए ग्रामों की साक्षरता दरों पर खेतिहर श्रमिकों के अनुपात का गहरा प्रभाव पड़ता है (शाह, एम. 1981)। इस तरह देखा जा सकता है कि भारतीय संदर्भ में किए गए अध्ययन एक प्रवृत्ति और समाज के विभिन्न स्तरों और विभिन्न क्षेत्रों में साक्षरता की असमानताओं के कम होने की ओर संकेत करते हैं।

भारत संबंधी उपरोक्त अध्ययनों की एक गंभीर समस्या इस तथ्य में निहित है कि असमानताओं की पड़ताल या तो राज्यों को विश्लेषण की इकाई मानकर की गई है या फिर एक ही राज्य के जनपदों या ऐसे ही उपक्षेत्रों को लेकर। ध्यान रहे कि क्षेत्रीय असमानताओं के विभिन्न पक्षों की पड़ताल के लिए राज्यों को विश्लेषण की इकाई मानना एकदम अनुचित है क्योंकि विविधता और असमानता दोनों की दृष्टि से इनमें विषमता है। छोटा नागपुर के पठार को मैदानी उत्तरी बिहार के साथ या मैदानी गुजरात को सौराष्ट्र के साथ मिलाकर कोई भी अर्थपूर्ण परिणाम नहीं निकाला जा सकता। कुछ अर्थशास्त्रीय अध्ययन इन विविधताओं को एकदम अनदेखा करते हैं जिससे उनके निष्कर्षों की सत्यता संदेहजनक हो जाती है। एक ही राज्य की सीमा के अंदर असमानताओं के परिमाण के बारे में भी यह बात इतने ही विश्वास के साथ कही जा सकती है। तर्कसंगति के किसी भी स्तर पर जैसलमेर को जयपुर, बर्दवान को सिलीगुड़ी, बंगलौर को गुलबर्गा, हैदराबाद को महबूबनगर या मेरठ को गाजीपुर के समकक्ष कैसे रखा जा सकता है ? इसलिए अकेला विकल्प यह है कि विश्लेषण की इकाई जनपद को माना जाए। भारतीय राजनीतिचिन्त्र की प्रशासनिक इकाई होने

के नाते जनपद की अपनी एक खूबी है जो उसकी समाजशास्त्रीय समांगता, द्वंदात्मक एकरूपता और ऐतिहासिक निरंतरता की देन है। यही स्तर है जिस पर समष्टि स्तर की प्रक्रियाएं व्यष्टि स्तर के विश्व की तह तक पहुंचती हैं और भारतीय मानव की विविधता में एकता उत्पन्न करती है। यही स्तर है जिस पर जोर क्षेत्र की योजना के ऊर्ध्वसंयोजनों की प्रणाली से हटकर क्षेत्रीय योजना की क्षैतिज संयोजनों की व्यवस्था पर जाती है। यह बात शैक्षिक विकास के बारे में विशेष रूप से सत्य है जिसमें विशिष्टता और सार्वभौमिकता परस्पर गहरे स्तर पर जुड़े हैं।

फिर भी यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इन अग्रगामी अध्ययनों ने असमुचित स्तर पर अनुभवजन्य जांच की आवश्यकता को उजागर किया और उसका रास्ता दिखलाया। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए यहां प्रथम तो साक्षरता प्रसार की असमानताओं के प्रतिमान और दूसरे, आर्थिक आधार, साक्षरता के स्तरों और साक्षरता दरों की असमानता के विभिन्न प्रकारों की जांच का प्रयास जनपदवार आंकड़ों के एक अनुप्रस्थ अंश के आधार पर किया जा रहा है।

आंकड़ों का आधार और विश्लेषण का ढांचा

भारत की जनगणनाओं के आधार पर प्रत्येक दस वर्षों से संबंधित साक्षरता और सामाजिक-आर्थिक विकास से जुड़े कुछ पक्षों के बारे में बड़े पैमाने पर आंकड़े एकत्र किए जाते हैं। वर्तमान अध्ययन में इस अमूल्य स्रोत का उपयोग किया गया है। साक्षरता दर की असमानताओं के स्वरूप और प्रतिमानों की पड़ताल 1981 के लिए एक जनपद-स्तरीय अनुप्रस्थ अंश के आधार पर की गई है (भारत की जनगणना 1981)।

विश्लेषण का पहला चरण उन द्विपदीय तत्त्वों के चयन से संबंधित है जिनके आधार पर असमानताओं का मापांकन किया गया है। आंकड़ों की उपलब्धि के आधार पर हमने साक्षरता दर की असमानताओं के मापांकन हेतु निम्न छः समूहों की पहचान की है :

- (1) पुरुष-स्त्री
- (2) ग्रामीण (पुरुष-स्त्री)
- (3) नगरीय (पुरुष-स्त्री)
- (4) ग्रामीण-नगरीय
- (5) पुरुष (ग्रामीण-नगरीय)
- (6) स्त्री (ग्रामीण-नगरीय)

विश्लेषण का दूसरा चरण असमानता के समुचित मापक के चयन से संबंधित है। उपलब्ध साहित्य की समीक्षा से ज्ञात हुआ कि असमानताओं के मापांकन के लिए निरपेक्ष

और सापेक्ष, दोनों प्रकार के मापकों का उपयोग किया जाता रहा है (सेन 1973)। लेकिन इन सभी मापकों के साथ मुख्य समस्या यही है कि अल्फा और गैरअल्फा की असमानताएं वही नहीं हैं जो गैरअल्फा और अल्फा की हैं। इस समस्या को हल करने के लिए सोफर (1974) ने एक वैकल्पिक मापक का प्रस्ताव किया है जो उपरोक्त दोनों प्रकारों के लिए समान मान देता है। सोफर के सूचकांक को दूसरों ने और भी संशोधित किया है जिससे यह उन सभी स्वयंसिद्धियों की शर्तों को पूरा कर सके जो किसी भी असमानता मापक के मूल्यांकन में सामान्यतः इस्तेमाल होती है। ये स्वयंसिद्धियां हैं : योगात्मक और गुणात्मक एकरूपता, पुनर्वितरण और पुनरावृत्त स्थानांतरण (कुंडू तथा राव 1982)। वर्तमान प्रयास में हमने सोफर के असमानता सूचकांक के एक वैकल्पिक स्वरूप का प्रस्ताव किया है। यह नया सूचकांक जो उपरोक्त सभी स्वयंसिद्धियों की शर्तें पूरी करता है, निम्न ढंग से पारिभाषित किया जा सकता है (रजा और अग्रवाल 1982)।

$$W = \log(L_2/L_1) + \log[(100 + I_1)(100 + I_2)]$$

जिसमें उन दो तत्त्वों के लिए जिनके बीच असमानता सूचकांक का परिकलन किया जाना है, L_1 तथा L_2 साक्षरता दरें हैं तथा I_1 और I_2 इनका अनुगमन करनेवाली निरक्षरता दरें हैं।

विश्लेषण का तीसरा चरण समुचित सूचकांकों के चयन से संबंधित है ताकि साक्षरता दर, असमानता सूचकांकों और सामाजिक-आर्थिक विषमताओं के पारस्परिक संबंधों की पड़ताल की जा सके। वर्तमान अध्ययन के ढांचे और आंकड़ों की उपलब्धता को ध्यान में रखकर जनपदों के आर्थिक आधार के निम्न लक्षणों को चुना गया है :

- X_1 = प्रतिशत कुल साक्षरता
- X_2 = पुरुष-स्त्री साक्षरता का असमानता सूचकांक
- X_3 = ग्रामीण (पुरुष-स्त्री) साक्षरता का असमानता सूचकांक
- X_4 = नगरीय (पुरुष-स्त्री) साक्षरता का असमानता सूचकांक
- X_5 = ग्रामीण-नगरीय साक्षरता का असमानता सूचकांक
- X_6 = पुरुष (ग्रामीण-नगरीय) साक्षरता का असमानता सूचकांक
- X_7 = स्त्री (ग्रामीण-नगरीय) साक्षरता का असमानता सूचकांक
- X_8 = प्रतिशत खेतिहर श्रमिक
- X_9 = प्रतिशत काश्तकार
- X_{10} = प्रतिशत अन्य श्रमिक
- X_{11} = प्रतिशत ग्रामीण साक्षरता
- X_{12} = प्रतिशत नगरीय साक्षरता
- X_{13} = प्रतिशत नगरीय जनसंख्या

64 शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

ध्यान रहे कि चलन $X_8, X_9, X_{10}, X_{11}, X_{12}, X_{13}$ की परिभाषाएं यहां वही हैं जो भारत की जनगणना 1981 में दी गई हैं।

साक्षरता दरों और आर्थिक आधार के सूचकों के बीच असमानता सूचकांकों के संबंधों की पड़ताल समाश्रयण विश्लेषण के द्वारा की गई है। नगरीकरण की दर की व्याख्या करनेवाले कारक चलन के रूप में प्रयोग किया गया है इस प्रकार साक्षरता के स्तरों और उसके परिमाण की असमानताओं में ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों के अंतर संबंधी बड़े ही रोचक निष्कर्ष निकालना संभव हुआ है।

इस अध्याय में पेश किए गए अध्ययन के परिणामों की टीका करते समय उसके आंकड़ों के आधार और पद्धति संबंधी कुछ सीमाओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए। प्रथम, जब तक अन्यथा न कहा जाए यह अध्ययन सभी आयु वर्गों की साक्षरता दर से संबंधित है। दूसरे 1981 की जनगणना में दो राज्यों, असम तथा जम्मू और कश्मीर के जनपदवार आंकड़े उपलब्ध नहीं थे, अतः ये परिणाम भारत के शेष 388 जनपदों के हैं। तीसरे अनेक सकारात्मक विशेषताओं के बावजूद असमानता के प्रस्तावित मापक (W) की दो प्रमुख सीमाएं हैं : यह साक्षरता के आधार-स्तर पर ध्यान नहीं देता, और जिस समाधान पर हम पहुंचते हैं, वह कोई अद्वितीय समाधान नहीं है। परिणामस्वरूप कुछ परिस्थितियों में यह सूचक बहुत असमान स्तरों के लिए भी समान मान ग्रहण कर सकता है। आशा है कि इन सीमाओं के बावजूद इस अध्ययन से भारत के सामाजिक यथार्थ के एक महत्वपूर्ण पक्ष यानी साक्षरता दरों की असमानताओं तथा असमानताओं के बारे में हमारी समझ और भी स्पष्ट होगी।

साक्षरता की असमानताओं के स्थानिक प्रतिमान

चतुर्थ अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण के परिणामों से ज्ञात होता है कि 1978 में ग्रामीण जनसंख्या के लगभग 93% भाग को अपनी बस्ती में या उससे एक किलोमीटर तक की दूरी पर शैक्षिक सुविधाएं प्राप्त थीं (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद 1980)।

इससे स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी शत-प्रतिशत नामांकन लक्ष्य की प्राप्ति में शैक्षिक सुविधाओं की उपलब्धि संबंधी कोई बड़ी बाधा नहीं है। स्कूल से बाहर की जनसंख्या को समेटने के लिए प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय भी एक दशक से अधिक समय से अनेक योजनाएं चला रहा है। हम निरक्षरता उन्मूलन के इन प्रयासों के बावजूद पाते हैं कि स्थिति अभी भी बहुत संतोषजनक नहीं है।

यही संदर्भ था जिसमें प्रथम पंचवर्षीय योजना ने शैक्षिक अवसरों के समान वितरण को शैक्षिक योजना के प्रमुख लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया था (भारत सरकार 1951)। इन वायदों के सफल क्रियान्वयन के साथ साक्षरता की क्षेत्रीय असमानताएं भी घट

कर शून्य बिंदु तक आ गई होतीं। लेकिन वास्तविकता एकदम भिन्न है। छठी पंचवर्षीय योजना ने शैक्षिक पिरामिड के सभी स्तरों पर एक ही क्षेत्र के भीतर विद्यमान और अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं के निरंतर अस्तित्व को विशेष रूप से स्वीकारा है (भारत सरकार 1980)। यूनेस्को (1978) के अनुमानों से पता चलता है कि सन् 2000 तक भी भारत 100% साक्षरता का लक्ष्य प्राप्त न कर सकेगा। 1901-1981 की प्रवृत्तियों को आगे प्रक्षेपित करके यह अनुमान लगाया गया है कि सन् 2000 तक साक्षरता की दर बढ़कर लगभग 35% तक पहुंच सकेगी (यूनेस्को 1978)। ये अनुमान यह भी बतलाते हैं कि पुरुषों और स्त्रियों की साक्षरता का अंतर बस जरा सा ही कम होगा और इस तरह अंतर्क्षेत्रीय असमानताएं सन् 2000 तक भी जारी रह सकती हैं। इस संदर्भ में समानतापूर्ण विकास की नीति तीसरी दुनिया के देशों के लिए महत्वपूर्ण हो जाती है। ऐसी नीति न सिर्फ नीति शास्त्रीय, नैतिक या दार्शनिक बल्कि और भी महत्वपूर्ण, प्रायोजनिक (प्रागमैटिक) आधार पर भी आवश्यक है (क्योंकि) जिस तरह विकास के बिना समानता नहीं होगी, उसी तरह समानता के बिना विकास भी नहीं हो सकता। अल्पविकास के दलदल से निकालने के लिए यही अकेली रणनीति है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति में एक ही क्षेत्र के भीतर और अलग-अलग क्षेत्रों की आपसी असमानताओं की पहचान, मापांकन और व्याख्या इसकी अनिवार्य पूर्व-आवश्यकता है।

उदाहरण के तौर पर शत-प्रतिशत साक्षरता-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्यवाही की किसी योजना को समुचित स्तर पर नहीं बल्कि निदान तथा उपचार की अत्यंत असमुचित व्यवस्था पर ही आधारित किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में एक ऐसे जनपद के लिए जिसमें आदिवासी/ग्रामीण जनसंख्या का अत्यधिक केंद्रीकरण हो, गैरअनुसूचित या नगरीय जनसंख्या केंद्रीकरणवाले किसी जनपद की अपेक्षा भिन्न प्रोत्साहनों, स्कूल मानचित्रण तकनीकों, अध्यापकों की नियुक्तियों तथा छात्रावास व्यवस्था की आवश्यकता होगी। जनपदवार आंकड़ों पर आधारित यह विश्लेषण इसी उद्देश्य को ध्यान में

तालिका 3.1 : असमानता सूचकांकों का सह-संबंध गुणांक : 1981

क्रम सं.	असमानता सूचकांक	माध्य	मानक विचलन	विवरण गुणांक
1.	पुरुष-स्त्री	.400	.163	.4076
2.	ग्रामीण (पुरुष-स्त्री)	.482	.482	.4377
3.	नगरीय (पुरुष-स्त्री)	.222	.088	.3946
4.	ग्रामीण-नगरीय	.344	.161	.4887
5.	पुरुष (ग्रामीण-नगरीय)	.268	.141	.5247
6.	स्त्री (ग्रामीण-नगरीय)	.519	.259	.4997

रखकर किया गया है। यह भी ध्यान में रहे कि इस खंड का विश्लेषण खंड 2 में अंकित सूचकांकों द्वारा मापी गई विभिन्न प्रकार की असमानताओं के परिमाण पर आधारित है।

साक्षरता दर की अंतःक्षेत्रीय (एक ही क्षेत्र के भीतर) असमानताओं के छः सूचकांकों के अंतःसंबंधों की पड़ताल करने से पहले बेहतर यह होगा कि हम विभिन्न जनपदों के बीच उनकी भिन्नताओं के परिमाण पर विचार करें। तालिका 3.1 में इन छः सूचकांकों में से प्रत्येक के लिए माध्य, मानक विचलन और विचरण गुणांक दिए गए हैं।

तालिका 3.1 से पता चलता है कि ग्रामीण-नगरीय तत्त्वोंवाले असमानता सूचकांकों के लिए विचरण गुणांक पुरुष-स्त्री असमानता सूचकांकों की तुलना में बहुत अधिक हैं। ग्रामीण-नगरीय असमानता के संदर्भ में विचरण गुणांक का उच्चतम मान पुरुष (ग्रामीण-नगरीय) के लिए है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्थानिक (स्पैटियल) परिवर्तन ग्रामीण-नगरीय क्षेत्र के विभिन्न तत्त्वों के लिए ग्रामीण या नगरीय खंड के अंदर की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

अब हम सभी 388 जनपदों के लिए कारक भारकों को आगत चलन और कारक समकों को प्रेक्षण समुच्चय मानकर असमानता सूचकांकों के कारक विश्लेषण से उभरने वाले अंतर्निहित प्रतिमानों की व्याख्या करेंगे। प्रत्येक कारक के लिए कारक भारकों की पड़ताल करने से एक ही क्षेत्र के भीतर की असमानताओं के परिमाण के भूखंडीय प्रतिमानों का बेहतर विश्लेषण संभव है। जो कारक समंक विभिन्न कारकों के संदर्भ में अलग-अलग जनपदों के व्यवहार का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे स्थानिक प्रतिमानों को उभारते हैं जिनका वर्णन अधिक उपयोगी कारक भारकों की सहायता से किया गया है। कारक समकों की गणना में मूल चलनों को संबंधित कारकों के साथ उनके संबंध के अनुपात में भार दिया गया है जिनका मापांकन संगत कारक भारकों के द्वारा किया गया है। परिणामस्वरूप उभरनेवाली स्थानिक रूपरेखा भारतीय शैक्षिक विकास की क्षेत्रीय संरचना की कुछ प्रमुख विशेषताओं को सामने लाने में हमारी सहायता करती है।

वर्तमान विश्लेषण में कुल विचरण में कारकों को उनके हासमान क्रम में योगदान के अनुसार व्यवस्थित किया गया है जिसे वैरीमैक्स घूर्णन की विधि द्वारा मापा गया है। कारक संरचना दो कारकों तक सीमित है और वह कुल विचरण के 91% से भी अधिक माप की व्याख्या करती है। सामुज्यताएं 0.77 से 0.99 तक परिवर्तित होती हैं और अधिकांशतः 0.90% से ऊपर ही हैं। सामुज्यताओं के उच्च मान इस तरह स्पष्ट करते हैं कि इन छः सूचकांकों में प्रत्येक में परिवर्तन का एक बड़ा भाग दो कारकों द्वारा व्याख्यायित किया जा सकता है। यह भी देखा जा सकता है कि इन दोनों कारकों के लिए अलग-अलग चलनों के कारक चिह्न धनात्मक हैं। इससे संकेत मिलता है कि क्षेत्रीय विस्तार में असमानता के सभी सूचकांकों का सहपरिवर्तन एक ही दिशा में होता है।

प्रत्येक चलन की संगत सामुज्यताओं विस्तृत घूर्णक कारक भारकों को तालिका

तालिका 3.2 : घूर्णक कारक भारक

क्रम	असमानता सूचकांक	कारक 1	कारक 2	सामुज्यताएं
1.	पुरुष-स्त्री	.930	.240	.09221
2.	ग्रामीण (पुरुष-स्त्री)	.884	.366	.9154
3.	नगरीय (पुरुष-स्त्री)	.840	.254	.7697
4.	ग्रामीण-नगरीय	.309	.944	.9863
5.	पुरुष (ग्रामीण-नगरीय)	.198	.960	.9613
6.	स्त्री (ग्रामीण-नगरीय)	.538	.816	.9555
	इंग्रेनमान	2.78	2.73	
	समुच्चय प्रतिशत विचरण व्याख्याकृत	46.30	91.80	

3.2 में दर्शाया गया है। पहले दो कारक भारकों के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों पर नीचे विचार किया गया है।

कारक 1: पुरुष-स्त्री साक्षरता दर की असमानताएं

घूर्णन का पहला कारक 46% से अधिक विचरण के लिए उत्तरदायी है और पुरुष-स्त्री असमानता के संगत तीन चलनों के कारक भारक 0.80 से भी अधिक पाए गए हैं। इस तरह पहले कारक को पुरुष और स्त्री साक्षरता दरों की असमानताओं के क्षेत्रीय प्रतिमान का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

असमानताओं के स्थानिक (स्पैटियल) वितरण के प्रतिमान की जांच करने के लिए सभी जनपदों के कारक भारकों का परिवर्तन किया गया और उनको छः परस्पर अपवर्जक समूहों में वर्गीकृत किया गया। (1) इन वर्गों में जनपदों के राज्यवार वितरण को तालिका (3.3) में दर्शाया गया है। इस चरण में यह भी उचित समझा गया कि इन समूहों के स्थानिक वितरण की पड़ताल भी की जाए। ऐसा करने के पीछे दृष्टिकोण यह था कि एक ही जनपद के भीतर की असमानताओं के मिलते-जुलते प्रतिमानवाले जनपदों के स्थानिक संलग्नकों के महत्त्व को उजागर किया जाए, विशेषकर तब जब वे राज्यों की सीमाओं का भी अतिक्रमण करते हैं।

चित्र 2 में पुरुष-स्त्री साक्षरता दरों की असमानताओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले कारक के संगत कारक समकों के आधार पर जनपदों का स्थानिक वितरण दर्शाया

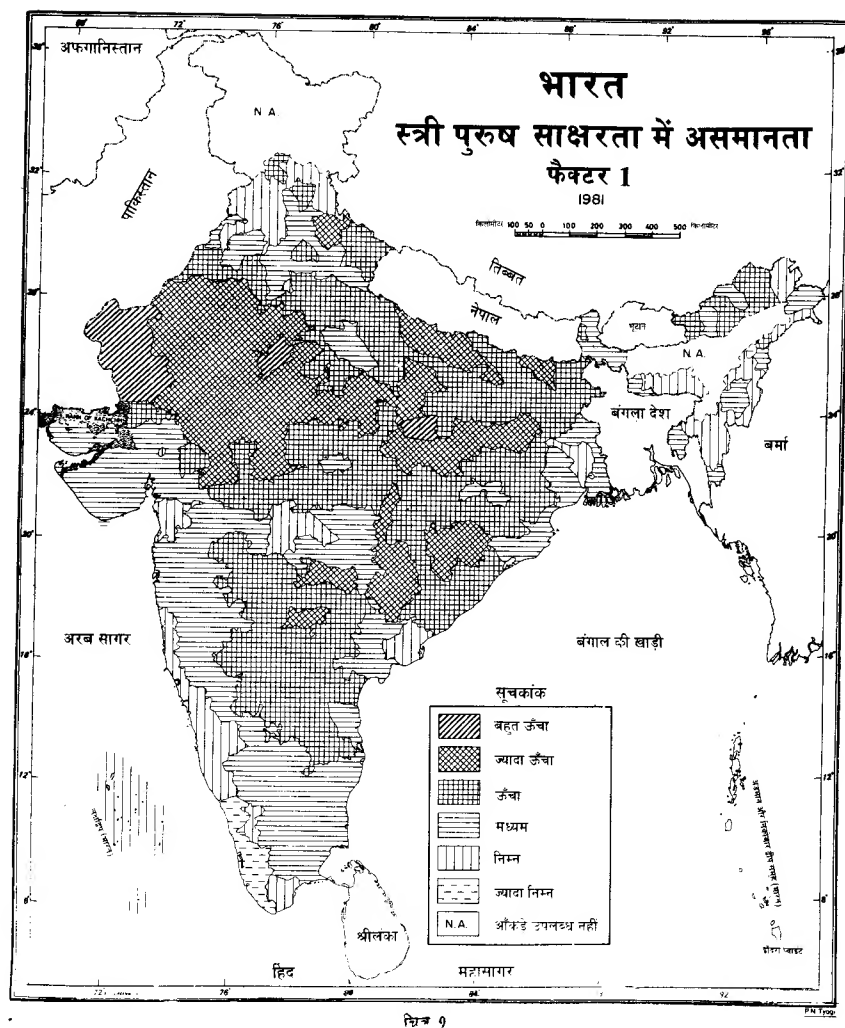
गया है। तालिका तथा कारक 1 के संगत कारक समकों पर आधारित मानचित्र पर गहराई से दृष्टि डालने से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :

- (1) नियोजित विकास के तकरीबन चार दशकों के बाद भी पुरुष-स्त्री साक्षरता की सभी प्रकार की असमानताएं देश के काफी बड़े भाग में अभी भी बहुत अधिक हैं, इतना अधिक कि देश के लगभग आधे जनपदों में उनके मान बहुत अधिक हैं।
- (2) विभिन्न वर्गों में जनपदों का राज्यवार वितरण बहुत अधिक विषमस्तरीय हैं। सामान्यतः किसी भी राज्य के अधिकांश जनपदों में एक ही जनपद के भीतर की असमानताओं के प्रतिमानों का स्वरूप बहुत कुछ एक जैसा है। उदाहरणस्वरूप, केरल के 12 में से 10 जनपदों में असमानताओं का स्तर बहुत निम्न है जबकि इसके विपरीत राजस्थान के 26 में से 25 जनपदों में पुरुष-स्त्री साक्षरता दरों की असमानता या तो अधिक या बहुत अधिक है।
- (3) तालिका 3.3 का पंक्तिवार अध्ययन इस बात को दर्शाता है कि आंध्रप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश जैसे शैक्षिक पिछड़ेपनवाले राज्यों के अधिकांश जनपदों में पुरुष-स्त्री साक्षरता की असमानता अभी भी बहुत अधिक है। दूसरी ओर पंजाब, मेघालय और नागालैंड के अधिकांश जनपदों में असमानता का स्तर बहुत ही निम्न है।
- (4) तालिका 3.3 में स्तंभवार अध्ययन से पता चलता है कि आर्थिक या बहुत अधिक असमानतावाले 73 जनपदों में से 61 मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा उत्तरप्रदेश के संलग्न राज्यों में स्थित हैं।
- (5) चित्र 2 के अध्ययन से ज्ञात होता है कि असमानता के किसी विशेष स्तर वाले जनपद संलग्न होने की प्रवृत्ति दर्शाते हैं और ऐसे संलग्नक राज्य की सीमाओं का अतिक्रमण भी करते हैं। असमानता के ऊंचे स्तरवाले जनपदों का संलग्नक पश्चिमी राजस्थान से मध्य बिहार तक फैला हुआ है। राजस्थान, उत्तरी मध्यप्रदेश, पूर्वी उत्तरप्रदेश और दक्षिणी उड़ीसा के संलग्न जनपद इस संलग्नक में शामिल हैं। इसी तरह पुरुष-स्त्री साक्षरता दरों की असमानताओं के अनुसार जनपदों का स्थानिक वितरण दो बड़े संलग्नकों को जन्म देता है जो वस्तुतः संलग्न नहीं हैं। ऐसे पहले संलग्नक में दक्षिणी मध्य भारत के जनपद हैं और दूसरे में केंद्रीय मध्यप्रदेश, उत्तरी उड़ीसा, उत्तरी और दक्षिणी बिहार के जनपद हैं और यह गंगा के पूरे मैदान में फैला हुआ है। माध्यमस्तरीय असमानता का एक संलग्नक अंग्रेजी अक्षर यू (U) का प्रतिमान बनाता है और पश्चिमी तट से लेकर पूर्वी तट के जनपदों तक फैला हुआ है। इसमें पश्चिम तट में गुजरात, महाराष्ट्र तमिलनाडु और कर्नाटक के जनपद हैं और यह पूर्वी तट के कृष्णा जनपद तक फैला हुआ है। निम्नस्तरीय असमानतावाले जनपद बहुत थोड़े हैं

तालिका 3.3 : पुरुष-स्त्री साक्षरता दर (1981) की असमानता के अनुसार वर्गीकृत जनपदों का वितरण

(असम तथा जम्मू और कश्मीर को छोड़कर)

क्र. सं.	राज्य/केंद्र	असमानतावाले जनपदों की संख्या						
		अत्यंत उच्च	बहुत उच्च	उच्च	मध्यम	निम्न	बहुत निम्न	योग
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1.	आंध्र प्रदेश		2	14	4	2	1	23
2.	बिहार		7	24				31
3.	गुजरात			2	13	4		19
4.	हरियाणा			5	7			12
5.	हिमाचल प्रदेश			2	6	4		12
6.	कर्नाटक			5	9	5		19
7.	केरल					2	10	12
8.	मध्य प्रदेश	1	20	23	1			45
9.	महाराष्ट्र			5	17	3	1	26
10.	मणिपुर				3	3		6
11.	मेघालय				1	4		5
12.	नागालैंड			1	1	4	1	7
13.	उड़ीसा		3	6	4			13
14.	पंजाब				3	9		12
15.	राजस्थान	4	21	1				26
16.	सिक्किम			1	3			4
17.	तमिलनाडु				12	2	2	16
18.	त्रिपुरा				2	1		3
19.	उत्तर प्रदेश		15	32	9			56
20.	पश्चिम बंगाल			3	9	3	1	16
21.	अरुणाचल प्रदेश			4	3	2		9
22.	चंडीगढ़					11		1
23.	दादरा और नागर हवेली				1			2
24.	दिल्ली						1	1
25.	गोवा, दमण, दिव				2	1		3
26.	लक्षद्वीप					1		1
27.	मिजोरम				1	2		3
28.	पांडिचेरी				1	1	2	4
29.	अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह				1	1		2
	योग	5	68	128	113	56	18	388



चित्र 9

और मुख्यतः पश्चिमी तट पर हैं। इस तरह हमारा विवेचन स्पष्ट करता है कि उच्च असमानता सूचकांकवाले जनपदों का अलग-थलग न होना अनेक राज्यों को घेरते हुए समांगी संलग्नक बनाते हैं।

कारक 2 : ग्रामीण-नगरीय साक्षरता दरों की असमानताएं

अंतःक्रिया का जो दूसरा कारक कुल विचरण के 45.3% के लिए उत्तरदायी है, वह ऐसे प्रतिमान का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें साक्षरता दरों की ग्रामीण-नगरीय असमानताएं निहित हैं। ग्रामीण-नगरीय असमानताओं के महत्त्व का संकेत ग्रामीण-नगरीय संघटना के समान विचलनों के संगत उच्च कारक भारकों से ही मिल जाता है। इस दूसरे कारक की व्याख्यात्मक शक्ति पहले कारक के लगभग बराबर ही है। इसकी व्याख्या इस तथ्य से होती है कि भारतीय संदर्भ में दोनों कारक, अर्थात् पुरुष-स्त्री और ग्रामीण-नगरीय असमानताएं अभी भी उच्च स्तर और बराबर महत्त्व की हैं।

दूसरे कारक के भारकों का उपयोग करके सभी 388 जनपदों के कारक समूहों का परिचलन किया गया और उनको छः परस्पर अपवर्जक समूहों में वर्गीकृत किया गया। इन समूहों के संगत संलग्नकों का स्थानिक वितरण मानचित्र 3 में दर्शाया गया है और जनपदों का राज्यवार वितरण तालिका 3.3 में प्रस्तुत है। इस तालिका से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

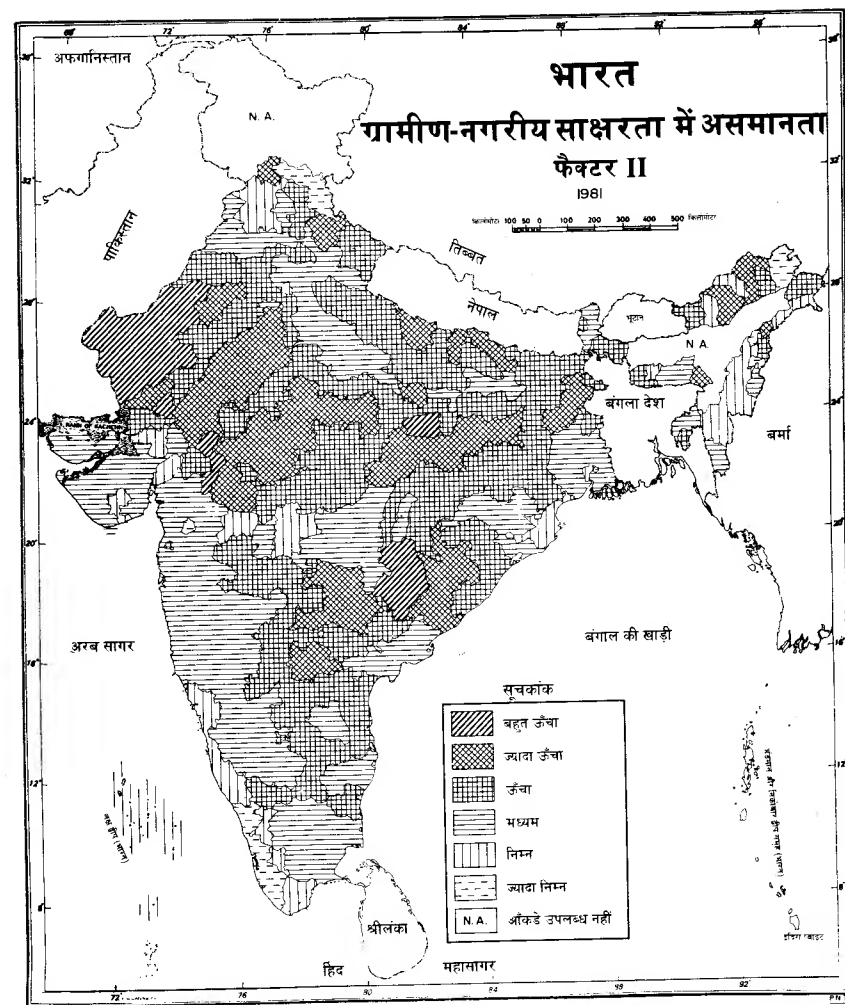
(1) देखा जा सकता है कि ग्रामीण-नगरीय असमानताओं के संदर्भ में जहां 50% से भी अधिक जनपदों में अधिक या बहुत अधिक असमानताएं हैं, वहीं केवल 22 जनपद ऐसे हैं जिनमें ये असमानताएं कम हैं। यह भी ध्यान रहे कि इन 22 जनपदों में वे भी हैं जिनमें केवल ग्रामीण या केवल नगरीय जनसंख्या ही है। स्वाभाविक है कि इन जनपदों में ग्रामीण-नगरीय असमानता शून्य है और इसलिए उनको बहुत निम्न असमानता सूचकांकवाले जनपदों की श्रेणी में रखा गया है। इनकी संख्या 14 है। इस तरह सही अर्थों में केवल 8 जनपद ही ऐसे हैं जिनमें ग्रामीण-नगरीय असमानता बहुत कम है।

(2) ग्रामीण-नगरीय असमानताओं के प्रमुख प्रतिमान बहुत कुछ वैसे ही हैं जैसे पुरुष-स्त्री साक्षरता की असमानताओं में देखे गए थे। इस संबंध में ग्रामीण जनसंख्या साक्षरता प्रसार की असमानताओं से पीड़ित है। इन दो पक्षों को दर्शानेवाले मानचित्रों की तुलना से ज्ञात होता है कि कुछ जनपद एक से दूसरी श्रेणी में सिर्फ इसलिए आ गए हैं कि वे विच्छेद बिंदुओं (कट ऑफ प्वाइंट्स) के कगार पर हैं। स्थानिक प्रतिमानों में एक जैसा अंतर आने का एक दूसरा कारण ग्रामीण-नगरीय जनसंख्या की संरचना में भिन्नता हो सकती है। विश्लेषण से स्पष्ट है कि बिहार, आंध्रप्रदेश, हरियाणा, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तरप्रदेश के अधिकांश जनपदों में ग्रामीण-नगरीय असमानता का स्तर बहुत ऊँचा है।

उपरोक्त विमर्श के प्रकाश में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत के

तालिका 3.4 : ग्रामीण-नगरीय साक्षरता दर (1981) की असमानताओं के अनुसार वर्गीकृत जनपदों का वितरण
(असम तथा जम्मू और कश्मीर छोड़कर)

क्र. सं.	राज्य/केंद्र	असमानतावाले जनपदों की संख्या						योग
		शसित क्षेत्र	अत्यंत उच्च	बहुत उच्च	उच्च	मध्यम	निम्न	
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1.	आंध्रप्रदेश		6	11	5		1	23
2.	बिहार		7	20	4			31
3.	गुजरात			2	12	4	1	19
4.	हरियाणा			7	5			12
5.	हिमाचल प्रदेश		1	3	3	3	2	12
6.	कर्नाटक			5	11	3		19
7.	केरल					3	9	12
8.	मध्यप्रदेश	3	18	21	3			45
9.	महाराष्ट्र			4	18	3	1	26
10.	मणिपुर				1	5		6
11.	मेघालय		1	1	2	1		5
12.	नगालैंड		1	1		3	2	7
13.	उड़ीसा		2	5	4	2		13
14.	पंजाब				6	6		12
15.	राजस्थान	6	13	7				26
16.	सिक्किम			1	3			4
17.	तमिलनाडु			2	10	3	1	16
18.	त्रिपुरा			1	2			3
19.	उत्तरप्रदेश		7	28	21			56
20.	पश्चिम बंगाल		1	5	8	1	1	16
21.	अरुणाचलप्रदेश		2	3		3	1	9
22.	चंडीगढ़					1		1
23.	दादरा और नागर हवेली			1				1
24.	दिल्ली							1
25.	गोवा, दमण, दिव				2	1		3
26.	लक्षद्वीप					1		1
27.	मिजोरम				2	1		3
28.	पांडिचेरी				1	1	2	4
29.	अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह					1	1	2
योग		9	59	128	123	47	22	388



तालिका 3.5 : अंतःसहसंबंधीय तालिका

	X_1	X_2	X_3	X_4	X_5	X_6	X_7	X_8	X_9	X_{10}	X_{11}	X_{12}	X_{13}
X_1	1.000												
X_2	-.805	1.000											
X_3	-.744	.911	1.000										
X_4	-.022	.757	.728	1.000									
X_5	-.695	.519	.612	.498	1.000								
X_6	-.667	.420	.492	.457	.957	1.000							
X_7	-.718	.686	.816	.606	.934	.856	1.000						
X_8	-.040	.003	.062	.165	.008	.37	.052	1.000					
X_9	-.605	.526	.439	.275	.361	.324	.389	.484	1.000				
X_{10}	-.713	.605	.468	.461	.422	.99	.416	.251	.707	1.000			
X_{11}	-.843	.674	.868	.540	.664	.635	.697	.063	.393	.398	1.000		
X_{12}	-.552	.455	.392	.236	.044	.034	.064	.002	.290	.316	.440	1.000	
X_{13}	-.523	.449	.262	.21	.240	.244	.200	.115	.622	.771	.096	.204	1.000

X_1 = प्रतिशत कुल साक्षरता; X_2 = पुरुष-स्त्री साक्षरता का असमानता सूचकांक; X_3 = ग्रामीण (पुरुष-स्त्री) साक्षरता का असमानता सूचकांक; X_4 = नगरीय (पुरुष-स्त्री) साक्षरता का असमानता सूचकांक; X_5 = ग्रामीण-नगरीय साक्षरता का असमानता सूचकांक; X_6 = पुरुष (ग्रामीण-नगरीय) साक्षरता का असमानता सूचकांक; X_7 = स्त्री (ग्रामीण-नगरीय) साक्षरता का असमानता सूचकांक; X_8 = प्रतिशत खेतिहर श्रमिक; X_9 = प्रतिशत कृषक; X_{10} = प्रतिशत अन्य श्रमिक; X_{11} = प्रतिशत ग्रामीण साक्षरता; X_{12} = प्रतिशत नगरीय साक्षरता; X_{13} = प्रतिशत नगरीय जनसंख्या

50% से भी अधिक जनपद अभी भी ग्रामीण-नगरीय और पुरुष-स्त्री साक्षरता दरों दोनों ही असमानताओं के बहुत ऊँचे परिमाण से ग्रस्त हैं। ऐसा इस तथ्य के बावजूद है कि देश का संतुलित क्षेत्रीय विकास और विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच विकास के लाभों का समान वितरण गत 40 वर्षों के नियोजित विकास का एक लक्ष्य रहे हैं।

क्षेत्रीय असमानताएं और आर्थिक आधार की विशेषताएं

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि देश के अधिकांश जनपदों में विभिन्न द्विपदीय तत्त्वों में साक्षरता दर संबंधी अत्यंत उच्चस्तरीय एक ही क्षेत्र के भीतर की असमानताएं पाई जाती हैं। पहले के विचार-विमर्श के आधार पर यहां दुहराया जा सकता है कि असमानताओं को जन्म देनेवाले कारक अलग-अलग कार्यरत नहीं हैं बल्कि उन ऐतिहासिक-प्रक्रियाओं में निहित हैं जिन्होंने राष्ट्रीय भूखंड में एक विकृत सामाजिक-आर्थिक संरचना को जन्म दिया है।

अर्थतंत्र के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में भारी सार्वजनिक निवेश करके उसकी संरचना को बदलना स्वाधीन भारत में नियोजन का उद्देश्य रहा है। लेकिन नियोजित विकास के 40 वर्षों के बाद भी विरासत में प्राप्त अल्पविकास की क्षेत्रीय संरचना अपनी अनेक मूलभूत विशेषताओं के साथ विद्यमान है। इन संबंधों की गहरी समझ न केवल शिक्षा क्षेत्र के क्षेत्रीय नियोजकों, बल्कि पूरे आर्थिक विकास के लिए भी अत्यधिक महत्व की है, विशेषकर इसलिए कि हम स्वीकार करते हैं कि विकास प्रक्रिया के साथ शिक्षा का दोतरफा संबंध होता है। इस खंड में हम इन संबंधों के स्वरूप के बारे में कुछ गवेषणात्मक पड़ताल करेंगे। साक्षरता स्तरों और साथ ही आर्थिक आधार के सूचकों के साथ असमानता सूचकांकों के संबंध का कुछ गहराई से अध्ययन यहां किया जाएगा। चलनों के चयन पर खंड 2 में ही स्पष्टीकरण दिया जा चुका है। इन संबंधों के स्वरूप की प्रारंभिक जांच एक सहसंबंध मैट्रिक्स द्वारा की गई है जो तालिका 3.5 में प्रस्तुत है। इन तालिका के अध्ययन से निकलनेवाले कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निम्न हैं :

(1) यह स्पष्ट है कि साक्षरता स्तर का संबंध सभी छः असमानता सूचकांकों के साथ अर्थपूर्ण और ऋणात्मक है। ऋणात्मक संबंध के कारण निम्न साक्षरता स्तर वाले जनपदों में असमानता का बहुत उच्च स्तर और उच्च साक्षरता स्तर वाले जनपदों में असमानता का निम्न स्तर देखने को मिलता है। इस अंतःसंबंध से यह भी पता चलता है कि भारतीय संदर्भ में साक्षरता प्रसार असमानता के परिमाण में एक सीमा तक कमी के साथ ही संभव है। इसका अर्थ है कि समानता और विकास में कहीं कोई अंतर्विरोध नहीं है। इस तरह शैक्षिक विकास के क्षेत्र में अधिकांश संवृद्धि समानता से जुड़ी हुई रही है।

76 शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

(2) देश में ग्रामीण जनसंख्या की प्रधानता के कारण, ग्रामीण साक्षरता समग्र साक्षरता के प्रमुख निर्धारक के रूप में सामने आती है और विभिन्न असमानता सूचकांकों से भी इसके महत्वपूर्ण संबंध हैं। कुल साक्षरता और ग्रामीण साक्षरता के बीच सहसंबंध गुणांक 0.843 है जब कि नगरीय साक्षरता के साथ यह 0.552 ही है। अतः स्पष्ट है कि भारतीय संदर्भ में समग्र साक्षरता की वृद्धि मूलतः ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता प्रसार की धीमी गति के कारण अवरुद्ध होती रही है।

(3) किसी जनपद के आर्थिक आधार और साक्षरता सूचकांकों के बीच भी गहरा संबंध देखा जा सकता है। तालिका 3.5 का अध्ययन दिखलाता है कि साक्षरता दर तथा काश्तकार आबादी के बीच सहसंबंध गुणांक (-0.605) ऋणात्मक भी है और अधिक भी। इस तरह वे जनपद जो मुख्यतः कृषि पर निर्भर हैं निम्न साक्षरता स्तर वाले हैं। यह स्पष्ट प्रमाण है कि ग्रामीण जनता की साक्षरता कृषि क्षेत्रक के आधुनिकीकरण और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विभेदीकरण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

(4) प्राथमिक गतिविधियों और गृह उद्योगों के परंपरागत संयोग से बाहर कार्यरत श्रमिकों के अनुपात का सहसंबंध गुणांक साक्षरता स्तरों के साथ अर्थपूर्ण तथा धनात्मक और असमानता के अन्य विभिन्न प्रकारों के साथ ऋणात्मक है। पिछड़ी प्रौद्योगिकीवाली उत्पादन प्रक्रियाओं का दायप्राप्त आर्थिक आधार मूलतः अपर्याप्त है और साक्षरता में वृद्धि और उसकी असमानताओं को कम करके सामाजिक परिवर्तन लाने या जारी रखने दोनों कार्यों में अक्षम है।

(5) नगरीकरण साक्षरता दर को उठाने और उसकी असमानताओं को कम करने, दोनों में सहायक है। इसका कारण यह है कि साक्षरों में ग्रामीण से नगरीय क्षेत्रों की ओर जाने की एक ठोस प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और यह भी कि औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा के प्रवाधान में काफी अधिक नगरीय पक्षपात दिखाई देता है। लेकिन इन संबंधों के परिमाणों की ठीक-ठीक प्रवृत्ति के अभी भी विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है।

(6) विभिन्न असमानता सूचकांकों और ग्रामीण साक्षरता के बीच सहसंबंध गुणांक का मान नगरीय साक्षरता के संगत मान से अधिक है। इसका कारण यह है कि सामाजिक असमानताओं, विशेषकर जातिप्रथा तथा पुरुष आधिपत्य की असमानताओं की तीव्रता नगरीय की अपेक्षा ग्रामीण मानस में काफी गहरी पैठी हुई है तथा अधिक भी है।

इन सबका अर्थ यह है कि किसी जनपद में साक्षरता की असमानताओं और आर्थिक आधार की विशेषताओं के सूचकों के बीच गहरे संबंध हैं और वे आपस में गुंथे हुए हैं। इन निष्कर्षों के आधार पर यह उचित समझा गया कि क्षेत्रीय असमानताओं और आर्थिक आधार के सूचकों के बीच कार्य-कारण संबंधों का सरल समाश्रयण विश्लेषण के द्वारा और भी गहराई से अध्ययन किया जाए। हमने असमानता सूचकांकों और साक्षरता दोनों परतंत्र और आर्थिक आधार के सूचकों को स्वतंत्र चलन माना है। इसी तरह साक्षरता दरों को स्वतंत्र तथा असमानता सूचकांकों को परतंत्र चलन

मानकर भी कार्य-कारण संबंधों का अध्ययन किया गया है। विश्लेषण के प्रमुख निष्कर्षों को नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

साक्षरता, असमानताएं और आर्थिक आधार की विशेषताएं

गृह उद्योग से युक्त, प्राथमिक उत्पादन के प्राथमिक क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य गतिविधियों, विशेषतः आधुनिक कारखाने के काम में लगे श्रमिकों का प्रतिशत भाग आर्थिक आधार के सूचक का कार्य करता है जो समग्र साक्षरता की विभिन्नताओं की व्याख्या करता है। यह आर्थिक गतिविधियों के अप्राथमिकता क्षेत्रक की शक्ति है जो साक्षरता दर के प्रमुख निर्धारक के रूप में उभर कर सामने आती है। अनुमानित समाश्रयण समीकरण निम्नांकित है :

$$X_1 = 19.23 + 0.544 X_{10} \quad R^2 = .509$$

इस समीकरण की कुल व्याख्यात्मक शक्ति 51 प्रतिशत है और समाश्रयण गुणांक का धनात्मक चिह्न बतलाता है कि साक्षरता स्तर और अर्थतंत्र के अप्राथमिक क्षेत्रक में श्रमिकों का अनुपात एक ही दिशा में सहपरिवर्तित होते हैं। लेकिन इसे ध्यान में रखना चाहिए कि साक्षरता और आर्थिक आधार के संबंध अत्यंत जटिल हैं। कुछ भी हो अकेली साक्षरता अर्थतंत्र के विभिन्न क्षेत्रकों में आवश्यक कुशलताओं की मापक नहीं हो सकती है। फिर भी समाश्रयण परिणाम स्पष्ट करते हैं कि आधुनिक संगठित कारखानादारी की प्रक्रियाओं का साक्षरता स्तर से काफी गहरा संबंध है।

किसी एक ही जनपद के भीतर की असमानताओं के परिमाण और संगत साक्षरता स्तर के चलनों में प्राप्य संबंधों की पड़ताल इस खंड में की गई है। वर्तमान विश्लेषण के लिए साक्षरता को एक स्वतंत्र तथा असमानता सूचकांकों को परतंत्र चलन माना गया है। विश्लेषण के परिणाम में दो महत्वपूर्ण समाश्रयण समीकरण प्राप्त हुए जो कुल साक्षरता दर के साथ पुरुष-स्त्री और ग्रामीण-नगरीय असमानता सूचकांकों के संबंध को सामने लाते हैं। ये अनुमानित समाश्रयण समीकरण हैं :

$$\begin{aligned} X_2 &= 0.74997 - 0.010 X_1 & R^2 &= 0.648 \\ X_3 &= 0.64229 - 0.009 X_1 & R^2 &= 0.484 \end{aligned}$$

यह भी देखा जा सकता है कि इन समीकरणों में समाश्रयण गुणांक ऋणात्मक है जिस का अर्थ यह है कि पुरुष-स्त्री और ग्रामीण-नगरीय असमानताओं का चरित्र मूलतः समान है। साक्षरता दरों और असमानता सूचकांकों के मान हमेशा धनात्मक रहते हैं। इस तथ्य के कारण उच्चस्तरीय साक्षरतावाले जनपदों में असमानताएं कम होती हैं। दूसरे शब्दों में विश्लेषण से पता चलता है कि साक्षरता प्रसार के साथ असमानताएं कम होती जाती हैं। ऐसा इसलिए भी संभव है कि नई उपलब्धियां मुख्यतः निम्न वर्गों

को प्राप्त होती हैं क्योंकि अन्य वर्गों को पहले ही उच्च साक्षरता का लाभ मिल चुका होता है।

दोनों समीकरणों में समाश्रयण गुणांकों के ऋणात्मक मान के कारण संभव है कि समग्र साक्षरता के लिए एक क्रांतिमान स्थापित किया जा सके जहां से पुरुष-स्त्री और ग्रामीण-नगरीय साक्षरता की असमानताएं शून्य की ओर बढ़ने लगती हैं। नीचे के समाश्रयण समीकरण से यह बात स्पष्ट है जो ग्रामीण और नगरीय साक्षरता में वृद्धि के परिणामस्वरूप पुरुष-स्त्री असमानताओं के गिरने की प्रवृत्ति को उजागर करता है:

$$\begin{aligned} X_2 &= 0.65293 - 0.009 X_1 & R^2 &= 0.454 \\ X_2 &= 0.70538 - 0.006 X_1 & R^2 &= 0.207 \end{aligned}$$

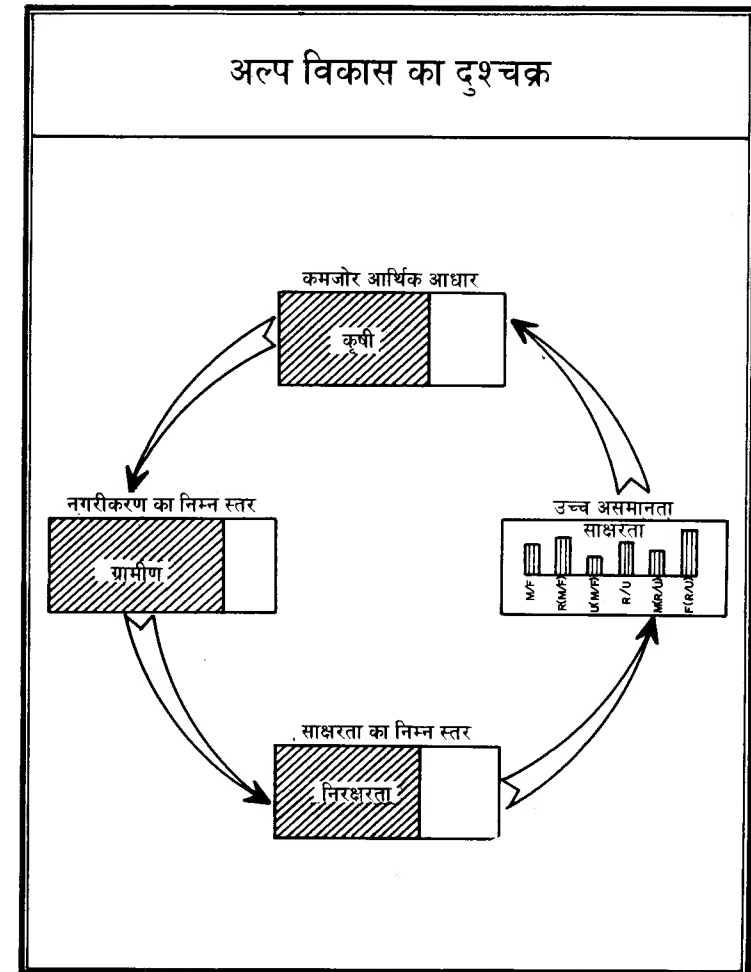
यह जानकारी भी रोचक होगी कि जब ग्रामीण साक्षरता 72.5% होती है तो पुरुष-स्त्री असमानता घटकर शून्यांक तक पहुंच जाती है, इसके विपरीत नगरीय साक्षरता के 100 प्रतिशत तक पहुंचने पर भी यह बात बनी रहती है। पुरुषों और स्त्रियों के बीच की एक ही क्षेत्र के भीतर की असमानताओं को घटाकर शून्यांक तक लाने में ग्रामीण साक्षरता के सापेक्ष महत्त्व का यह सूचक है। इन परिणामों पर टीका करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि ये परिणाम अनुप्रस्थअंशी आंकड़ों पर आधारित हैं और प्रक्षेपण के लिए इनका महत्त्व सीमित है। इन सीमाओं के बावजूद ये समीकरण प्रवृत्तियों को काफी अच्छे ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

उपरोक्त परिणामों से स्पष्ट है कि देश के विभिन्न जनपदों में साक्षरता प्रसार में तीव्र असमानताओं के अस्तित्व से अनेक अड़चनें आती हैं। यही संदर्भ है जिसमें समानतापूर्ण विकास की अवधारणा विकासमान अर्थव्यवस्थाओं की विकास संबंधी रणनीतियों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। भारतीय संदर्भ में समानतापूर्ण विकास के लक्ष्य का अर्थ मूलतः एक अधिक प्रभावी रणनीति है, ऐसी रणनीति जो विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों और समाज के वंचित वर्गों की शिक्षा के प्रति उन्मुख हो।

अल्पविकास का दुश्चक्र

असमानताओं और आर्थिक आधार के सूचकों के बीच और साथ ही साक्षरता तथा आर्थिक आधार के सूचकों के बीच के अंतर्संबंधों के स्वरूप को समझने के लिए जनपदवार आंकड़ों का विश्लेषण करते समय समाश्रयण विश्लेषण का उपयोग किया गया है। इससे पता चला कि किसी क्षेत्र के आर्थिक आधार का उसके साक्षरता स्तर से घनिष्ठ संबंध है जो अपनी बारी में साक्षरता दरों की असमानताओं के विभिन्न पक्षों से जुड़ा हुआ है। कुछ महत्वपूर्ण परिणाम नीचे दिए गए हैं :

$$\begin{aligned} X_1 &= 15.35 + 0.512 X_{10} + 0.145 X_8 & R^2 &= 0.53 \\ X_2 &= 0.48973 - 0.004 X_{13} & R^2 &= 0.20 \end{aligned}$$



चित्र-11

P. N. Tyagi

$$X_2 = 0.61788 - 0.006 X_{10} \quad R^2 = 0.37$$

$$X_{13} = 49.39 - 0.460 X_8 - 0.542 X_9 + 0.212 X_{10} \quad R^2 = 0.61$$

उपरोक्त समाश्रयण परिणाम इस परिकल्पना के सत्यापन के लिए पर्याप्त तथा निर्भ्रांत प्रमाण हैं कि सामाजिक आधुनिकीकरण और आर्थिक (अप्राथमिक) गतिविधियों के आर्थिक विविधीकरण के साथ साक्षरता का स्तर ऊपर उठता है और परिणामस्वरूप बहुस्तरीय शैक्षिक पिरामिड के आधार स्तरों पर असमानताएं कम होने की ओर प्रवृत्त होती हैं।

समाश्रयण परिणाम यह भी स्पष्ट करते हैं कि नगरीकरण किसी जनपद के आर्थिक आधार की विशेषताओं का संश्लिष्ट परिणाम होता है। इसके संबंध में τ_2 का मान 0.61 है। समाश्रयण समीकरण की पड़ताल से पता चलता है कि नगरीकरण की प्रक्रियाएं आधुनिकीकरण और अर्थतंत्र के उद्योगीकरण के साथ-साथ चलती हैं। इस तरह स्पष्ट है कि अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं की ओर सामाजिक-आर्थिक संरचना के विखंडन के लक्षणों की निरंतरता एक दूसरे से जुड़ी हुई है। उपरोक्त समाश्रयण परिणाम यह स्पष्ट करते हैं कि कुछ सीमा तक नगरीकरण पुरुष-स्त्री असमानताओं को कम करने में सहायक भी है।

असमानताओं और साक्षरता के स्तरों से आर्थिक आधार की विशेषताओं और शैक्षिक विकास के सूचकों के पारस्परिक संबंधों की मोटी-मोटी विशेषताओं को सामने लाने के बाद अब हम विश्लेषण की दिशा में एक चरण और आगे बढ़कर अल्पविकास के दुश्चक्र की एक प्रतिकृति प्रस्तावित करना चाहेंगे जो भारतीय अर्थतंत्र की क्षेत्रीय संरचना के उन मूल तत्त्वों तथा विशेषताओं को समेटती है जो नियोजित विकास के 35-40 वर्षों के बाद भी विकास प्रक्रिया को बाधित कर रही है। अल्पविकास के इस दुश्चक्र को चित्र 4 में दर्शाया गया है।

प्रस्तावित प्रतिरूप माडल के गहन अध्ययन से स्पष्ट है कि भारतीय अर्थतंत्र के मुख्यतः कृषिमूलक आधार के कारण जनसंख्या का एक बड़ा भाग ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है और इससे आबादी की एक ऐसी सोपानात्मक व्यवस्था बनती है जो ग्रामीण नगरीय अंतराफलक के निरंतरता की विरासत में मिली विखंडन संबंधी विकृतियों को प्रतिबिंबित करती है जो ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों की असमानताओं के उदय से जुड़ी हुई है। अल्पविकास के स्थानिक संगठन की यही कमजोरियां हैं जिनके द्वारा आर्थिक दिक् (स्पेस) अनेक सोपानोंवाला हो जाता है और परिणामस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों और साथ ही विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच असंतुलन और असमानताएं उत्पन्न हो जाती हैं। ये कार्यविधियां अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। विशेषकर विकासमान अर्थव्यवस्थाओं के संदर्भ में, क्योंकि बहुत अधिक असमानताओं तथा क्षेत्रीय असंतुलों की निरंतरता उद्योगीकरण और नगरीकरण को अवरुद्ध करती है और स्वयं भी अस्तित्व में बनी रहती है। इससे, प्रथम, एक निर्बल अपर्याप्त तथा विकृत अप्राथमिक क्षेत्र का और दूसरे, निम्न

उत्पादकता तथा व्यापक निर्धनता वाले एक प्राथमिक क्षेत्र का उदय होता है। इस तरह भारत के शैक्षिक पिछड़ेपन की जड़ें मूलतः आर्थिक आधार की अपर्याप्तता और दुर्बलता में निहित हैं इसके फलस्वरूप ये उन विकृतियों की निरंतरता से विभूषित हैं जो औपनिवेशिक काल की व्यवस्था और विकास संबंधी वर्तमान रणनीतियों की कमजोरियों तथा सीमाओं की देन है।

निष्कर्ष

साक्षरता प्रसार की जटिलताओं को उद्घाटित करने की दृष्टि से उपरोक्त विश्लेषण का संबंध मूलतः साक्षरता के क्षेत्रीय वितरण की पहचान, मापांकन और व्याख्या से रहा है। इस प्रयास में क्षेत्रीय दिक् के विभिन्न द्विपदीय तत्त्वों की अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं के मापांकन के लिए हमने एक नई पद्धति का प्रस्ताव किया है। विश्लेषण 1981 के लिए साक्षरता के जनपदवार आंकड़ों पर आधारित है और हमने इसमें साक्षरता दर की असमानताओं और आर्थिक आधार की विशेषताओं के संबंध की व्याख्या करने का प्रयास किया है। उपरोक्त विचारविमर्श से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

- (1) निम्न साक्षरता दर का लगातार बने रहना (विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में) और उच्चस्तरीय असमानताओं की मौजूदगी सार्वजनी प्रारंभिक शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने में हमारी असफलताओं को प्रतिबिंबित करते हैं और क्षेत्रवार संसाधन-वितरण की वर्तमान व्यवस्था से एकदम भिन्न, एक दूसरी व्यवस्था की मांग करते हैं।
- (2) जिनके क्षेत्रों के साक्षरता स्तर को ऊपर उठाने के लिए विशेष उपचारात्मक प्रयासों की आवश्यकता है, उन क्षेत्रों की पहचान करने के उद्देश्य से इस अध्ययन में उन जनपदों की पहचान की गई है जिनमें साक्षरता वितरण की असमानताओं के अनेक स्तर दिखाई देते हैं। विश्लेषण यह भी दर्शाता है कि भारत के आधे से अधिक जनपदों में असमानता का स्तर बहुत ऊंचा बना हुआ है।
- (3) कार्य-कारण संबंधों की पड़ताल से सिद्ध होता है कि किसी क्षेत्र के आर्थिक आधार का वहां के साक्षरता प्रसार पर गहरा प्रभाव पड़ता है और यह कि नगरीकरण और उद्योगीकरण की प्रक्रियाएं साक्षरता वितरण के स्तरों तथा असमानताओं, दोनों को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। इन विशेषताओं को समेटने वाले अल्पविकास दुश्चक्र का माडल भी प्रस्तावित किया गया है।

शैक्षिक नीति के लिए वर्तमान अध्ययन के निष्कर्षों के गहरे नीतिगत निहितार्थ हैं और शैक्षिक विकास के लिए भिन्न रणनीति की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से रेखांकित करते हैं। विश्लेषण इस तथ्य को सामने लाता है कि अक्षर ज्ञान का सार्वजनीकरण समग्र विकास प्रक्रिया से गहराई से जुड़ा हुआ है और शैक्षिक योजना के प्रति कोई भी संकुचित क्षेत्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में बहुत दूर तक सहायक नहीं हो सकता है।

टिप्पणियां

- (1) कारक समकों से विच्छेद बिंदुओं का निर्धारण निम्न ढंग से किया गया है :
- | | |
|----------------------------------|----------------------|
| अत्यंत उच्च | माध्य + 2 मानक विचलन |
| बहुत उच्च माध्यम + 1 मानक विचलन, | माध्य + 2 मानक विचलन |
| उच्च माध्य | माध्य + 1 मानक विचलन |
| मध्यम माध्य - 1 मानक विचलन, | माध्य |
| निम्न माध्य - 2 मानक विचलन, | माध्य - 1 मानक विचलन |
| बहुत निम्न | माध्य - 2 मानक विचलन |
- (2) यह देखा जा सकता है कि किसी जनपद के आर्थिक आधार से संबंधित तीन चलन (अर्थात् X_8 , X_9 , X_{10}) कुल श्रम शक्ति में नहीं जोड़े गए हैं। घरेलू क्षेत्रक में कार्यरत श्रमिकों के प्रतिशत को हमने अलग से एक चलन नहीं माना है।

अध्याय चार

भारत में स्कूल शिक्षा के विकास की मापन संबंधी कुछ समस्याएं

गुणवत्ता और मात्रा

शिक्षा के विकास के अध्ययन में एक तरफ जहां गंभीर सैद्धांतिक आधार की जरूरत होनी चाहिए, वहीं दूसरी तरफ उसकी जड़ें अनुभव के यथार्थ में गहराई तक पहुंची होनी चाहिए। सार्थक अध्ययन के लिए जिस प्रकार के आंकड़ों की जरूरत होती है, उनका महत्त्व तब और बढ़ जाता है और निर्णायक रूप ले लेता है, जब भारत जैसे बहुत बड़े आकार वाले देश को हम अध्ययन के लिए चुनते हैं, जहां विविधताओं की कोई सीमा नहीं है। राज्य स्तर के कुल आंकड़ों को लेकर उनका विश्लेषण करना तो आसान काम है, लेकिन इससे कोई मकसद पूरा नहीं होता है, इसलिए हमें इससे बचने की जरूरत है। इसकी जगह जिला स्तर की सामग्री और जिला स्तर के आंकड़ों का अध्ययन सार्थक, सोद्देश्य और उपयोगी होगा गोकि यह रास्ता कष्टदायक और जटिल है। बेशक यह बात भी सच है कि सर्वेक्षण में जिला स्तर के जो आंकड़े एकत्र किए गए हैं, उनमें अनेक प्रकार की कमियां हैं। तुलनीयता और विश्वसनीयता दोनों ही दृष्टियों से ये आंकड़े दोषपूर्ण हैं लेकिन यह कोई कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि आंकड़ों का विशाल भंडार हमें यहां उपलब्ध है। यह देखकर अचरज होता है कि विद्वानों ने इन आंकड़ों की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। इसमें कोई शक नहीं कि यह कमरतोड़ परिश्रम का काम है लेकिन साथ ही इसके नतीजे बहुत ही सार्थक और उपयोगी हैं।

चूंकि प्रस्तुत संदर्भ में आंकड़ों के विशाल भंडार के इस्तेमाल की वकालत की जा रही है, इसलिए उचित होगा कि समाजविज्ञान अनुसंधान के क्षेत्र में प्रचलित अनुमान के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं की आरंभिक जांच पड़ताल कर ली जाए। सभी वैज्ञानिक विषयों में तर्कपद्धति विश्लेषण और संश्लेषण का जरूरी औजार होती है। तर्कपद्धति या तो गुणात्मक हो सकती है या मात्रात्मक। यह कभी-कभी प्रतीकात्मक भी हो सकती है। अकादमिक शोध में मात्रात्मक या प्रतीकात्मक तर्कपद्धति का उपयोग अभी हाल में किया जाने लगा है। यह बात स्वागत योग्य है क्योंकि इससे जो औजार हमें मिला

है, उसकी मदद से शैक्षिक विकास का ठीक तरीके से मूल्यांकन किया जा सकता है।

गुणवत्ता और परिमाण दोनों ही वस्तुगत यथार्थ के पक्ष हैं। गुणवत्ता उस तत्त्व का नाम है जो किसी वस्तु को वह विशिष्ट वस्तु बनाती है, जो उसकी अस्मिता की परिचायक है। इसलिए इसे समांग भागों में बांटा नहीं जा सकता, ज्यों ही ऐसा किया जाएगा वह अस्मिता समाप्त हो जाएगी। परिणामस्वरूप, इसे स्वयं मापा नहीं जा सकता। लेकिन चूंकि परिमाण को चरित्र बदले बिना घटाया-बढ़ाया जा सकता है, इसलिए परिमाणात्मक मूल्यांकनों के लिए गुणवत्ता के परिमाणात्मक सूचकों को चुनना पड़ता है। स्वास्थ्य का उदाहरण लें जो एक अखंड गुण है और उसे समभाग भागों में नहीं तोड़ा जा सकता, और इसलिए उसे प्रत्यक्ष रूप से मापा नहीं जा सकता। उदाहरणस्वरूप यह नहीं कहा जा सकता कि 'अ' 'ब' से दोगुना स्वस्थ है। इस कठिनाई से निबटने के लिए कोई चिकित्सक क्या करता है ? इसके लिए वह स्वास्थ्य के मापन योग्य परिमाणात्मक 'सूचक' चुनता है—उदाहरण के लिए, क्षयरोगी के संदर्भ में, शरीर का तापमान, खून का दबाव, शरीर का भार, शरीर में खून के लाल कणों का प्रतिशत, सफेद कणों का प्रतिशत, आदि। इन परिमाणात्मक सूचकों के मूल्य उसे पहले निदान, अर्थात् स्वास्थ्य की स्थिति के मूल्यांकन में, और फिर उपचार में सहायता देते हैं। अब हम शैक्षिक विकास के क्षेत्र से एक समकक्ष स्थिति का उदाहरण लें। पहले तो शैक्षिक नियोजकों को निदान करना, अर्थात् शिक्षा के स्वास्थ्य की स्थिति की पहचान करना होगा, और यह एक गुण है जिसे प्रत्यक्षतः नहीं मापा जा सकता। फिर अपनी विश्लेषण प्रणाली के आधार पर वह मापन योग्य निम्नांकित परिमाणात्मक सूचकों का चुनाव कर सकता है, उदाहरण के लिए (i) नामांकन का अनुपात (ii) साक्षरता दर, (iii) शिक्षक-छात्र अनुपात, (iv) शिक्षा पर प्रति व्यक्ति व्यय। अलग-अलग या संयुक्त रूप से लेने पर इन सूचकों के मूल्य शिक्षा के संदर्भ में किसी क्षेत्र के 'स्वास्थ्य' का मूल्यांकन करने में सहायता देते हैं। अपना निदान कार्य पूरा कर लेने के बाद योजनाकार फिर अपना नया कार्यभार संभालता है, यानी उपचार का कार्यभार। वह एक बार फिर अपने विकास सिद्धांत के ढांचे में अपने परिमाणात्मक सूचकों की ओर पलटता है और महत्वपूर्ण बाधकों की पहचान करता है; पर्यावरणीय, प्रौद्योगिक या संस्थागत बाधकों की पहचान। यह कर चुकने पर वह इन बाधकों को दूर करने तथा वांछित वृद्धि दर प्राप्त करने के लिए प्रस्तावित कार्यकारी रणनीति के तत्त्वों का चयन करता है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि शैक्षिक योजनाकार गुणात्मक मूल्यांकन तथा परिमाणात्मक मापों के बीच एक से दूसरे छोर तक आता-जाता रहता है। ये दोनों उसकी शोध संबंधी कार्यनीति के अभिन्न अंग हैं। गुणात्मक मूल्यांकन परिमाणीकरण को उद्देश्य तथा दिशा प्रदान करता है और उससे परिशुद्धता सटीकता तथा गहराई प्राप्त करता है।

एक प्रक्रिया के रूप में शिक्षा अध्ययन का एक ऐसा क्षेत्र रहा है, और है जिसमें परिमाणात्मक विश्लेषण तथा गुणात्मक निर्णय दोनों किए जाते रहे हैं। शैक्षिक क्षेत्र के

अनुसंधान में 'परिमाणात्मक क्रांति' के कारण अब संवृत्तियों (फेनामेना) का पहले से अधिक सटीकता अथवा परिशुद्धता के साथ मापन करना, स्पष्टीकरण के उच्चतर तरीके विकसित करना तथा वस्तुगत संवृत्तियों में अर्थ की कहीं अधिक गहरी तहों का पता लगा सकना संभव हो गया है, जो इसके पहले कम परिष्कृत उपकरणों के सहारे संभव नहीं था। अब इसके कारण अवधारणाएं तथा सिद्धांत विकसित कर सकने के लिए अनुभवजन्य तथ्यों से अमूर्तीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ा सकना भी संभव हुआ है।

शैक्षिक शोध वर्णनात्मक से विश्लेषणात्मक शोध की ओर भावचित्रात्मक (आइडियोग्राफी) से नियमान्वेषक (नोमोथेटिक) शोध की ओर जितना ही अधिक बढ़ेगा, परिमाणात्मक उपकरणों की आवश्यकता भी उतनी ही बढ़ेगी। निःसंदेह इनके अंध तथा कल्पनाहीन उपयोग में कुछ गंभीर खतरे भी हैं जिनके बारे में चेतावनी दी जानी आवश्यक है। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि उनको गर्म आलू समझकर छोड़ दिया जाए या दूर से चिमटी के सहारे धामा जाए। यह रूढ़िवादी दृष्टिकोण शैक्षिक शोध के विकास में बहुत बाधक होगा और दूसरे शास्त्रों के साथ उसकी अंतःक्रिया नहीं होने देगा। यह बात स्पष्ट रूप से समझी जानी चाहिए कि परिमाणीकरण चिंतन का सुविधाजनक विकल्प नहीं हो सकता और यह कि सांख्यिकीय उपकरण जितना ही परिष्कृत होगा उतने ही परिष्कृत विश्लेषणात्मक ढांचे की आवश्यकता होगी। केवल सिद्धांत के विकास तथा विश्लेषण के उपकरणों के परिष्करण की परस्पर गुंथी प्रक्रिया के द्वारा ही इस शोध क्षेत्र का विकास संभव है।

अनुप्रस्थ काट-विश्लेषण

इस देश का आकार एक महाद्वीप जैसा है। इसमें प्राकृतिक स्थितियों में भिन्नताएं और सामाजिक-आर्थिक असमानताएं बहुत ज्यादा हैं। इसलिए इस तरह के देश में शैक्षिक विकास के लिए जो कुछ किया गया है, उसके सार्थक अध्ययन के लिए अनुप्रस्थ काट-विश्लेषण बहुत जरूरी है।

इतिहास में विश्व के दृश्य पटल पर आंशिक रूप से परिसीमित आर्थिक क्षेत्र के रूप में राष्ट्र का उदय (भौगोलिक अर्थों में) काफी बाद की घटना है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों से घरेलू बाजार को एकीकृत करने की प्रतिक्रियास्वरूप राष्ट्र नाम की भौगोलिक इकाई का जन्म हुआ। स्थानीय श्रम विभाजन के जरिए एकीकरण की इस प्रक्रिया ने स्थानीय विभेदीकरण की प्रक्रिया का भी काम किया। इसलिए विकास को ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए जिसमें एकता और भिन्नता द्वंद्वात्मक रूप से एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और सापेक्ष रूप से एक-दूसरे पर निर्भर हैं। विवेचन का यह माडल ऐसा नहीं है जिसमें कुछ क्षेत्र आधारिक स्तर पर बंद व्यवस्थाओं के रूप में काम कर रहे हों और न ऐसा माडल है जिसमें सर्वत्र भिन्नता-रहित एकरूपता

काम कर रही हो। यहां तो क्षेत्र के भीतर ऐसे क्षेत्र हैं जहां अनेक स्तरोंवाली सीढ़ीनुमा व्यवस्था कार्य कर रही है। यह परस्पर निर्भरताओंवाली व्यवस्था है जो परस्पर निर्भरतावाली बहुत बड़ी व्यवस्था के अंतर्गत काम कर रही है। इस परिप्रेक्ष्य में यदि राष्ट्रीय स्तर की शिक्षा के विकास पर नजर डाली जाए तो पाएंगे कि यह उतनी ही सीमा तक राष्ट्रीय है जिस सीमा तक क्षेत्रीय विकास को अपने अंतर्गत समेटे हुए है, इसको बनाए हुए है तथा स्वयं को भी बनाए रखने में इनसे मदद लेती है। स्वायत्तता और दायित्व की बहुस्तरीय व्यवस्था के ढांचे के अंतर्गत ही एकीकृत भिन्नता की जटिलताओं को ठीक से समझा जा सकता है।

व्यक्ति, परिवार, गांव, कस्बा, नगर, महानगर, जिला, प्रखण्ड, राज्य और देश के भीतर के क्षेत्र, और यदि देखा जाए तो समस्त पृथ्वी और पर्यावरणप्रणाली, इस व्यवस्था में शामिल हैं। सबका एक क्षेत्र है जो अपने से उच्चतर किसी अन्य क्षेत्र की ओर अग्रसर होता है; व्यष्टि स्तर से समष्टि स्तर की ओर बढ़ता जाता है। बकी अपनी स्वायत्त स्थिति है और इस स्वायत्तता के ही संदर्भ में उसका दायित्व भी निर्धारित है। इसलिए कि सिर्फ यंत्र मानव का कोई दायित्व नहीं होता है और दासों की कोई स्वायत्तता नहीं होती। यही एक रास्ता है जिस पर चलकर विभिन्नकृत एकता की प्रक्रिया को सुगम बनाया जा सकता है, एक-दूसरे की मदद से विविधा एकता को सुदृढ़ कर सकती है। परस्पर निर्भरता और सहयोग से विशेषता को विकसित किया जा सकता है तथा दायित्वबोध के साथ मिलकर स्वायत्तता फल-फूल सकती है।

अनुप्रस्थ काट-विश्लेषण के प्रारंभ में ही इस बात को समझना उपयोगी होगा कि योजनाबद्ध विकास के चार दशकों के दौरान शैक्षिक सुविधाओं के अपार विस्तार के बावजूद अभी हमें बहुत लंबी यात्रा तय करनी है और बहुत से अधूरे काम पूरा करने हैं। देख चुके हैं कि इस मोर्चे पर हम आगे नहीं बढ़ पाए हैं। यह कभी एक ओर उपनिवेशकालीन शिक्षा की विरूपताओं के जारी रहने के कारण बनी हुई है तो दूसरी ओर वह हमारी वर्तमान विकास संबंधी रणनीतियों की सीमाओं तथा दुर्बलताओं के परिणामस्वरूप पैदा हुई है।

अनुप्रस्थ परिच्छेद तथा समय-क्रम

नियोजित विकास के पिछले तीन-चार दशकों में शैक्षिक सुविधाओं के विस्तृत फैलाव के बावजूद अभी भी बहुत दूरी तय की जानी है और बहुत से वादे पूरे किए जाने हैं। इस मोर्चे पर हुई असफलता को आमतौर पर इकतरफा विकास की वर्तमान रणनीतियों की कमजोरियों तथा सीमाओं का परिणाम माना जाता है।

नियोजित विकास के साथ भारत ने शैक्षिक विकास के एक नए युग में कदम रखा तथा उसे अभूतपूर्व सामाजिक प्रत्युत्तर मिला। धीरे-धीरे यह प्रणाली दो सदियों के औपनिवेशिक शासन में आई जड़ता के प्रभावों से उबरी। लेकिन आर्थिक विकास की

तरह शैक्षिक विकास की प्रक्रिया भी, उसके सही चरित्र में देखें तो, क्षेत्रीय विस्तार में न तो समांग थी और न सामाजिक व्यवस्था से उदासीन थी। प्रसार की प्रक्रिया जैसे-जैसे आगे बढ़ी, स्थायी आर्थिक व बुनियादी ढांचा के आधारवाले विकास के प्रकोष्ठों के प्रति तथा देश के पिछड़े क्षेत्रों के विरुद्ध उसका गहरा पूर्वाग्रह स्पष्ट होता गया। हालांकि नियोजन की प्रक्रिया ने इन विकृतियों को दूर करने की कोशिश की है, फिर भी विशालकाय विषमताएं महती सामाजिक चिंता का विषय हैं और पिछड़ गए क्षेत्रों के हित में सचेत हस्तक्षेप की मांग करती है। इसलिए 'समानतामय वृद्धि' अब सामाजिक नियोजन के प्रमुख लक्ष्यों में से एक समझी जाती है।

शैक्षिक विकास में अंतर्क्षेत्रीय विषमताओं के परिणाम को साक्षरता के आंकड़ों से समझा जा सकता है। 1981 की जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि साक्षरता की दर केरल में 69.17 प्रतिशत जितनी अधिक और अरुणाचल प्रदेश में 20.09 प्रतिशत जितनी कम है। जनपद स्तर पर ये विषमताएं और भी तीखी हो जाती हैं। उदाहरण के लिए केरल के कोट्टायम जिले में यह दर 81.35 प्रतिशत है जबकि मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले में मात्र 10.99% है। अंतःसामूहिक विषमताएं भारत के शैक्षिक विकास का एक और पहलू हैं। इस दृष्टि से समस्या सामान्य साक्षरता के कम स्तर की ही नहीं, अंतःसामूहिक तथा अंतर्क्षेत्रीय विषमताओं की ऊंची दर की भी है।

विकास संबंधी नियोजन के लिए दिक्गत (स्थानिक) इकाई का चयन इस संदर्भ में अत्यंत महत्व रखता है। राष्ट्रीय स्तर के नियोजन से राज्यस्तरीय नियोजन की ओर बढ़ना, यदि भारतीय मुहावरे का प्रयोग करें तो, आसमान से गिरकर खजूर पर अटकने जैसा है। राज्य को जनतांत्रिक शासन की समुचित इकाई माना जा सकता है, हालांकि इस पर भी गंभीर मतभेद है। लेकिन विविधता और विषमता दोनों की भिन्नताओं के कारण यह एकदम अनुचित है। अगर हम छोटानागपुर पठार को उत्तरी बिहार के मैदानों, मैदानी गुजरात को सौराष्ट्र, गढ़वाल-कुमायूं को पूर्वी उत्तर प्रदेश या तेलंगाना को कृष्णा-गोदावरी डेल्टा से जोड़ें तो शायद कोई अर्थपूर्ण निष्कर्ष भी न निकले। वृहद्स्तरीय नियोजन में इन विविधताओं को अनदेखा किया जाता है जिससे इस क्रिया की वैधता क्षेत्रीय तथा इसीलिए राष्ट्रीय विकास के संदर्भ में संदिग्ध हो जाती है। यही बात उतने ही जोर से किसी राज्य की सीमा के अंदर विद्यमान विषमताओं के बारे में कही जा सकती है। किसी भी तर्कसंगत रूप में भला कोई जैसलमेर को जयपुर, बर्दवान को सिलीगुड़ी, बंगलौर को गुलबर्गा, हैदराबाद को महबूबनगर या मेरठ को गाजीपुर के समकक्ष ठहरा सकता है ? इसलिए इसका एक ही विकल्प है कि जनपद को नियोजन की इकाई माना जाए। इसका हमें स्वागत करना चाहिए कि पांचवीं योजना से ही क्षेत्रीय नियोजन का बल राज्य से जनपद की ओर विस्थापित होता रहा है। भारतीय राजनीतिक तंत्र की बुनियादी प्रशासनिक इकाई के रूप में जनपद की खास वैधता है जो उसकी सामाजिक समरूपता, बोली की समरसता और ऐतिहासिक तारतम्य की देन है। केवल यही स्तर है जिस पर वृहद्स्तरीय प्रक्रियाएं लघुस्तरीय जगत् में अपनी जड़ें

जमाती हैं और भारतीय लोकाचार की विविधता में एकता स्थापित करती हैं। यही स्तर है जिस पर क्षेत्रक (सेक्टरल) नियोजन के ऊर्ध्व (ऊपर से नीचे) संबंधों की प्रणाली से हटकर जोर क्षेत्रीय नियोजन के क्षैतिज संबंधों की प्रणाली पर पड़ता है। यह बात शैक्षिक विकास के बारे में खासतौर से सही है जहां विशिष्टता तथा सार्वभौमिकता परस्पर अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है।

शिक्षा तथा विकास के संबंधों को मजबूत करने पर हाल में जोर दिया जाने लगा है। इस दृष्टि से जनपद का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। शैक्षिक विकास, विकास संबंधी नियोजन का अभिन्न अंग है। इसका उद्देश्य जनता का जीवन संवारना है। इसके लिए संबद्ध सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में जारी प्रयासों से शैक्षिक प्रयासों को जोड़ा जाना आवश्यक है। शिक्षा न तो व्युत्पन्न प्राचल (डिराइड पैरामीटर) है जिसका निर्धारण मूलतः बाह्य कारणों से होता हो और न ऐसा विखंडित तत्त्व है जो व्यक्ति की मनोचेतना से उत्पन्न और उसी तक सीमित रहता है। इसका एक-एक रेशा सामाजिक-आर्थिक विकास से गुंथा होता है।

पूरी विकासप्रक्रिया के संदर्भ में शिक्षा संबंधी वृहद्स्तरीय योजना की मांग यह है कि जनपदस्तरीय आंकड़ों का एक बड़ा भंडार बनाया जाए तथा उन लघुस्तरीय वास्तविकताओं की पड़ताल के लिए विश्लेषणात्मक उपकरण विकसित किए जाएं जो सामान्यरूप से विकास के लिए और खासतौर से शैक्षिक विकास के लिए प्रायः बाधकों का काम करती हैं। उपरोक्त वर्णित प्रकार के प्रयास का महत्त्व एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। जबकि कोट्टायम जिले में गैर-अनुसूचित नगरीय पुरुष जनसंख्या की साक्षरता दर लगभग पूरे 100 प्रतिशत है, वहीं बाइमेर जिले में अनुसूचित, ग्रामीण स्त्री जनसंख्या में यही दर एक प्रतिशत से भी कम है। स्पष्ट है कि इन दो स्थितियों में साक्षरता के सार्वजनीकरण के लिए योजना गुणात्मक रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार की होगी। शैक्षिक योजना के लिए किसी जनपदेतर इकाई को दिक्कत आधार बनाने से पूरे प्रयास से सामाजिक-आर्थिक तत्त्व खारिज हो जाएगा।

स्पष्ट है कि क्षेत्रीय विषमताओं को कम से कम करना भारत में शैक्षिक योजना के प्रमुख लक्ष्यों में से एक समझा जाना चाहिए। लेकिन यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि शैक्षिक योजना के क्षेत्रीय आयाम को वह महत्त्व नहीं दिया गया है जो उसे मिलना चाहिए। कुछ काल के अंतराल में अनुप्रस्थ परिच्छेद (क्रास-सेक्शनल) विश्लेषण के द्वारा ही हम क्षेत्रीय विषमताओं की समस्या का समुचित मूल्यांकन कर सकते हैं। अगर योजना का लक्ष्य समतामूलक संवृद्धि हो तो यह बात और भी सही है। इस पृष्ठभूमि में दिक्कत विश्लेषण के दो आयाम होंगे :

1. किसी सरल या जटिल चर के वितरण में दिक्कत अंतर;
2. समय के दो बिंदुओं के बीच किसी चर के परिवर्तन/वृद्धि में दिक्कत अंतर।

अनुप्रस्थ परिच्छेदक विश्लेषण का महत्त्व यह है कि इससे शैक्षिक विकास के राष्ट्रीय दिक् में हुए प्रसार में आई विकृतियों का पता लगाने में सहायता मिलती है। नीचे दी गई तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाएगी तथा कुछ चरों के आधार पर अंतर्क्षेत्रीय विषमता का परिमाण भी समझ में आ जाएगा।

सूचक	किसी जनपद में अधिकतम	किसी जनपद में न्यूनतम	भारत
1. साक्षरता, 1981	81.66 प्रतिशत (कोट्टायम, केरल)	7.33 प्रतिशत (पूर्वी कामेंग, अरुणाचल प्रदेश)	36.23 प्रतिशत
2. स्त्री साक्षरता, 1981	79.13 प्रतिशत (कोट्टायम, केरल)	2.18 प्रतिशत (पूर्वी कामेंग, अरुणाचल प्रदेश)	24.82 प्रतिशत
3. लिंग अनुपात, 1981	1242 (रत्नगिरी, महाराष्ट्र)	712 (कलकत्ता)	984
4. जोड़ों का संरक्षण दर 1984	67.7 प्रतिशत (भड़ौच, गुजरात)	4.2 प्रतिशत (कूपवाड़ा, जम्मू-कश्मीर)	29.2 प्रतिशत
5. खेतिहर उत्पादकता, रुपए प्रति हेक्टेयर में, आठवां दशक	4126 (कन्याकुमारी, तमिलनाडु)	54 (बाइमेर, राजस्थान)	973
6. मतदान में भागी-दारी, 1984	88.50 प्रतिशत (हुगली चुनाव क्षेत्र, प. बंगाल)	34.80 प्रतिशत (कोरापुर चुनावक्षेत्र, उड़ीसा)	

उपरोक्त तालिका से पता चलता है कि विभिन्न सूचकों के संदर्भ में विभिन्न जनपदों का निष्पादन (परफार्मेंस) इतना भिन्न है कि अगर विकास की स्थिति का कोई भी अर्थपूर्ण मूल्यांकन करना है तो जनपद को इकाई मानकर अनुप्रस्थ परिच्छेद विश्लेषण करना नितांत आवश्यक है।

नियोजित विकास का लक्ष्य क्षेत्रीय विषमताओं को कम करना और संतुलित विकास लाना तो है, मगर इसमें कुछ सीमित सफलता ही हाथ लगी है। आशा की गई थी कि नियोजित हस्तक्षेप के कारण पिछड़े क्षेत्र विकसित क्षेत्रों के समकक्ष आ सकेंगे। फिर भी सामाजिक-आर्थिक बाधाओं के कारण परिवर्तन के कारक वांछित परिणाम नहीं दे सके हैं। इसलिए परिवर्तन के प्रतिमानों में अंतर दिक्कत विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण अंश हो जाता है क्योंकि इससे विकास के कारकों के प्रति विभिन्न सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के विभिन्नतामूलक प्रतिरोध का पता चलता है।

परंतु यह कार्य गंभीर कठिनाइयों से भरा है। ये कठिनाइयां प्रशासनिक सीमाओं के परिवर्तनों से उत्पन्न होती हैं। साक्षरता को छोड़कर (जिसके लिए 1971 और 1981 की जनगणनाओं पर आधारित तुलनीय आंकड़े उपलब्ध हैं) किसी भी अन्य सूचक पर दो कालखंडों के लिए आंकड़ों को तुलनीय बनाना कठिन है।

बहरहाल, यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण है, इतनी महत्वपूर्ण कि ऊपर से दुर्लभ दिखनेवाली दिक्कतों पर, अनुमान पर आधारित तर्कपद्धति और कमरतोड़ मेहनत से काबू पाया जा सकता है। इससे बचने का और कोई रास्ता नहीं है।

असमानताओं का मापन

जैसा कि ऊपर बताया गया है, सामाजिक आर्थिक-संदर्भ में क्षेत्रीय असमानताओं के दो पहलू हमें दिखाई देते हैं :

1. किसी खास चर (वैरिएबल) के वितरण में जिलों के बीच परस्पर भिन्नता (सरल तथा जटिल दोनों ही मामलों में);
2. समयांतराल के दो बिंदुओं के बीच चरों के परिवर्तन की दर में जिलों में परस्पर अंतर।

योजनाबद्ध विकास का मकसद क्षेत्रीय असमानताओं को कम करना और अधिक समतापूर्ण तथा संतुलित विकास की तरफ बढ़ना है लेकिन इस काम में हमको सीमित सफलता मिली है। योजना बनाते समय ऐसी उम्मीद की गई थी कि सुनियोजित हस्तक्षेप से पिछड़े हुए इलाके विकसित इलाकों की बराबरी में आ जाएंगे। लेकिन परिवर्तन के उत्प्रेरकों से वांछित परिणाम सामने नहीं आए हैं और इसकी प्रमुख वजह सामाजिक-आर्थिक अवरोध रहे हैं। इसलिए जब हम स्थान (भौगोलिक) की दृष्टि से विश्लेषण करते हैं तो परिवर्तन के ढांचे में भिन्नता एक प्रमुख लक्षण के रूप में हमारे सामने आती है क्योंकि इससे यह पता लगता है कि अलग-अलग प्रकार की सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के दबाव के विभिन्न रूप हमारे सामने आते हैं जिनसे विकास के उत्प्रेरक प्रभावित होते हैं।

असमानताओं का स्वरूप

विकास की प्रक्रिया में सामाजिक स्तर (स्टैटिफिकेशन) की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। शैक्षिक विकास के संबंध में यह बात खासतौर से सच है। विकास कारकों के प्रति विभिन्न सामाजिक समूहों तथा एक ही सामाजिक समूह के विभिन्न खंडों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। इससे, उदाहरणस्वरूप, अनुसूचित व गैरअनुसूचित आबादी या अनुसूचित पुरुषों व स्त्रियों के बीच असमानता पैदा होती है। एक दिक्कत ढांचे में

ऐसे द्विपदीय विभेदकों (बायनोमियल डिफरेंशियल्स) का वितरण हमारे विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण पहलू है। फिर भी एक ही जनसंख्या समुच्चय के दो परस्पर अपवर्जित उपसमुच्चयों के बीच असमानताओं का मापन गंभीर प्राविधिक समस्याएं खड़ी करता है। कुछ समय से समानता गुणांक (नाइक, 1971) को विषमता के मापक के रूप में प्रयुक्त किया गया है। यह स्थान-भागफल (लोकेशन कोशिएंट) के ही समान है और इसे

$$En = X_1/X_2$$

के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, उदाहरणार्थ जहां X_1 और X_2 अपनी कुल जनसंख्याओं में साक्षरों के अनुपात हैं।

दूसरे निरपेक्ष या सापेक्ष माप भी इस कार्य के लिए व्यापक स्तर पर प्रयुक्त किए गए हैं। इनमें से अनेक की खामियां दूर करने के बाद सोफर ने (1974) विषमता का एक नया मापक प्रस्तावित किया है जो इस प्रकार है :

$$DS = \log (X_2/X_1 + \log (100-X_1) (100-X_2))$$

जबकि $X_2 > X_1$

बहरहाल, किसी विषमता सूचकांक के मूल्यांकन के लिए विकसित अभिग्राह्य ढांचे (एक्जियोमेटिक फ्रेम) की शर्तें ये विधियां पूरा नहीं करतीं। अभिग्राह्य ढांचा यह है कि इसे योगात्मक एकरूपता, पुनर्वितरण, पुनरावर्ती हस्तांतरणों तथा गणनात्मक एकरूपता की आवश्यकताएं (कुंडु, 1982) पूरी करनी हैं। इसलिए कुंडु और राव ने सोफर के सूचकांक में एक संशोधन का सुझाव दिया है जो लघुगुणकीय रूपांतरण के बिना भी उपरोक्त वर्णित चार अभिगृहीतों की शर्तें पूरी करता है। यह इस प्रकार है :

$$DS^* = \log (X_2/X_1) + \log (Q-X_1)/(Q-X_2)$$

जहां $Q > 200$ और $X_2 > X_1$

$$DS^{**} = (X_2/X_1) + (Q-X_1)/(Q-X_2)$$

साक्षरता को सापेक्षतः अधिक भारमान (वेटेज) देने की दृष्टि से रज़ा और अग्रवाल ने इसमें एक संशोधन का सुझाव रखा है :

$$W = \log (L_2/L_1) + \log [(100-I_1)/(100-I_2)]$$

$L_2 > L_1$

जबकी L_1 और L_2 साक्षरता दरें हैं तथा I_1 और I_2 उन खंडों की संगत साक्षरता दरें हैं जिनके बीच विषमता सूचकांक की गणना की जानी है।

वर्गीकरण

क्षेत्रीय विश्लेषण में दिक्कत इकाइयों का वर्गीकरण अति महत्वपूर्ण है। इसका उद्देश्य दिक्कत इकाइयों का इस प्रकार वर्गीकरण करना है कि किसी विशेष चर के वितरण में क्षेत्रीय विषमताओं का स्वरूप स्पष्ट हो जाए। वर्गीकरण की प्रायः प्रयुक्त विधियों में प्रसार (रेंज), चतुर्थक (क्वाटाईल), विधि माध्य और मानक विचलन विधि शामिल हैं। इस अध्ययन में माध्य और मानक विचलन विधि में थोड़ा संशोधन करके प्रयोग किया गया है जिसमें माध्य किसी वर्ग में विभाजन रेखा की जगह मध्यबिंदु ग्रहण करता है :

- (अ) उच्च (माध्य $x + 1.5$ मानक विचलन)
 (ब) (माध्य + 0.5 प्रा. वि. (से) माध्य + 1.5 मा. वि.) तक
 (स) (माध्य - 0.5 प्रा. वि. (से) माध्य + 0.5 मा. वि.) तक
 (द) निम्न (माध्य - 0.5 मा. वि.)

उदाहरण के लिए, इस विधि के आधार पर बनाए गए साक्षरता दरों के वर्ग इस प्रकार हैं :

उच्च	—	53.72
40.74	—	53.72
27.76	—	40.74
निम्न	—	27.76

विद्यालय स्तर पर शैक्षिक विकास के लक्षण, सूचक तथा सूचकांक

शैक्षिक विकास के मापन संबंधी शोधकार्य को जिस प्रकार अनदेखा किया गया है, उसके परिणामस्वरूप सत्ता के गलियारों में अस्पष्ट सूत्रीकृत विचारों तथा शैक्षिक रणनीतियों की भरमार हो गई है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति योजना भवन तथा शास्त्री भवन दोनों में वैज्ञानिक आधार पर शैक्षिक योजना के प्रति पर्याप्त सरोकार की कमी की देन है। उनकी परिष्कृत आगत-निर्गत (इनपुट-आउटपुट) तालिका में शिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं है और इस महत्वपूर्ण क्षेत्र के साथ अवशिष्ट प्राचल जैसा व्यवहार जारी है।

किसी सामाजिक प्रक्रिया के विश्लेषण के लिए उपकरणों और विधियों का विकास उस वैश्लेषिक ढांचे पर निर्भर है जिसमें समस्या को रखकर अध्ययन किया जाता है। प्रविधि में केंद्रीय महत्त्व का कार्य लक्षणों का समुचित चुनाव है क्योंकि इस तरह से उन प्रश्नों को पहचाना जा सकता है जिनका पूछा जाना आवश्यक है।

मापे जानेवाले लक्षणों का संबंध शैक्षिक विकास के वांछित प्रक्षेप-पथ के स्वरूप से होता है। स्कूल प्रणाली की क्षमता की आवश्यक दशा का संबंध भौगोलिक सुलभता तथा संबंधित आयु वर्ग के बच्चों के लिए स्कूल की उपलब्धता से है। इस आवश्यक दशा की पूर्ति के आधार पर हम पर्याप्त दशाओं की शिनाख्त के क्षेत्र में पहुंचते हैं। प्रणाली के परिमाणात्मक प्रसार तथा गुणात्मक सुधार के प्रयासों को पर्याप्त भारमान (वेटेज) दिया जाना आवश्यक है। चूंकि अनुसूचित/गैरअनुसूचित, नगरीय/ग्रामीण और पुरुष/स्त्री विषमताओं की दृष्टि से विद्यालय गमन अभी भी बहुत असमानतामूलक है और चूंकि ये विषमताएं न केवल वंचित जनसंख्या को निर्योग्य बनाती हैं बल्कि पूरी प्रणाली को खोखला कर रही हैं, इसलिए इस प्रणाली के स्वास्थ्य को मापने के लिए समानता के लक्षणों का केंद्रीत महत्त्व है। सभी बहुस्तरीय प्रणालियों की तरह इसमें भी शैक्षिक पिरामिड के किसी निचले स्तर से अगले ऊंचे स्तर तक, स्वीकार्य आदर्शात्मक प्रतिरूप तथा ऊर्ध्व अंतःसंबंध की दृष्टि से, छात्र जनसंख्या के संक्रमण का नियमन महत्वपूर्ण लक्षण के रूप में सामने आता है। अंतिम, और कुछ दृष्टियों से सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि न केवल 'अच्छे' बल्कि 'उपयोगी' नागरिक पैदा करने की स्कूलप्रणाली की क्षमता को निर्णायक महत्त्व का लक्षण समझा जाना चाहिए क्योंकि यही लक्षण है जिसकी कार्यशीलता के द्वारा ज्ञान और काम की दुनिया के बीच पैदा हुई खाई को पाटा जा सकता है और स्कूल का निर्गत (आउटपुट) कार्यशक्ति का आगत (इनपुट) बनता है। इन बातों को ध्यान में रखकर भारत में इस प्रणाली की क्षमता मापने के लिए स्कूल प्रणाली के निम्न लक्षणों की निशानदेही की गई है :

1. सुगमता
2. उपलब्धता
3. परिमाण
4. गुणवत्ता
5. अंतःसंबंध
6. नैयामिकता
7. उपयोगिता

इनमें से प्रत्येक लक्षण मूलतः गुणात्मक है और इसलिए सीधे-सीधे नहीं मापा जा सकता। इसलिए ऐसे सूचकों का चयन आवश्यक हो गया जिनका परिमाणीकरण किया जा सके। इसके बाद प्रत्येक सूचक को उपलब्ध आंकड़ा भंडार के आधार पर सूचकांकों में रूपांतरित किया गया। उदाहरणस्वरूप, लक्षण-समानता; सूचक-पुरुष/स्त्री विभेदक; सूचकांक-1981 में पुरुष व स्त्री नामांकन के बीच असमानता के लिए सोफर के सूचकांक का संशोधित रूप।

1. सुगमता

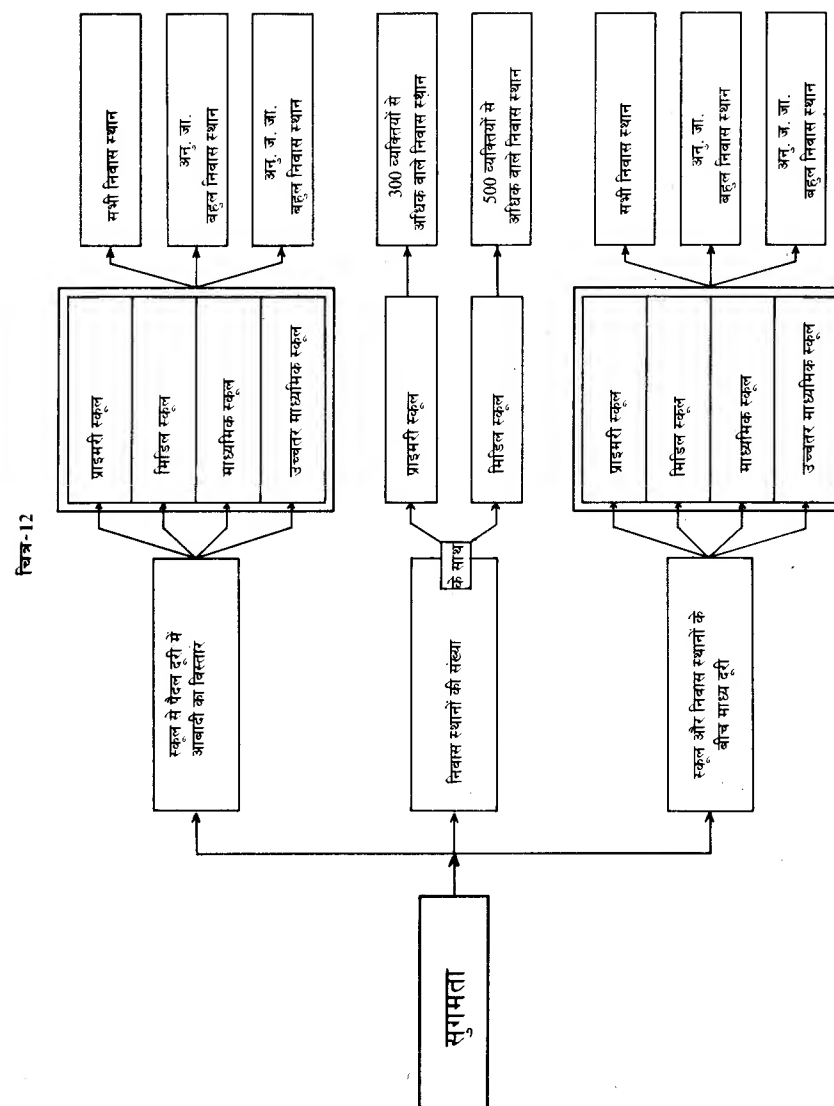
चूँकि स्कूली सुविधाओं का लक्ष्य बच्चे हैं और चूँकि स्कूली आयुवर्ग में छात्र के पालन-पोषण में परिवार की केंद्रीय भूमिका होती है, इसलिए स्कूल की सुलभता का प्राथमिक महत्त्व है और भौतिक सुविधाओं की सुलभता का इस अर्थ में केंद्रीय महत्त्व है कि कोई बच्चा स्कूल में जाता और वहाँ बना रहता है या नहीं। ऐसा दिखाया जा चुका है कि स्कूली सुविधाओं का उपयोग दूरी में कमी पर निर्भर है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति इस सुविधा के जितना करीब रहता उतना ही उसके द्वारा इसके उपयोग की संभावना है, हाँ, इसमें यह माना गया है कि इस सुलभता की राह में कोई सामाजिक-आर्थिक बाधा नहीं है। इस तरह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सुलभता के लक्षण का संबंध बच्चे के घर से निकलने तथा स्कूल के बीच की भौगोलिक दूरी से है, और जिस क्षेत्र में स्कूल है, उसकी जनसंख्या के लिए स्कूल प्रणाली की क्षमता मापने का यह एक अहम मानदंड है। सुलभता के अंशांक (डिग्री) का निर्धारण जिस जनसंख्या को स्कूल का लाभ मिलना है उसकी निवास-सुविधाओं के संबंध से स्कूल के स्थान के निर्णय से होता है।

इसमें प्रतिदिन निवास तथा स्कूल के बीच छात्रों का आना-जाना निहित है। नगरीय क्षेत्रों में जहाँ स्कूल मुहल्ले में ही स्थित हो और यातायात के वैकल्पिक साधन भी छात्रों के आने-जाने के लिए उपलब्ध हों, हो सकता है कि ऐसा आवागमन बहुत महत्त्वपूर्ण न हो। मगर ग्रामीण क्षेत्रों में इन संस्थाओं की स्थिति एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और निर्दिष्ट जनसंख्या द्वारा उनके उपयोग पर इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। स्कूल की सुलभता को निम्न सूचकों पर मापा गया है :

1. पैदल चलने योग्य दूरी के अंदर स्कूल से लाभान्वित जनसंख्या का प्रतिशत,
2. स्कूलों की भारमानित माध्य दूरियाँ।

जबकि पहला सूचक आसानी से पैदल तय हो सकनेवाली दूरी के अंदर स्कूलों से लाभान्वित जनसंख्या की तस्वीर पेश करता है, दूसरा सूचक विभिन्न स्तरों पर स्कूलों की अलग-अलग औसत दूरी का समग्र मूल्यांकन पेश करता है।

संबंधित भूभाग की विशिष्टताओं को तथा उस विशेष स्तर पर बच्चों की आयु को ध्यान में रखकर पैदल तय करने योग्य दूरी का निर्धारण करना चाहिए। विभिन्न स्तरों के लिए निम्न दूरियाँ पैदल तय करने योग्य समझी गई हैं : प्राथमिक—0.5 कि. मी., मिडिल—2.00 कि. मी., माध्यमिक व उच्चतर माध्यमिक—4.0 कि.मी.। सुलभता से संबंधित सूचकों तथा सूचनाओं को चित्र 1 में प्रस्तुत किया गया है।



2. उपलब्धता

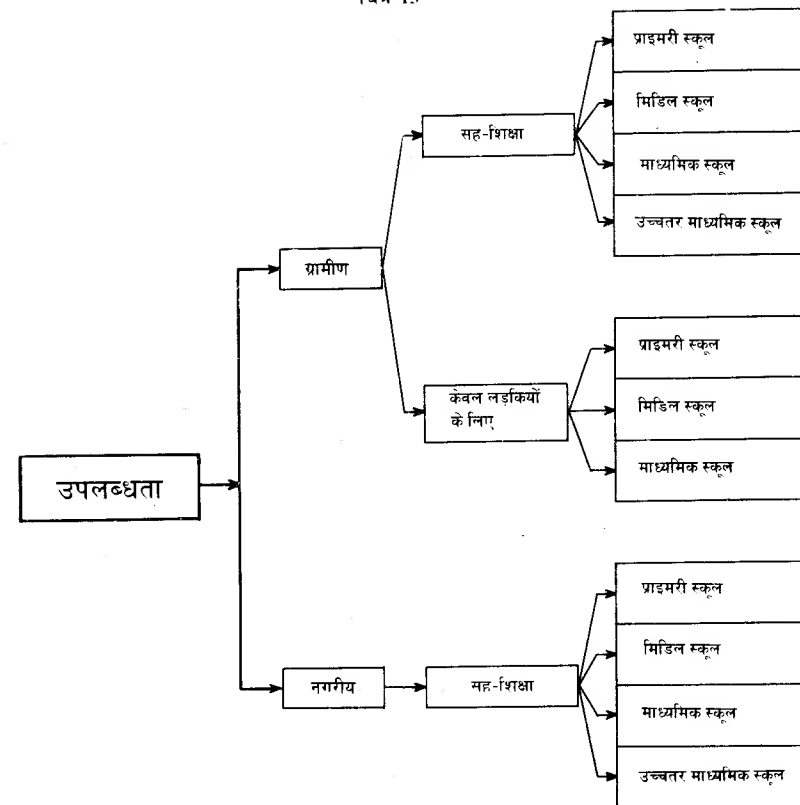
घनिष्ठ संबंध के बावजूद स्कूली सुविधाओं की उपलब्धता को, सुलभता से, विश्लेषण कार्य के लिए अलग किया जाना चाहिए। सुलभता का संबंध भौगोलिक दूरी से है जबकि उपलब्धता स्कूल जानेवाली जनसंख्या के आकार पर निर्भर है। खासकर पहाड़ी व जंगली क्षेत्रों में ऐसे स्थान हैं जहां स्कूल तक पहुंच इन सुविधाओं के उपयोग की राह में गंभीर बाधा है। दिकृत नियोजन में स्कूल के स्थान के निर्धारण में इस कारक को ध्यान में रखा जाना चाहिए। फिर भी यह बात ध्यान में रहे कि कठिन भौगोलिक क्षेत्रों में प्रायः कम जनसंख्या होती है और प्रति स्कूल बच्चों की संख्या भी सापेक्षतः कम होती है। उपलब्धता का सिद्धांत उन क्षेत्रों में अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है जिनमें जनसंख्या घनत्व बहुत अधिक है। इन मामलों में स्कूलों की स्थिति का निर्धारण तथा स्कूली सुविधाओं में वृद्धि मूलतः जनसंख्या के आकार से तय होती है और निर्णय कार्य में दूरी का महत्व कम होता है। इस तरह कहा जा सकता है कि सुलभता और उपलब्धता स्कूली सुविधाओं के दो परस्पर संबंधित पक्ष हैं।

उपरोक्त परिभाषा के अनुसार उपलब्धता आवश्यकता के अनुरूप स्कूली सुविधाओं के भौतिक अस्तित्व की परिचायक है। विशेष आयु-वर्गों के बच्चों की संख्या को ध्यान में रखकर इसका निर्धारण किया गया है। इस पहलू का महत्व जनसंख्या घनत्व के अत्यधिक दिकृत परिवर्तनों के संदर्भ में तथा आयु-लिंग पिरामिड की संरचना में है। हालांकि स्कूली सुविधाओं के उपयोग में दूरी की भूमिका को कम करके नहीं आंका जा सकता, मगर वास्तविक आवश्यकताओं की गुरुता को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। अतिरिक्त स्कूली सुविधा के संदर्भ में स्थान-निर्धारण संबंधी निर्णय प्रायः बाहरी कारकों से प्रभावित होते हैं। अगर इस तथ्य को ध्यान में रखें तो पाएंगे कि स्कूली सुविधाओं की उपलब्धता संबंधी विषमताएं बहुत ही अधिक हैं। प्रायः देखा गया है कि किसी बस्ती में अगर 50 बच्चों के लिए एक स्कूल है तो किसी और जगह एक स्कूल से 200 बच्चों को शिक्षित करने की आशा की जाती है। इस तरह की असंगतियां बहुत आम हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि जनसंख्या की आवश्यकताओं के अनुरूप स्कूलों की उपलब्धता शैक्षिक विकास की एक जरूरी शर्त है। स्कूली सुविधाओं की उपलब्धता को निम्न सूचकों की सहायता से विश्लेषित किया जा सकता है :

1. संगत आयुवर्ग में प्रति एक हजार बच्चों पर स्कूलों की संख्या,
2. संगत आयुवर्ग में प्रति एक हजार लड़कियों पर शुद्ध बालिका विद्यालयों की संख्या।

उपलब्धता के सूचकों और सूचकांकों को चित्र 2 में दर्शाया गया है।

चित्र-13



3. परिमाण

जहां सुलभता व उपलब्धता स्कूली सुविधाओं के पूर्ति पक्ष से संबंधित है और उसके परिचायक हैं, वहीं परिमाण इन सुविधाओं के वास्तविक उपयोग से संबंधित तथा इसका परिचायक है। किसी विशेष बस्ती में पूर्ति व उसके उपयोग के बीच के संबंध के स्वरूप और मात्रा, निवास की सामाजिक-आर्थिक संरचना से निर्धारित होती है।

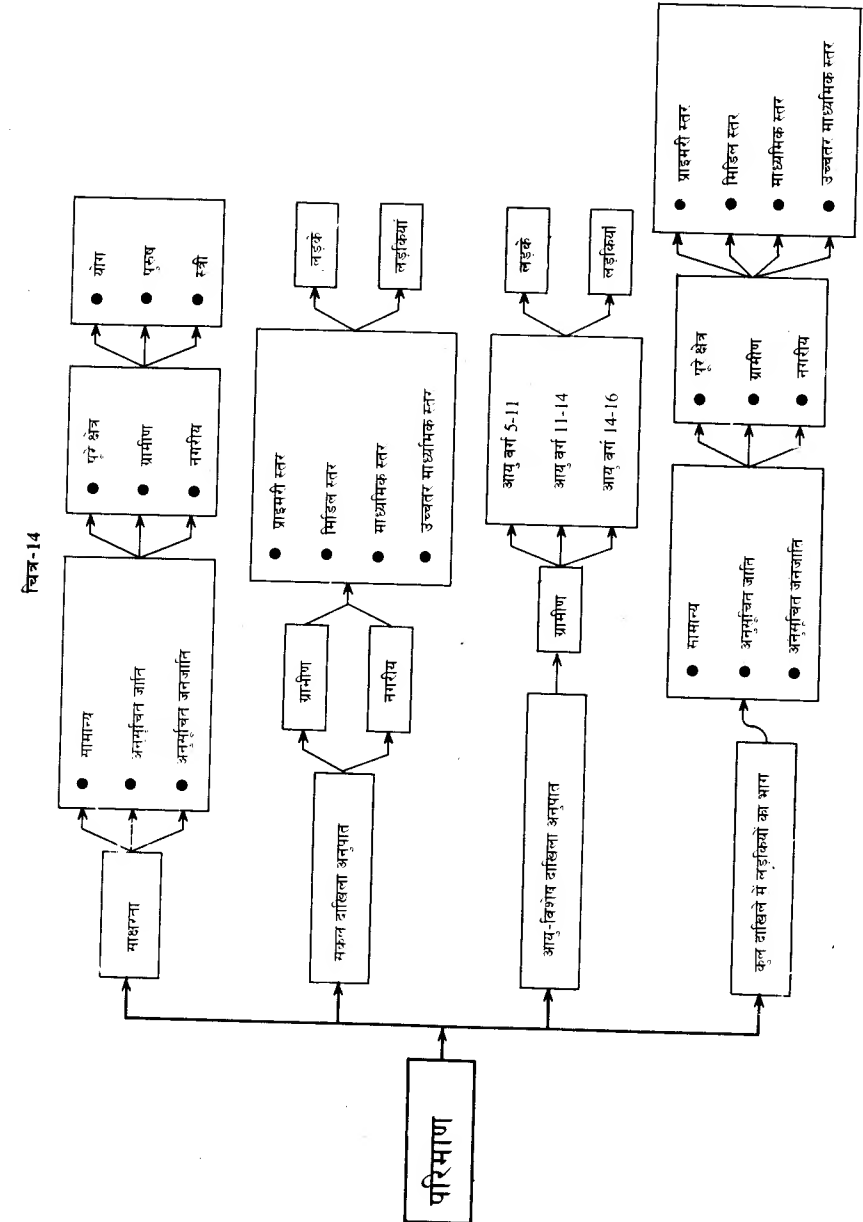
पड़ोसी विद्यालयों (नेबरहुड स्कूल्स) की योजना अत्यधिक सामाजिक-आर्थिक असमानताओं के कारण व्यावहारिक रूप नहीं ले सकी। खाते-पीते लोग दूरी न देखकर अपने बच्चों को 'अच्छे' स्कूलों में भेजते हैं। अत्यंत गरीब लोग और खासकर उनकी लड़कियां सामाजिक-आर्थिक मजबूरियों के कारण स्कूल छोड़ देती हैं। एक तरफ सुलभता व उपलब्धता तथा दूसरी तरफ परिमाण के सूचकांकों के बीच की खाई उस विकृति का परिचायक है जो सामाजिक असमानताओं द्वारा स्कूली परिवेश में पैदा कर दी गई हैं।

उपलब्ध आंकड़ों को अगर आधार बनाया जाए तो कहा जा सकता है कि हालांकि अधिसंख्य बच्चों को प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध हैं, फिर भी आरंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का लक्ष्य हमारी पहुंच से अभी काफी दूर है। स्कूल के बगल में या खुद स्कूल के प्रांगण के अंदर रहनेवाले, वास्तव में अधिकतर उसमें काम करनेवाले, बच्चे भी उसकी सुविधाओं का उपयोग नहीं करते। सुलभता और उपलब्धता के सूचकांकों के संदर्भ में 'परिमाण' के सूचकांकों को देखने से हमें उन प्रश्नों की छानबीन करने में मदद मिलेगी जो शैक्षिक प्रणाली के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

स्कूली सुविधाओं के उपयोग को दो सूचकों के आधार पर मापा गया है : एक तरफ, साक्षरता दर जो शैक्षिक प्रयास की औपचारिक और अनौपचारिक, दोनों धाराओं द्वारा की गई कोशिशों का अंत्योत्पाद (एंड प्राडक्ट) हैं तथा दूसरी तरफ, नामांकन के अनुपात जो वर्तमान स्थिति को परिलक्षित करते हैं। बादवाला सूचक समग्र तथा आयु-विशिष्ट रूपों के विश्लेषण के लिए तथा लड़कियों के लिए अलग-अलग प्रयुक्त किया गया है। इन सूचकों के अनेक आयामों को नीचे के चित्र में प्रदर्शित किया गया है।

4. गुणवत्ता

स्कूल प्रणाली की गुणवत्ता अपनी परिभाषा के कारण ही एक अत्यंत महत्वपूर्ण लक्षण है। इस क्षेत्र में गुणवत्ता का जो महत्व है, वह मानव व्यापार के किसी अन्य क्षेत्र में नहीं क्योंकि अंतिम विश्लेषण में शिक्षा का अर्थ मनुष्य को अधिक मनुष्य बनाना है। लेकिन शायद इसी कारण से इसका मापन सबसे कठिन भी है। अंतर्निर्भरताओं

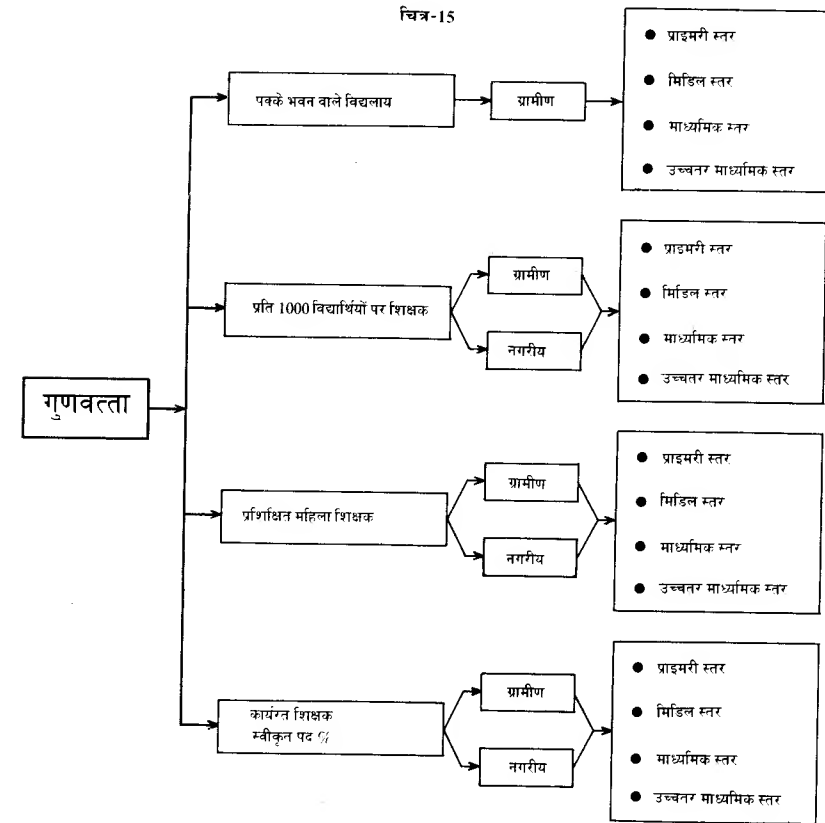


की एक जटिल प्रणाली में एक-दूसरे पर क्रियारत अनेक कारक वह स्कूली लोकाचार उत्पन्न करते हैं जिससे हमें उच्च कोटि के छात्र देनेवाले किसी अच्छे स्कूल की पहचान में मदद मिलती है। लेकिन अंत्योत्पाद की गुणवत्ता के मूल्यांकन की समस्या अभी भी शैक्षिक योजनाकारों तथा प्रशासकों को परेशान किए हुए है, और मापन के उचित साधनों की तलाश में हम प्रायः घूमफिर कर प्रस्थान-बिंदु पर ही पहुंच जाते हैं। क्या परीक्षा के परिणामों में परिलक्षित होनेवाली विद्वत्ता संबंधी उपलब्धियां पर्याप्त हैं? ये और ऐसे ही अनेक जटिल प्रश्न अपना उत्तर मांग रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय के विशाल पैमाने तथा उपलब्ध आंकड़ा-भंडार की सीमाओं के कारण हमने स्वविवेक पर ही निर्भर किया है और प्रश्नों के अत्यधिक महत्त्व को समझते हुए भी ऐसे प्रश्नों से बचते रहे हैं।

मापन के उद्देश्य से हमने दो आगत-कारकों (इनपुट फैक्टर्स) का उपयोग किया है। शिक्षक-छात्र अनुपात इनमें पहला है। आशा की जाती है कि अनुप्रस्थ पदों के प्रतिशत रूप में शिक्षकों की संख्या और, उससे भी महत्वपूर्ण, प्रशिक्षित स्त्री शिक्षकों के भाग को साथ लेने पर हमें छात्रों को दी जा रही शिक्षा की गुणवत्ता का एक संकेतक उपलब्ध होगा। दूसरे, बुनियादी ढांचे संबंधी सुविधाओं के एक महत्वपूर्ण तत्व तथा एक निकटवर्ती संकेतक के रूप में पक्के भवन की उपलब्धता को ध्यान में रखा गया है। इन सूचकों के अनेक आयामों को चित्र 4 में प्रदर्शित किया गया है।

5. अंतस्संबंध

अंतस्संबंध के लक्षण का संबंध छात्रों के एक वर्ग से दूसरे वर्ग में संक्रमण से है। स्कूल के विभिन्न चरण एक ही सकीकृत प्रणाली के अंग हैं। हर चरण का निर्गत (आउटपुट) अगले उच्चतर चरण का आगत (इनपुट) होता है। उदाहरण के लिए, सक्षमतापूर्वक चल रहा प्राथमिक चरण एक ठोस मध्य (मिडिल) चरण की पूर्वावश्यकता है। अगर सामाजिक-आर्थिक बाधाएं प्रगति को न रोकें तो प्रणाली के अंदर कक्षा एक में नामांकित छात्र बेरोकटोक, शिक्षा समाप्त होने तक ऊपर ही बढ़ता रहता है। आदर्श रूप में एक ही स्कूल के अंदर नामांकन का पिरामिड, पिरामिड नहीं, एक आयत होना चाहिए। केवल विद्यालयोत्तर अवस्था में ही नामांकन पिरामिडाकार होना आरंभ होता है जब हर चरण में विभाजन उनके बीच होता है जो शिक्षा छोड़कर रोजगार में जाते हैं और जो उच्चतर चरण में प्रवेश करते हैं। फिर भी देखा गया है कि अधिकांश विकासमान देशों में विद्यालय के अंदर ही पिरामिड एक दुःखदायी वास्तविकता है क्योंकि अधिकाधिक बच्चे स्कूल छोड़ते जाते हैं। भारत के संदर्भ में यह बात खासकर सच है और इसके यहां पिरामिड के आधार का निम्नकोण स्कूल प्रणाली के रोगग्रस्त चरित्र का परिचायक है और कारण आरंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का लक्ष्य प्राप्त करने के तमाम प्रयास फलीभूत नहीं हो पाते। नामांकन के पिरामिड हमें स्कूल शिक्षा के



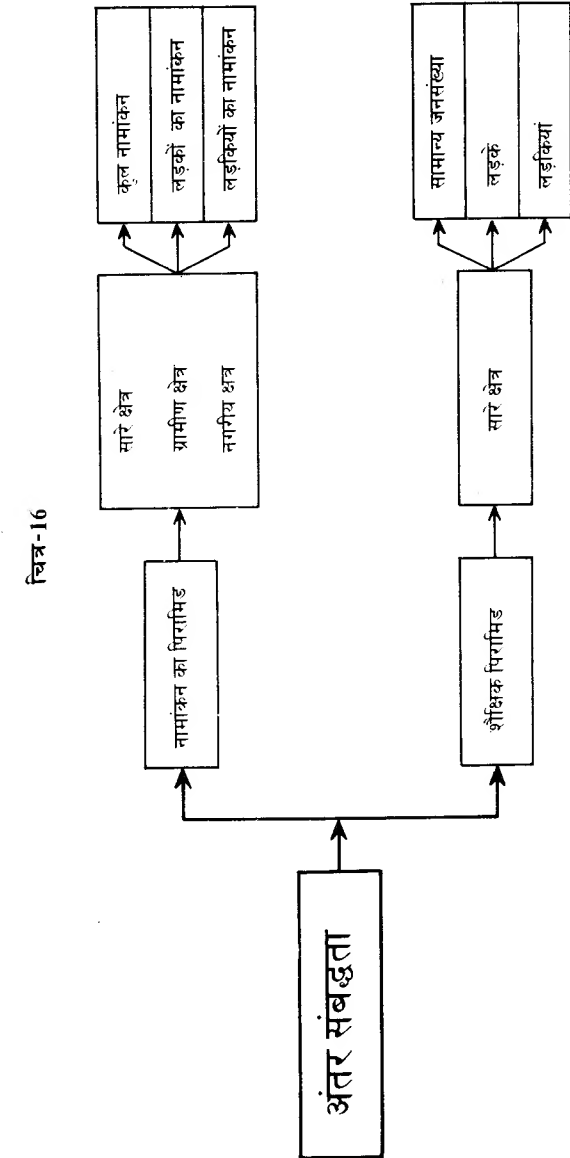
विभिन्न चरणों के अंतःसंबंधों के विश्लेषण के लिए उपकरण प्रदान करते हैं। इस रोग के स्वरूप के बारे में निम्नलिखित पिरामिडों से समुचित सहायता मिल सकती है :

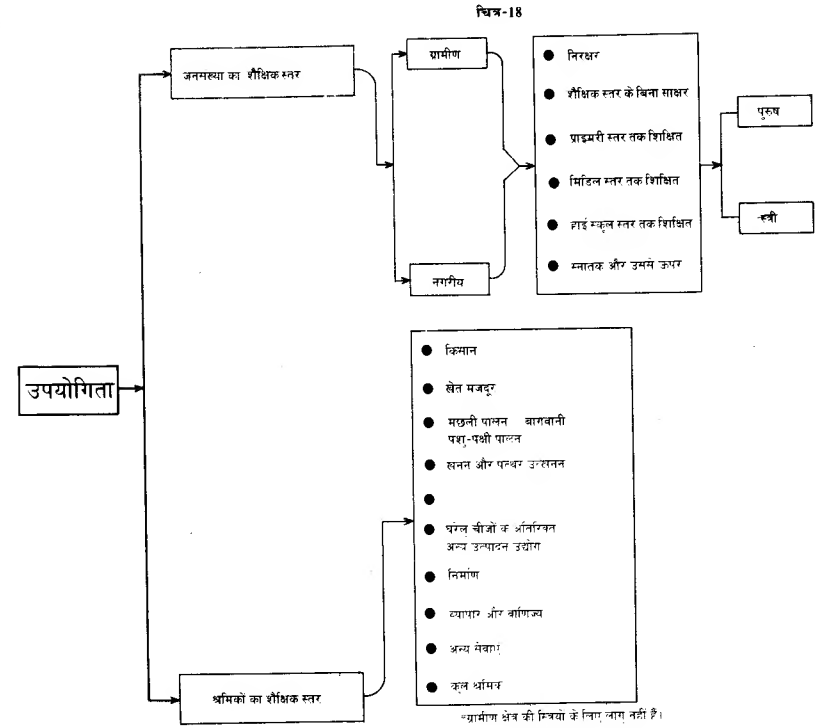
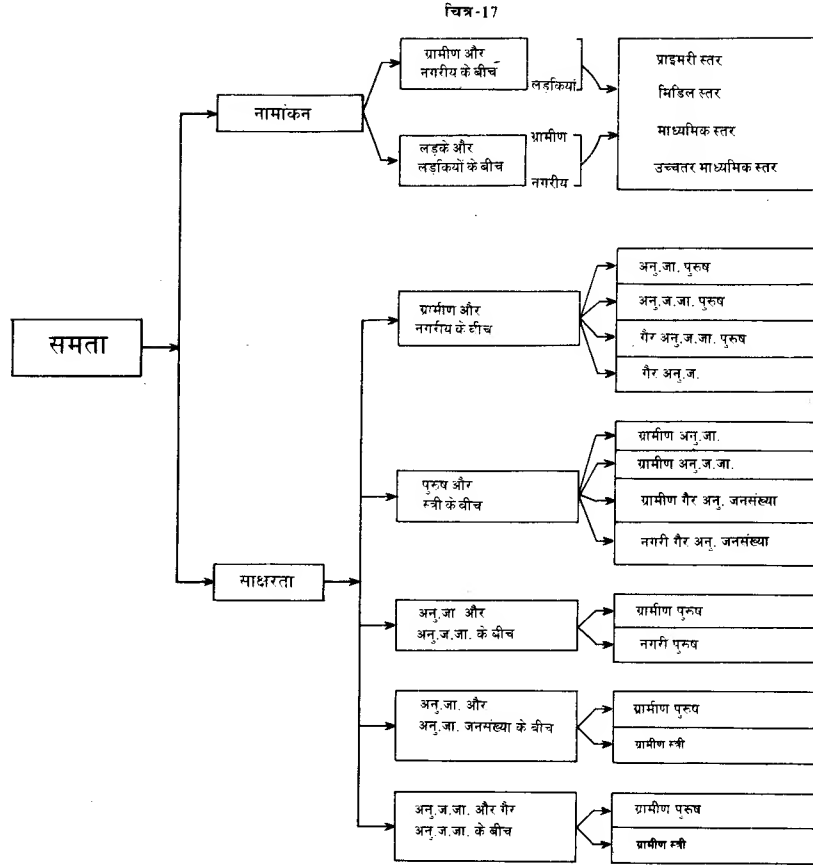
- (क) ग्रामीण क्षेत्रों के लिए नामांकन के पिरामिड;
- (ख) नगरीय क्षेत्रों के लिए नामांकन के पिरामिड;
- (ग) कुल जनसंख्या के लिए नामांकन के पिरामिड;
- (घ) लड़कों तथा लड़कियों के लिए शैक्षिक पिरामिड, तथा कुल जनसंख्या के लिए शैक्षिक पिरामिड।

6. समता

शैक्षिक विकास में समता के लिए सरोकार जनसंख्या के वंचित भागों के प्रति नैतिक प्रतिबद्धता से ही नहीं बल्कि ठोस राष्ट्र निर्माणकार्य की आवश्यकताओं से भी उत्पन्न होता है। फिर भी समता (इक्विटी) और समानता (इक्वैलिटी) में अंतर किया जाना चाहिए। जहां समानता एक परिमाणात्मक अवधारणा है, वहीं समता मूलतः गुणात्मक है और इसका संबंध सुनीति या न्याय के सिद्धांत के उपयोग से है जिसका निहितार्थ यह भी है कि सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए संरक्षणात्मक भेदभाव (प्रोटेक्टिव डिस्क्रिमिनेशन) की नीति भी अपनानी पड़ेगी। ऐसा ही एक अंतर अरस्तू ने भी गणितीय और आनुपातिक समानता के बीच किया था और आनुपातिक समानता से उसका तात्पर्य ऐसी व्यवस्था से था जिसमें लोगों को उनके तात्कालिक संदर्भ व स्थिति के सापेक्ष विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न अनुपातों में वस्तुएं प्राप्त हों।

असमानताएं अथवा विषमताएं भारतीय लोकमानस में गहरी जड़ें जमाए हुए हैं। औपनिवेशिक प्रभुओं की नीतियों ने उन्हें और पुष्ट किया तथा उनकी धार पर सान चढ़ाया। शिक्षा न सिर्फ इनमें से कुछ विषमताओं से प्रभावित होती रही है बल्कि असमानिकरण का एक समर्थ साधन भी रही है। मानसिक तथा शारीरिक श्रम के अंतर तथा शारीरिक श्रम के प्रति निरंतर भेदभाव ने हजारों वर्षों तक श्रमजीवी जनता को शैक्षिक प्रयास के दायरे से बाहर रखा है। भारतीय स्कूल प्रणाली की विषमताएं बहुस्तरीय हैं—अनुसूचित बनाम गैरअनुसूचित, स्त्री बनाम पुरुष, ग्रामीण बनाम नगरीय, पिछड़े क्षेत्र बनाम सापेक्षतः अगड़े क्षेत्र। यह स्पेक्ट्रम पिछड़े क्षेत्रों की ग्रामीण बस्तियों की अनुसूचित जाति महिलाओं से लेकर सापेक्षतः विकसित क्षेत्रों की नगरीय बस्तियों के गैरअनुसूचित जाति के पुरुषों तक फैला हुआ है। इस अध्ययन में विश्लेषित विषमताओं के विभिन्न पक्षों को चित्र 6 में प्रदर्शित किया गया है।





7. उपयोगिता

अंतिम विश्लेषण में स्कूली शिक्षा संसाधन के रूप में मनुष्य के विकास की एक महत्वपूर्ण लागत है। यह श्रम की गुणवत्ता बढ़ाती है और जीवन की गुणवत्ता को समृद्ध बनाती है। हालांकि इस संदर्भ में शिक्षा के सभी चरण महत्वपूर्ण हैं, फिर भी स्कूलों का इस दृष्टि से विशेष महत्व है क्योंकि न सिर्फ यह अन्य सभी चरणों की बुनियाद है बल्कि अनेक देशों में इसे श्रमशक्ति में शामिल होने के लिए आवश्यक पारपत्र भी माना जाता है। जो नागरिक उपयोगी होने के साथ अच्छे भी ऐसे नागरिक उत्पन्न करने में इसकी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका है। काम न करनेवाले शिक्षित 'विचारकों' तथा विचार न करनेवाले अशिक्षित श्रमिकों के बीच समाज के विभाजन को सभ्य जीवन प्रणाली मानने से इनकार किया जा चुका है। इस प्रकार आम आबादी तथा श्रमशक्ति का शैक्षिक स्तर विकास प्रक्रिया के लिए गहरे सरोकार का विषय है। स्कूली शिक्षा के इस महत्वपूर्ण योगदान को हमने अपने विश्लेषण में दो तरह से शामिल किया है। प्रथम, कुल जनसंख्या में विभिन्न शैक्षिक स्तरोंवाले लोगों के भाग को व्याख्यात्मक प्रणाली में समाविष्ट किया गया है। दूसरे, और जो इससे भी महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक औद्योगिक वर्ग की श्रमशक्ति में विभिन्न शैक्षिक स्तरोंवाले लोगों के भाग के साथ भी यही प्रक्रिया अपनाई गई है। उपयोगिता के स्पेक्ट्रम के जिन विभिन्न आयामों का अध्ययन में विश्लेषण किया गया है, उन सब को चित्र 7 में दर्शाया गया है।

अध्याय पांच

भारत में उच्च शिक्षा की संरचना के कुछ पहलू

भारतीय उच्च शिक्षा की जड़ें काफी पुरानी हैं, लेकिन इसका वर्तमान ढांचा और तानाबाना उन्नीसवीं सदी के मध्य में तैयार हुआ था। यदि और ठोस तरीके से कहा जाए तो 1854 के एजुकेशन डिस्पैच के बाद के वर्षों में यह ढांचा तैयार हुआ था और स्वर्गीय जे. पी. नाइक के शब्दों में वह डिस्पैच प्रथम शिक्षा आयोग था। बाद में गठित होनेवाले आयोगों की शृंखला का यह आरंभ बिंदु था जिसका दूसरा छोर 1964-66 का छठा शिक्षा आयोग था। केंद्रीय विधायिक ने भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम 1857 में पारित किया। इसके जरिए कलकत्ता, बंबई और मद्रास के तीनों प्रेसिडेंसियों में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। ईस्ट इंडिया कंपनी के शैक्षिक सलाहकारों ने इन विश्वविद्यालयों की आधुनिकीकरण की भूमिका का खूब ढिंढोरा पीटा था। उनका कहना था कि भारत में भी इन विश्वविद्यालयों की वही भूमिका होगी जो इंग्लैंड में वहां के विश्वविद्यालयों की है लेकिन यथार्थ में इनकी स्थापना विदेशी शासन का औचित्य सिद्ध करने तथा उसकी मदद के लिए की गई थी। भारत में स्थापित इन विश्वविद्यालयों का ऐसा रूप नहीं था कि ग्रेट ब्रिटेन की संस्थाओं को उठाकर भारत में ज्यों का त्यों रोप दिया गया हो। इन भारतीय विश्वविद्यालयों को बनाते समय इस बात का एहतियात बरता गया था कि इनमें इस प्रकार की व्यवस्था रखी जाए ताकि ये स्थानीय वातावरण से अप्रभावित रहें। गौर करने की बात यह है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के नियंत्रक मंडल के अध्यक्ष चार्ल्स ग्राण्ट महोदय 1854 के शिक्षा डिस्पैच के लेखक भी थे। हां ऐसा अवश्य था कि वे इन विश्वविद्यालयों को लंदन के विश्वविद्यालयों के अनुसार बनाने के पक्ष में थे। लेकिन इस प्रकार की रणनीति को लागू करने के बारे में उस समय के निदेशक मंडल के सदस्यों ने शंका जाहिर की थी। इसलिए भारतीय विश्वविद्यालयों में बचाव के पर्याप्त उपाय किए गए ताकि इस बात को सुनिश्चित किया जा सके कि लोगों को चीजों के बारे में जानकारी हासिल कराकर जनमत तैयार करने में इनका कोई योगदान न हो और संगठित होकर विदेशी शासन की आलोचना न की जा सके। जब उन्नीसवीं सदी का अंत हो रहा था तो गवर्नर जनरल के रूप में लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयों की घेरेबंदी (यथार्थ से कटा हुआ) को सुदृढ़ बनाना आवश्यक समझा और यह सुनिश्चित करना चाहा कि उच्च शिक्षाव्यवस्था प्रशासन की राजनीतिक इच्छा के अधीन हों। उसने जो सुधार किए, वे दिखाने के लिए तो भारतीय

विश्वविद्यालयों में कथित गिरावट को रोकने के लिए थे लेकिन यथार्थ में अकादमिक मूल्यों के प्रति उनमें सम्मान का कोई भाव नहीं था। ऐश्वरी का कहना है कि ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों के लिए ये भारतीय विश्वविद्यालय अभिशाप बन गए होते, जो उस समय तक राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त हो चुके थे। वहां उनकी स्वायत्त की मजबूत परंपरा बन चुकी थी। ब्रिटिश लोगों द्वारा स्थापित भारतीय उच्च शिक्षा व्यवस्था साम्राज्यवादी प्रशासन की जरूरत पूरी करने के लिए तैयार की गई थी। वह साम्राज्यवादी प्रशासन एक ओर देशी लोगों के द्वारा प्रशासन का ढांचा खड़ा करने का प्रयास कर रहा था और साथ ही ऐसा अमला तंत्र (नौकरशाही) तैयार करना चाहता था जो अपने देश की जनता से कटा हो और विदेशी शासन के तृतीयक क्षेत्र (बाबू वर्ग तथा अन्य सेवा क्षेत्र) का काम करने में सक्षम हो।

इस प्रकार स्वाधीन भारत ने उच्च शिक्षा की जो प्रणाली विरासत में पाई, वह औपनिवेशिक अल्पविकास का एक अभिन्न अंग थी। स्वतंत्रता मिलने के समय देश के सामने चुनौती इस विरासत में मिली संरचना में मूलभूत परिवर्तन करने की थी ताकि स्वाधीन भारत के स्वावलंबी विकास के लिए आवश्यक समर्थन जुटाया जा सके।

स्वतंत्रता मिलने के बाद उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हुए विकास को इस औपनिवेशिक विरासत के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। ऐसा देखा गया है कि इन प्रवृत्तियों के कुछ खास लक्षण हैं। इनकी पहचान इन रूपों में की गई है : नए प्रकार की शैक्षिक गतिविधियों को शुरू करने तथा उनको आगे बढ़ाने में लगातार बनी रहनेवाली दुराग्रही औपनिवेशिक खामियां गंभीर बाधाएं खड़ी करती हैं। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि नए चरण में हाथ में लिए गए कार्य के अपूर्ण रह जाने की वजह से ऐसा सामाजिक दबाव पैदा हो गया है जो काफी विस्फोटक रूप ले चुका है। स्वतंत्र भारत में जनता की बढ़ी हुई महत्वाकांक्षाएं इसकी तीसरी विशेषता है। परस्पर विरोधी प्रेरणाओं के चलते अनेक प्रकार के अंतर्विरोध और विकृतियां पैदा हुई हैं। इनमें से अनेक अंतर्विरोध और विकृतियां आज जितने स्पष्ट रूप से नजर आ रही हैं, उतनी ही स्पष्ट वे आरंभिक समय में भी थीं। दुहरापन और असंतुलन शिक्षा के किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं था। वस्तुतः यह सर्वग्रासी था। अकादमिक गतिविधियों का समूचा क्षेत्र इसकी छतरी के नीचे आ चुका था, मसलन दाखिला के तौर-तरीके, पाठ्यक्रम की रचना, पढ़ाई की व्यवस्था और परीक्षा पुस्तिकाओं के मूल्यांकन की पद्धति।

देश ने इस चुनौती का कितनी सफलता से मुकाबला किया ? लगभग दो दशकों के बाद अकादमिक क्षेत्र में सक्रिय वरिष्ठ शिक्षाविदों को लेकर 'राष्ट्रीय शिक्षा आयोग' का गठन किया गया ताकि भारतीय उच्च शिक्षा की तत्कालीन परिस्थिति का आकलन किया जा सके। आयोग के गठन के समय नीचे दी गई बातें कही गई थीं :

भारत में आमतौर पर ऐसा महसूस किया जा रहा है कि उच्चशिक्षा की स्थिति काफी असंतोषजनक है और कहीं-कहीं तो यह चौकानेवाली है। शिक्षा का औसत स्तर गिरता जा रहा है और इसमें तेजी से विस्तार के कारण इसकी गुणवत्ता

का स्तर घटा है। काफी लोग ऐसा महसूस करते हैं कि कालेजों और विश्वविद्यालयों में वास्तविक अकादमिक और भौतिक स्थितियां काफी गंभीर रूप ले चुकी हैं। जो लोग मोटे तौर पर सजग और सचेत हैं, वे भी इसकी गंभीरता को नहीं समझते क्योंकि वे इन स्थितियों के आदी हो चुके हैं।

शिक्षा आयोग ने संभवतः अपने ही आकलन के निहितार्थों को नहीं परखा या परख नहीं सका। कुछ अत्यंत जटिल समस्याओं की गहराई से छानबीन नहीं की गई और कुछ अन्य के मामले में कतिपय लोकप्रिय मान्यताओं को बिना टीकाटिप्पणी के मान लिया गया। किस रूप में या किन रूपों में उच्च शिक्षा की स्थिति असंतोषजनक थी? क्या शिक्षा का स्तर सचमुच गिर रहा था ? क्या शिक्षा में तेजी से विस्तार के कारण गुणवत्ता में गिरावट आई ? क्या खराब स्तर (खराब स्तर का चाहे जो भी अर्थ लगाया जाता हो) स्वतंत्रता के पहले के शैक्षिक ढांचे का नतीजा था जो स्वतंत्र भारत के विकास की जरूरतों के दबाव के चलते पुराना और अप्रासंगिक हो चुका था ? क्या तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक संतुलन को कायम रखने के लिए अपने भीतर जड़ जमाए दुर्भावनाजनित असाध्य संवेदनहीनता की वजह से परिस्थिति की गंभीरता पर ध्यान देने में हम असमर्थ रहे ? मौजूदा उच्च शिक्षा के चरित्र का आकलन किए बिना इनमें से कोई भी मुद्दा वैज्ञानिक कसौटी पर परखा नहीं जा सकता है। देश की यथार्थ स्थिति की आवश्यकता को ध्यान में रख कर इसकी सफलता-असफलता की भी पड़ताल नहीं की जा सकती।

सत्ता के गलियारे में इस प्रकार का आकलन जरूरी हो गया था ताकि जनता के लिए नीतिनिर्माण, उसके मूल्यांकन और संचारेक्षण (मॉनिटरिंग) के लिए स्पष्ट और सार्थक समझ का उपयोग किया जा सके। इसी संदर्भ में भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा संबंधी राष्ट्रीय संकल्प स्वीकार किया। इस संकल्प का एक महत्वपूर्ण अंश नीचे दिया जा रहा है :

भारत सरकार को विश्वास हो गया है कि शिक्षा आयोग द्वारा दिए गए सुझावों को मोटेतौर पर आधार बनाकर देश के आर्थिक-सांस्कृतिक विकास और राष्ट्रीय एकता के लिए तथा समाजवादी समाज के ढांचे के निर्माण का उद्देश्य पूरा करने के लिए शिक्षा की मूलगामी पुनर्रचना जरूरी है। जनजीवन के साथ इसे घनिष्ठ रूप से जोड़ने के लिए अथवा शैक्षिक अवसरों के विस्तार के लगातार प्रयास के लिए सभी स्तरों पर शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने का लगातार और गहन प्रयास करना, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास पर जोर देना और सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों की स्थापना आवश्यक है। यदि देश को राष्ट्रों की बिरादरी में अपनी सांस्कृतिक विरासत और विशिष्ट संभावनाओं के अनुकूल प्रतिष्ठापूर्ण हैसियत बनानी है तो ऐसा करना जरूरी होगा।

जिस समय यह संकल्प स्वीकार किया गया, उसके बाद गंगा में बहुत पानी बह चुका है। आलोचनात्मक दृष्टि से इस बात की परीक्षा करना काफी शिक्षाप्रद होगा कि उस

संकल्प में निर्धारित किए गए लक्ष्यों के हम करीब पहुंचे हैं या उससे दूर हटे हैं। या ऐसा तो नहीं है कि 1968 में लक्ष्यों के जितने हम करीब थे, आज हम उससे भी अधिक दूर चले गए हैं ? भारतीय उच्च शिक्षा के इस क्षेत्र में हम कुछ जानकारी हासिल करने की कोशिश करेंगे। इसका उद्देश्य शिक्षा के स्वरूप में होनेवाले रूपांतरण का मूल्यांकन करना है और साथ ही इस बात का पता लगाना भी है कि हमें अभी कितना आगे चलना है, वे कौन से वादे हैं जिन्हें पूरा किया जाना बाकी है।

ऐसा लगता है कि स्वाधीनता प्राप्ति के समय से भारत में उच्च शिक्षा के विकास की मूल प्रवृत्ति, द्विध्रुवीय लक्ष्यों से पैदा हुई अंतर्विरोधी शक्तियों की एक प्रणाली द्वारा नियंत्रित होती रही है और ये दोनों लक्ष्य चरित्र में मूलतः सकारात्मक रहे हैं लेकिन नीतिगत प्रक्षेपों को परस्पर विरोधी दिशाओं में खींचते रहे हैं। अच्छे-बुरे या गलत-सही या प्रगतिशील-प्रतिगामी में चुनाव करना आसान है। लेकिन भारतीय उच्च शिक्षा में नीति-निर्माण के प्रतिमान के सामने ऐसे स्पष्ट विकल्प नहीं रहे हैं। यह मूलतः दो 'अच्छाइयों' के बीच चयन संबंधी निर्णयों पर आधारित रहा है।

विरासत में मिली यह प्रणाली परिमाण की दृष्टि से अत्यंत बहुत छोटी तथा अपर्याप्त थी तथा गुणात्मक दृष्टि से रुग्ण तथा दुष्क्रियात्मक रही है। इस स्थिति द्वारा पैदा की गई बाधाओं के कारण परिमाण तथा गुणवत्ता में चयन संभव नहीं रहा है। विरासत में प्राप्त इस सूक्ष्म व्यवस्था का पर्याप्त और तेजी से विस्तार तीन कारणों से आवश्यक था : प्रथम, प्रतिभा के क्षेत्र में आयात के विस्थापन की तथा एक स्वनिर्भर अकादमिक संरचना के निर्माण की आवश्यकता; दूसरे नियोजित आर्थिक विकास की प्रक्षेपित आवश्यकताएं तथा तीसरे, उन लोगों का दबाव जो सदियों से उच्च शिक्षा से महसूस रखे गए थे लेकिन जो अब दूरस्थ तथा कठिन ही सही विश्वविद्यालय की उपाधि पाने की संभावना देख रहे थे जिसे आरामदेह और सफेदपोश नौकरी का परवाना समझा जाता था।

भारत में, और विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय सत्ता के गलियारे में भारतीय शिक्षा के विस्तार और विकास की विशालता ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। इसको लेकर लोगों ने टीका-टिप्पणी भी की है, इसलिए इस स्थिति का आलोचनात्मक आकलन जरूरी है। इस सच्चाई में शक करने की कोई गुंजाइश नहीं है कि शिक्षा का नामांकन परिमाण बहुत अधिक बढ़ा है। स्वतंत्र भारत में, उच्च शिक्षा की मांग मुखर होकर सामने आई। इसका कारण था, एक ओर आधुनिकीकृत आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था में बढ़ी हुई मानव शक्ति की जरूरत और दूसरी तरफ विस्तारित माध्यमिक शिक्षा के पिरामिड का स्तर ऊपर की तरफ उठना। परिणामस्वरूप विश्वविद्यालयों की संख्या (इनमें वे संस्थान और संस्थाएं भी शामिल थीं जिन्हें भविष्य में विश्वविद्यालयों का दर्जा दिया जाना था) बढ़ गई। 1950-51 में इनकी संख्या 27 थी, यह 1982-83 में बढ़कर 137 हो गई। 1955-56 में कालेजों की संख्या 772 थी, 1982-83 में यह बढ़ कर 3633 हो गई। शिक्षा के बजट में भारी बढ़ोतरी के कारण ही शिक्षा का इतना विस्तार हो सका। शिक्षा का

खर्च 1947 में 55 करोड़ रुपए था जो बढ़कर 1982 में 5,186 करोड़ हो गया। यदि शिक्षा पर प्रति व्यक्ति खर्च के हिसाब से विचार करें तो यह बढ़ोतरी रु. 2.10 से बढ़कर 74.00 हो गई। भारतीय उच्च शिक्षा की वृद्धि तथा प्रसार के परिमाण को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि वर्ष 1982-83 में कुल नामांकन 1950-51 के नामांकन का लगभग 18 गुना था। भारत में उच्च शिक्षा की प्रणाली संभवतः दुनिया में सबसे विशालकाय है। दुनिया में उच्च शिक्षा के लिए नामांकित प्रत्येक आठवां छात्र भारतीय है। भारतीय उच्च शिक्षा में नामांकन का निरपेक्ष आकार इस तथ्य से स्पष्ट है कि यह विकासमान देशों के समग्र नामांकन का लगभग 43 प्रतिशत है। भारत में कालेज तथा विश्वविद्यालय जानेवाले छात्रों की कुल संख्या लातीनी अमरीकी देशों के कुल नामांकन से अधिक और न्यूजीलैंड की कुल जनसंख्या के लगभग बराबर है। नीचे दी गई तालिका 5.1 में विभिन्न कालखंडों में नामांकन की वृद्धि दर दी गई है। इससे स्पष्ट है कि वृद्धि के दो सुस्पष्ट चरण रहे हैं जिनकी विशेषताएं क्रमशः तीव्र प्रसार तथा स्थिरता रही है।

तालिका 5.1 : नामांकन में कालक्रम से वृद्धि दर

काल	नामांकन की वार्षिक वृद्धि दर
1950-51 से 1981-82	9.7
1950-51 से 1960-61	12.4
1960-61 से 1970-71	13.4
1970-71 से 1980-81	3.8

यह तर्क दिया जा सकता है कि संभवतः भारतीय उच्च शिक्षा के विकास की दिशा परिमाणात्मक प्रसार की ओर प्रथम चरण में लोकवादी दबावों के कारण रही हो। फिर भी कृत्रिम रूप से प्रेरित प्रसार के खतरे कालेजों की संख्या में असाधारण वृद्धि या शिक्षा की दुकानों के धड़ाधड़ खुलने के कुछ ही वर्षों के बाद स्पष्ट हो गए थे।

लेकिन लगता है कि भूलसुधार की एक प्रणाली आरंभ हुई तथा इस अनिष्टकर प्रभाव को रोकने के लिए उपाय शुरू किए गए। इस नीति के कारण उत्तमता के कुछ केंद्र बन गए तथा इन केंद्रों तथा व्यवस्था के बाकी हिस्सों के बीच की खाई बढ़ती गई। इसके चलते ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि हमारी शिक्षा प्रणाली में इस समय एक तरफ तो उच्च शिक्षा के केंद्रों से सीमित परिमाण में उच्च कोटि की प्रशिक्षित प्रतिभा राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय बाजार के लिए पैदा हो रही है और दूसरी तरफ, भारी संख्या में निम्न स्तर की मानव प्रतिभा बहुसंख्यक सीमांत संस्थाओं से प्रशिक्षण पाकर बाहर आ रही है और यह बेरोजगारी के तालाब में दिशाहीन होकर तैर रही है और

अंततः आम तौर पर अनौपचारिक तथा कभीकभार औपचारिक क्षेत्र की निचली सतहों में खप जाती है। उनकी टूटी हुई आशाएं तथा सनक भरी कुंठा, अंध उथल-पुथल, नपुंसक असंतोष तथा दिशाहीन जोश-खरोश के लिए उपजाऊ जमीन उपलब्ध कराती है।

चूंकि स्वाधीन भारत में उच्च शिक्षा के प्रसार की, खासकर कुछ अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की ओर से, तीखी आलोचना हुई है इसलिए इस परिस्थिति (फेनोमिनान) की कुछ और गहराई से छानबीन करना उचित होगा। 17-23 के आयु वर्ग में कुल जनसंख्या का उच्च शिक्षा में छात्रों की संख्या का प्रतिशत 1950-51 के 0.8 से बढ़कर 1980-81 में 4.8 हो गया। आइए हम देखें कि इस वर्ग में वृद्धि की दर या स्तर क्या सचमुच बहुत ऊंचा रहा है।

आंकड़ों की तुलनीयता की समस्याओं के कारण अंतर्राष्ट्रीय तुलनाएं जोखिमपूर्ण हो सकती हैं। विश्व बैंक की रिपोर्ट में जो संकेतक दिया गया है वह 18-24 साल की आयु वर्ग में जनसंख्या में नामांकन के भाग से संबंधित है। इस आयु वर्ग का चयन भारत के संदर्भ में नामांकन के आंकड़ों को विकृत करता है। इस सीमा के बावजूद रिपोर्ट में दिखाया गया है कि 1950-79 के दौरान भारत में उच्च-शैक्षिक नामांकन तीन गुना हुआ है। ऐसी ही स्थिति नेपाल, श्रीलंका, सेनेगल तथा मिस्र की भी है। यह नामांकन केनिया में बीस गुना, इक्वेडोर में बारह गुना, डोमिनिकल रिपब्लिक में दस गुना, निकरागुआ में नौ गुना, होंडुरास तथा अल साल्वाडोर में आठ गुना, थाइलैंड में छः गुना, कांगों में पांच गुना तथा लाइबेरिया में 4.5 गुना हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तुलना करने पर भारत में नामांकन की वृद्धि दर बहुत अधिक नहीं लगती।

गौर करने की बात है कि विश्व बैंक की रिपोर्ट में सीमांत वर्ष 1979 के लिए आयु वर्ग 18-24 की जनसंख्या में नामांकन का भाग 9 बतलाया गया है। भारत के संदर्भ में यह आकलन वास्तविकता से अधिक है। यह आंकड़ा भी लगभग वही है जो अल साल्वाडोर, निकरागुआ, ग्वाटेमाला, डोमिनिकन गणराज्य और मंगोलिया के लिए है, यह आंकड़ा लेबनान (35), जार्डन (27), फिलीपन (25), क्यूबा (20), पेरू (16), सीरिया तथा मिस्र (15) और थाइलैंड (13) के आंकड़ों से बहुत ही कम है, तथा संयुक्त राज्य अमरीका (55) तथा स्वीडेन (37) के आंकड़ों से कोसों दूर है।

इससे बेहतर तुलनीयता हासिल करने की दृष्टि से प्रति 10,000 जनसंख्या में उच्च शिक्षा में नामांकित छात्रों की संख्या का हफने विश्लेषण किया है और इसके लिए सातवें दशक के यूनेस्को के आंकड़ों का प्रयोग किया है। यही दशक भारत में सर्वाधिक प्रसार का काल रहा है। भारत में 12 प्रतिशत की जो विकास दर रही है, वह बर्मा और पाकिस्तान के समान रही है परंतु अल्जीरिया (27%), केनिया (25%), लीबिया (22%), सऊदी अरब (21%), नाइजीरिया (19%), इथियोपिया (18%) तथा इंडोनेशिया और वियतनाम (16%) की दरों से बहुत कम रही है। इससे स्पष्ट है कि भारत में उच्च शिक्षा के अत्यधिक प्रसार की तस्वीर स्वाधीनता के बाद की प्रवृत्ति की सही नुमाइंदगी नहीं करती।

भारतीय उच्च शिक्षा की मूलभूत कमजोरी सामाजिक-आर्थिक विकास और खास तौर पर हरित क्रांति और औद्योगिक आत्म-निर्भरता की आवश्यकताओं के सामने इसकी रुग्ण तथा दुष्क्रियात्मक प्रतिक्रिया में निहित है। संकायों के अनुसार नामांकन के वितरण के विश्लेषण से इसका अनुमान लगाया जा सकता है; यह वितरण तालिका 5.2 में दिया गया है :

तालिका 5.2 : संकायों के अनुसार स्नातकों तथा परास्नातकों का नामांकन (कुल नामांकन के प्रतिशत रूप में)

वर्ष	कला	विज्ञान	वाणिज्य	शिक्षा- शास्त्र	अभियांत्रिकी प्रौद्योगिक	आयुर्विज्ञान
1	2	3	4	5	6	7
1950-51	38.98	20.80	10.30	2.38	6.96	8.78
1955-56	42.52	19.82	10.32	3.86	6.74	7.26
1960-61	39.69	24.03	9.87	3.41	7.62	5.79
1965-66	40.52	25.86	10.45	3.14	7.34	5.90
1970-71	43.10	26.25	13.03	2.91	4.46	4.58
1975-76	44.50	19.10	17.10	3.20	4.00	4.30
1980-81	40.50	19.40	20.10	2.60	4.50	4.00

स्रोत : विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की वार्षिक रिपोर्टें

विश्वविद्यालयों में नामांकन के संकायगत फलक्रम के निम्न लक्षणों की पहचान यहां होती है।

प्रथम, आकारहीन 'कला' संकाय में नामांकन का अत्यधिक भाग रहा है और अभी भी है। इसके परिवर्तनीय भाग की प्रवृत्ति एक द्विबहुलन (बाई-मोडल) वक्र से स्पष्ट है, इसमें एक महिष्ठ (मैक्सिमा) 1956-57 में 43.4 प्रतिशत और दूसरा 1973-74 में 44.9 प्रतिशत पर दर्ज किया गया। उस वर्ष के बाद से यह भाग बराबर घटता रहा और यह 1980-81 में 40.3 प्रतिशत रहा। दिलचस्प बात यह है कि आर्थिक दृष्टि से देश से कुछ कम विकसित क्षेत्रों में यह आंकड़ा बहुत ही अधिक है : अरुणाचल में 86%, नगालैंड में 68.5%, जम्मू-कश्मीर बाहरी पहाड़ी क्षेत्र 70%, मेघालय 68.9%, मणिपुर के मैदानी भागों में 68.3%, अंडमान निकोबार में 61%, पूर्वी और दक्षिणी उत्तरप्रदेश में 63.5% तथा मणिपुर के पहाड़ी भागों में 61.9%।

कला संकाय में नामांकन की वृद्धि दर को देखने पर पता चलता है कि 1970-71 तक यह दर 13% के आसपास बनी रही। उसके बाद से यह लहर उतरने लगी और आठवें दशक में आकर यह मात्र 2.84% तथा दशक के उत्तरार्ध में 1% से भी कम रही। यह आशाजनक संकेत है।

दूसरे, नामांकन में विज्ञान संकाय के भाग का वक्र अंग्रेजी के 'यू' अक्षर की तरह है। छठे दशक में 20% के आसपास रहने के बाद यह भाग सातवें दशक के मध्य में 28.45% की ऊँचाई तक पहुँचा और फिर गिरता हुआ आठवें दशक के मध्य तक 18.2% तक रह गया। इसकी वृद्धि दर 1970-71 तक निरंतर ऊँची बनी रही और अधिकतम दर 1956-61 के दौरान 18% दर्ज की गई। 1971-76 में यह दर ऋणात्मक और मात्र 2 प्रतिशत रही। मगर आठवें दशक के मध्य में यह फिर बढ़नी शुरू हुई और 2.8% की दर से बढ़ी। विकास में विज्ञान की भूमिका को देखते हुए यह प्रवृत्ति चिंताजनक लगती है और उपचारमूलक उचित उपायों की मांग करती है।

ध्यान देने की बात है कि कुल नामांकन में विज्ञान संकाय का भाग केवल तमिलनाडु में ही सर्वाधिक है। तटीय इलाकों में यह 45% तथा राज्य के शेष भाग में लगभग 36% है। 34% भाग के साथ उत्तरी केरल तथा 31% भाग के साथ दक्षिणी केरल भी ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ विज्ञान की शिक्षा आशाजनक है। दूसरी तरफ मिजोरम, दादरा और नागर हवेली, लक्षद्वीप तथा असम की पहाड़ियों में यह भाग शून्य प्रतिशत तथा गुजरात और सौराष्ट्र के खुश्क भागों और पूर्वी हरियाणा में 10% से भी कम है।

तीसरे, नामांकन में वाणिज्य संकाय का हिस्सा सातवें दशक के अंत तक मात्र 10.5 प्रतिशत के आस-पास ही मंडराता रहा। मगर उसके बाद यह लगातार बढ़ता रहा और 1981-82 में 21.3% की ऊँचाई तक पहुँचा। इस समय यह संकाय दूसरे स्थान पर है और इस जगह से इसने विज्ञान संकाय को 1979-80 में ही विस्थापित कर दिया था। देश के कुछ भागों में इसका स्थान प्रथम है और इसमें नामांकन कला संकाय से भी अधिक है। यह बात तटीय आंध्रप्रदेश, गुजरात के पूर्वी और उत्तरी मैदानों तथा तटीय महाराष्ट्र के बारे में खास तौर पर सही है। मगर अनेक कम विकसित क्षेत्रों में इस संकाय में नामांकन शून्य है जबकि पूर्वी और दक्षिणी उत्तरप्रदेश, झेलम घाटी तथा जम्मू और कश्मीर की बाहरी पहाड़ियों, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरी और मध्य बिहार में इसका हिस्सा 10% से भी कम है।

देश में व्यापार और बैंकिंग की बढ़ती गतिविधियों तथा इसके चलते इस उपक्षेत्र में रोजगार में हुई बढ़ोतरी के कारण वाणिज्य संकाय में नया नामांकन काफी ऊँची दर से बढ़ा है। लगता है कि काफी बड़ी संख्या में छात्र कला और विज्ञान संकायों से हटकर वाणिज्य संकाय की ओर गए हैं। 1971 तक वाणिज्य संकाय में नामांकन की वृद्धि दर निरंतर बढ़ती रही और 1966-71 तक यह 17.95% की उच्चतम सीमा तक पहुँची। उसके बाद से इसमें कुछ कमी आई है और 1976-81 में यह दर मात्र

5.91% रही है। 1976-81 के मंदी के काल में भी दूसरे संकायों की तुलना में यह वृद्धि दर अधिकतम रही है।

चौथे, उत्पादन के क्षेत्रों से सीधे जुड़े संकायों में नामांकन की प्रवृत्तियाँ बहुत चिंताजनक हैं। छठे दशक के मध्य में नामांकन में इंजीनियरिंग तथा प्रौद्योगिकी का भाग लगभग 6.5% ही रहा, मगर उस दशक के बाद के वर्षों में यह बढ़ा। सातवें दशक में यह दर 7.5% के आसपास बनी रही। 1963-64 में यह 8% तक पहुँची। इस दशक के बाद के वर्षों में इसमें गिरावट आई जो आठवें दशक के पूर्वार्ध तक बनी रही और 1974-75 में यह न्यूनतम 3.8% थी। तब से यह धीरे-धीरे बढ़ी है और इस समय 4.5% के आसपास बनी हुई है। उपरोक्त वर्णित स्थिति नामांकन की वृद्धि दर के लौकिक व्यवहार में भी दिखाई पड़ती है। यह दर छठे दशक के पूर्वार्ध में 10.47% से बढ़कर इसी दशक के उत्तरार्ध में 6% रही। इंजीनियरिंग तथा प्रौद्योगिकी में नामांकन देश के औद्योगिक विकास से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है और इसलिए इसमें आनेवाले उतार-चढ़ाव को इस विकास की सीमाओं के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है।

पाँचवें, स्वाधीन भारत में उच्चतर शिक्षा की सबसे दुखद और आश्चर्यजनक विशेषता यह है कि कृषि तथा पशु चिकित्सा विज्ञानों में नामांकन का स्तर तथा वृद्धि दर दोनों बहुत ही कम रहे हैं। भारत में मजदूरों की शक्ति का अधिकांश भाग अभी भी कृषि में लगा है और स्वाधीनता के बाद कृषि प्रौद्योगिकी में भारी सुधार हुए हैं, फिर भी इस प्रणाली में उच्च शिक्षा में कृषि से संबद्ध नामांकन का भाग 1950-51 के 1.8% से घटकर 1981-83 में 1.3% रह गया है। सातवें दशक में आकर यह भाग बढ़ा है। 1981-82 और 1966-67 के दौरान यह अधिकतम 1.45% था। तब से इसमें निरंतर क्रमशः गिरावट आई है। यहां तक कि वर्षों के कालक्रम में निरपेक्ष नामांकन भी घटा है। चिकित्सा-विज्ञान के भाग में ऐसी ही प्रवृत्ति देखी गई है और इसकी दर 1950-51 के 0.6% से घटकर 1981-82 में 0.3% रह गई। छठे दशक के उत्तरार्ध तथा सातवें दशक के पूर्वार्ध में कृषि विज्ञान संकाय के नामांकन का भाग बहुत ही अधिक, क्रमशः 23.6% तथा 20.6% रहा है किंतु अगले दो पंचवर्षीय कालखंडों में यह घटकर मात्र 1% और 2% रह गया। इधर हाल में यह दर बढ़ती हुई लगती है।

छठे, जबकि सामाजिक सेवा से जुड़े उच्चतर शिक्षा के दोनों क्षेत्रों, शिक्षा और स्वास्थ्य का भाग 1950-51 से घटता ही आया है, मगर यह गिरावट आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में बहुत ही स्पष्ट रही है। यह 1950-51 के 8.78% से घटकर 1981-82 में 3.9% ही रह गया। शिक्षाशास्त्र संकाय की वृद्धि दर लगातार चिंताजनक रूप से घटती रही है। यह 1951-56 के 2.4% से घटकर यह 1976-81 में 1.46% रह गई। आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में सातवें दशक के पूर्वार्ध में बढ़ाव की प्रवृत्ति थी, मगर उसके बाद इसमें लगातार गिरावट आई है और यह दर 1976-81 के दौरान न्यूनतम 0.9% रही है। शिक्षाशास्त्र और आयुर्विज्ञान के मुकाबले विधि संकाय में नामांकन की वृद्धि

116 शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

दर छठे, सातवें तथा आठवें दशक में लगभग स्थायी, क्रमशः 7%, 9.9%, तथा 9.5%, रही है। हालांकि आजादी के बाद देश में शिक्षा और स्वास्थ्य का बुनियादी ढांचा बहुत ही मजबूत हुआ है, फिर भी इन दोनों क्षेत्रों में उपलब्ध सुविधाएं अत्यंत अपर्याप्त हैं। इसलिए शिक्षाशास्त्र संकाय में नामांकन का अनियमित उतार-चढ़ाव तथा आयुर्विज्ञान संकाय में निरंतर गिरावट को उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में गलत प्राथमिकताओं का सूचक माना जा सकता है।

भारतीय उच्चतर शिक्षा के विभिन्न संकायों के सापेक्ष भारमानक (रिलेटिव बेट)

तालिका 5.3 : कृषि विज्ञान में नामांकन के सापेक्ष संकायों के अनुसार नामांकन

	1950-51	1982-83
कृषि	01.0	01.0
कला	16.0	25.5
विज्ञान	08.5	12.6
वाणिज्य	04.2	14.0
शिक्षाशास्त्र	01.0	01.5
अभियांत्रिकी व प्रौद्योगिकी	02.8	02.9
आयुर्विज्ञान	03.6	02.4
विधि	03.2	03.8

की एक मिलिजुली तस्वीर नीचे तालिका 5.3 में दी गई है। इस तालिका में कृषि तथा पशुचिकित्सा संकाय के नामांकन को एक मान कर विभिन्न संकायों में नामांकित छात्रों की संख्या दी गई है।

इस तालिका की व्याख्या गोकि सावधानीपूर्वक की जानी चाहिए फिर भी यह स्पष्ट है कि भारतीय उच्च शिक्षा पर विरासत में मिली संरचना की जकड़ अभी भी बहुत मजबूत है।

जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है, भारतीय उच्च शिक्षा का चला आ रहा दुष्क्रियात्मक चरित्र विभिन्न संकायों में नामांकन के फलक्रम में परिलक्षित होता है। इससे हमारे श्रम बाजार की आवश्यक आगतों (इनपुट्स) तथा विश्वविद्यालयों द्वारा उपलब्ध कराए जा रहे निर्गतों (आउट पुट्स) के बीच की व्यापक खाई का प्रमाण मिलता है। इस परिघटना (फेनोमेना) का एक गंभीर परिणाम स्नातकों की बेरोजगारी है। आगे हमने इस दमघोंटू बीमारी के स्वरूप और परिमाण की छानबीन करने का तथा शिक्षा और श्रमशक्ति के बीच के उस असामंजस्य की प्रमुख विशेषताओं को सामने लाने का प्रयास किया है जो भारत में उच्च शिक्षा के उन्मुक्त प्रसार के कारण उभरी हैं।

आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि नामांकन का व्यवहार श्रम बाजार की

प्रवृत्तियों के अनुसार होता है। लेकिन अनुभवजन्य आधार पर इस प्रत्युत्तर की प्रकृति और दिशा के बारे में गंभीर मतभेद उठ खड़े हुए हैं। मिसाल के तौर पर कुछ अध्ययन ऐसे हैं जिनमें सातवें दशक में बेरोजगारी की हासमान स्थिति के सामने नामांकन का एक सकारात्मक प्रत्युत्तर दिखाया गया है। दूसरी तरफ आठवें दशक के लिए उपलब्ध अनुभवजन्य प्रमाणों से इसके विपरीत तस्वीर सामने आती है। ये परस्पर विरोध प्रमाण और भी गहराई से छानबीन की मांग करते हैं।

1967-68 से 1978-79 के दौर को लें तो हम पाते हैं कि हालांकि संगठित क्षेत्र में, जो भारत में शिक्षित श्रमशक्ति का एक बड़ा उपभोक्ता है, रोजगार लगभग आठ लाख प्रति वर्ष अर्थात् 3.4% की वार्षिक दर से बढ़ा है, मगर उच्च शिक्षा में नामांकन 6.79% की दर से बढ़ा है। प्रसार की यह प्रवृत्ति, कुछ धीमी दर से ही सही, बाद के वर्षों में भी जारी रही है। ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि उच्च शिक्षा का प्रसार रोजगार की अपेक्षा तेज दर से बढ़ना जारी है। मूलतः यही अंतर है जो शिक्षित बेरोजगारों की आरक्षित सेना के रूप में अभिव्यक्त होता है।

आज हम भारत में जो कुछ देख रहे हैं, वह है उच्च शिक्षा के निरंतर प्रसार के साथ-साथ आम तौर पर रोजगार के अवसरों की, और खास तौर पर शिक्षितों के लिए रोजगार के अवसरों की समान रूप से बढ़ोतरी। अनुभवजन्य यथार्थ की समझ के आधार पर शिक्षितों की बढ़ती बेरोजगारी तथा उच्चतर शिक्षा की मांग की सकारात्मक प्रवृत्ति के बीच एक धनात्मक सहसंबंध की परिकल्पना विश्वास के साथ की जा सकती है। धनात्मक सहसंबंध की इस परिकल्पना के लिए दी जा सकनेवाली तमाम व्याख्याओं के बावजूद यह एक तथ्य है कि परिमाणात्मक प्रसार की प्रवृत्ति के कारण श्रमशक्ति संबंधी तरह-तरह के असंतुलन या असामंजस्य पैदा हुए हैं।

जैसा कि तालिका 5.4 से देखा जा सकता है, भारत में शिक्षित बेरोजगारी इन वर्षों के दौरान बढ़ती रही है। 1955 से 1978 के बीच यह लगभग 28 गुनी बढ़ी जबकि इसी काल में नामांकन में मात्र 19 गुनी वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में बेरोजगारी की वृद्धि दर नामांकन की वृद्धि दर की तीन गुनी थी। अब हम भारत में शिक्षितों की बेरोजगारी में हो रही वृद्धि की कुछ प्रमुख विशेषताओं की जांच-पड़ताल करेंगे।

आम तौर से माना जाता है कि बेरोजगारी शिक्षा के स्तर के विलोमानुपात में बढ़ती-घटती है। कुछ अध्ययनों से पता चला है कि भारत में बेरोजगारी की दरों तथा शिक्षा के स्तरों को दिखानेवाला वक्र अंग्रेजी के उल्टा 'यू' (U) अक्षर जैसा है। इससे स्पष्ट है कि आरंभिक चरण में दोनों साथ-साथ बढ़ते-घटते हैं और एक उच्च बिंदु के बाद उनकी दिशाएं परस्पर उल्टी हो जाती हैं। तालिका 5.4 से स्पष्ट है कि भारत में शिक्षित बेरोजगारी के सिलसिले में यह उच्चतम बिंदु 1953 के वर्ष में और मैट्रिक के स्तर पर था। फिर भी, देखा जा सकता है कि बेरोजगारी का भाग वर्षों के कालक्रम में 1953 के 76% से घटकर 1978 में लगभग 58% तक पहुंच गया। इस काल में कुल बेरोजगारों में उच्च शिक्षा प्राप्त बेरोजगारों का भाग बढ़ता रहा है। यह इस

तालिका 5.4 : भारत में शिक्षित बेरोजगारी

(संख्या हजारों में)

वर्ष	मैट्रिक पास		स्नातक से कम		स्नातक		स्नातकोत्तर		कुल योग
	नहीं	%	नहीं	%	नहीं	%	नहीं	%	
1953	125	76.68	17	10.42	21	12.88	एन.ए.	एन.ए.	163
1954	145	76.72	22	11.64	22	11.64	एन.ए.	एन.ए.	189
1955	164	75.93	26	12.03	26	12.03	एन.ए.	एन.ए.	216
1957	237	76.09	31	12.70	27	11.07	एन.ए.	एन.ए.	244
1958	283	72.53	45	12.33	37	10.14	एन.ए.	एन.ए.	365
1959	344	79.45	49	11.32	40	9.23	एन.ए.	एन.ए.	433
1960	400	78.75	61	12.00	47	9.25	एन.ए.	एन.ए.	508
1961	463	78.48	71	12.03	56	9.49	एन.ए.	एन.ए.	590
1962	353	78.10	91	12.85	64	9.05	एन.ए.	एन.ए.	708
1963	560	75.78	111	15.02	68	9.20	एन.ए.	एन.ए.	739
1964	585	72.67	148	18.39	72	8.94	एन.ए.	एन.ए.	805
1965	580	68.88	176	20.90	86	10.22	एन.ए.	एन.ए.	842
1966	619	67.50	204	22.25	94	10.25	एन.ए.	एन.ए.	917
1967	714	65.58	252	23.18	121	11.14	एन.ए.	एन.ए.	1087
1968	810	61.88	324	21.75	157	11.99	18	1.38	1309
1969	910	59.59	401	26.26	190	12.44	26	1.70	1527
1970	1101	60.46	443	24.33	245	13.45	32	1.76	1821
1971	1296	56.50	605	26.37	354	15.43	39	1.70	2294
1972	1485	56.83	664	25.41	421	16.11	43	1.65	2613
1974	2278	54.58	1086	26.01	746	17.87	64	1.53	4174
1975	2641	56.14	1228	26.10	772	16.41	63	1.33	4704
1976	2820	55.24	1255	24.58	926	18.14	94	1.84	5105
1977	3082	53.75	1472	25.68	1074	18.73	105	1.83	5733
1978	3262	53.94	1533	25.68	1124	18.59	108	1.70	6047

स्रोत : 1. फैक्ट बुक ऑन मैनपावर : आई. ए. एम. आर., नई दिल्ली, 1963

2. एंजलायमेंट रिव्यू (विभिन्न वर्षों के अंक) डी.जी.ई.एंड टी., नई दिल्ली

तथ्य का सूचक था कि बेरोजगारी शैक्षिक प्रणाली के अभी तक के सुरक्षित माने जानेवाले क्षेत्र में भी प्रवेश करने लगी थी।

स्नातक बेरोजगारी (तालिका 5.5) के संकायानुसार फलक्रम को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि सातवें दशक में कला संकाय तथा उससे कम विज्ञान तथा वाणिज्य

तालिका 5.5 : संकाय के अनुसार स्नातक बेरोजगारी

(कुल के प्रतिशत के रूप में)

वर्ष	कला	विज्ञान	वाणिज्य	अभियां- त्रिकी	आयुर्विज्ञान	शिक्षा शास्त्र	कृषि	अन्य	कुल
1968-69	51.65	26.23	14.05	6.46	0.70	*	@	0.93	100
1969-70	49.7	28.47	13.55	6.49	1.13	*	@	0.78	100
1970-71	40.06	28.31	14.67	5.45	1.08	7.16	2.18	1.04	100
1972-73	41.52	28.65	14.62	4.39	0.91	7.39	1.78	0.73	100
1974-75	42.76	28.46	15.30	2.14	0.99	7.95	0.86	1.48	100
1975-76	44.02	27.74	14.90	1.88	0.87	8.62	0.87	1.07	100
1976-77	44.54	25.84	15.07	1.94	0.88	9.42	0.93	1.34	100
1977-78	45.94	23.66	15.71	1.74	0.90	9.87	0.87	1.28	100*

*कला संकाय में शामिल किए गए विज्ञान संकाय।

@ विज्ञान में शामिल किया गया।

स्रोत : 1968-69 से 1977-78 तक विभिन्न वर्षों के 'एंजलायमेंट रिव्यू' की फाइलें।

संकाय, इन तीनों का शिक्षित बेरोजगारी में अधिकतम भाग रहा है। बाद के वर्षों में भी यही प्रवृत्ति जारी रही। 1968-69 में कुल स्नातक बेरोजगारों में इन तीन संकायों का कुल भाग 92% रहा। हालांकि 1977-78 में यह भाग गिरकर 85% तक पहुंच गया था, फिर भी इन तीन संकायों का इस सिलसिले में प्रमुख स्थान बना हुआ है। इस तथ्य से कुछ राहत जरूर मिल सकती है कि उच्च शिक्षा में नामांकन में भी इन तीन संकायों का भाग लगभग 85% रहा है।

ऊपर वर्णित उच्चतर शिक्षा व रोजगार का असामंजस्य निम्न रूपों में अभिव्यक्त होता :

(अ) क्षेत्रीय (हॉरिजेंटल) असामंजस्य

(ब) स्थानिक (स्पेशियल) असामंजस्य, तथा

(स) ऊर्ध्व (वर्टिकल) असामंजस्य

क्षेत्र (हॉरिजेंटल) असामंजस्य का संबंध एक ही स्थान पर एक ही समय में विभिन्न श्रेणियों की श्रमशक्ति की मांग व पूर्ति के असंतुलनों से, अर्थात् एक ही क्षेत्र में श्रमशक्ति की विभिन्न श्रेणियों की एक साथ कमी या बहुतायत से है। इसका कारण श्रमशक्ति की कुछ श्रेणियों का अति-उत्पादन तथा कुछ का आवश्यकता से कम उत्पादन है। शायद यह बात आश्चर्यजनक लगे कि बेरोजगारी की भयानक स्थितियों में भी रोजगारदाताओं द्वारा विज्ञापित अनेक रिक्त स्थान भरे नहीं जाते हैं और अच्छे उम्मीदवारों की अनुपलब्धता के कारण अंततः रद्द कर दिए जाते हैं। तालिका 5.6 में कुछ चुनिंदा रोजगार समूहों में अच्छे उम्मीदवारों के उपलब्ध न होने के कारण अनभरे स्थानों की

तालिका 5.6 : अच्छे उम्मीदवार न मिलने के कारण रोजगारदाताओं द्वारा न भरे गए रिक्त स्थानों की संख्या

व्यवसाय	1969-70	1974-75	1977-78
1. पेशेवर तथा तकनीकी	2.80	1.8	2.0
2. अध्यापक	1.56	1.9	0.6
3. प्रशासनिक, कार्यालयीय, प्रबंधकीय	0.36	0.1	0.1
4. लिपिक तथा विक्री कर्मचारी	0.61	0.6	0.7
5. लिपिक और टाइपिस्ट	0.30	0.0	0.0
6. कारीगर तथा उत्पादक मजदूर	2.61	1.3	2.4
7. सेवाओं में रत	0.74	0.1	0.2

स्रोत : एंज्वायमेंट रिव्यू (विभिन्न अंक), डी. जी. ई. एंड.टी. श्रम मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

संख्या दी गई है। हालांकि इन रोजगारों के लिए मांगी गई शैक्षिक अर्हताएं ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हैं, फिर भी इस तालिका को सहायता से ऐसे क्षेत्रों की पहचान की जा सकती है जिनमें आवश्यक दक्षताओं की पूर्ति पूरी नहीं है। दक्षताओं की कमी उच्च स्तर पर अधिकतम तकनीकी और पेशेवर रोजगारों में तथा निम्न स्तर पर कारीगरों की व्यावसायिक श्रेणी तथा उत्पादक मजदूरों के क्षेत्र में पाई गई है।

अर्थव्यवस्था की श्रम संबंधी आवश्यकताओं पर आधारित शैक्षिक योजना पर ध्यान न दिए जाने का सीधा-सादा परिणाम है, इस तरह का असामंजस्य और यह एक ऐसी स्थिति का सूचक है जिसमें अगर समष्टि स्तर (मैक्रो-लेवल) पर संतुलन हो तो भी व्यष्टि स्तर (माइक्रो-लेवल) पर असामंजस्य हो सकता है।

दिकृत असामंजस्य का संबंध उस असंतुलन से है जिसमें देश के एक क्षेत्र में श्रमशक्ति की एक श्रेणी के बेशी होने के साथ-साथ किसी और क्षेत्र में उसी श्रेणी की कमी होती है। इस प्रकार का असामंजस्य दो ढंग से सामने आता है। प्रथम, एक

ही क्षेत्र में दो तरह की आबादियों के बीच जैसे, किसी क्षेत्र के नगरीय भागों में किसी विशेष श्रेणी की श्रमशक्ति बेरोजगार हो सकती है, मगर उसी क्षेत्र के ग्रामीण भागों में उसी श्रेणी की बेहद मांग हो सकती है। इस तरह के दिकृत असामंजस्य का बेहतरीन उदाहरण डाक्टर है। इस कारक को ध्यान में रखते हुए छठी पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज में यह मत व्यक्त किया गया था कि “अनेक राज्यों में आयुर्विज्ञान के स्नातकों के ऊंचे वार्षिक उत्पादन दर तथा उनके बीच बढ़ती बेरोजगारी के बावजूद ग्रामीण प्राथमिक चिकित्सा केंद्रों/हस्पतालों में काम करने के लिए डाक्टर उपलब्ध नहीं हैं। दूसरे, श्रमशक्ति की एक श्रेणी एक क्षेत्र में बेरोजगार हो सकती है, मगर उसी श्रेणी की श्रमशक्ति को किसी और क्षेत्र में मांग हो सकती है। इसका भी बेहतरीन उदाहरण डाक्टर ही है। जैसा कि तालिका 5.7 में दिखाया गया है, आंध्रप्रदेश तथा बिहार जैसे राज्यों में और संघ शासित क्षेत्र दिल्ली में बेरोजगार डाक्टर बड़ी संख्या में हैं जबकि त्रिपुरा, मणिपुर, मेघालय या असम जैसे राज्यों के रोजगार कार्यालयों में शायद ही कोई डाक्टर पंजीकृत हो।

क्षेत्रीय असंतुलनों का प्रश्न असामंजस्य के दूसरे रूपों के विपरीत श्रमशक्ति के उत्पादन से अधिक उसके वितरण का प्रश्न है। विरोधाभास की यह स्थिति अधिक संपन्नता के बीच निर्धनता द्वारा निरूपित होती है और इससे पता चलता है कि एक तरह समष्टि स्तर पर संतुलन हो तो भी व्यष्टि स्तर पर असंतुलन हो सकता है। क्षेत्रीय तथा दिकृत असामंजस्य दोनों ही शैक्षिक विकास के लिए क्षेत्र (रीजन) और उपक्षेत्र (एरिया) के अनुसार श्रमशक्ति संबंधी योजना की मांग करते हैं।

ऊर्ध्व (वर्टिकल) असामंजस्य वहां पैदा होता है, जहां उच्चस्तरीय शिक्षित श्रमशक्ति को निम्नस्तरीय श्रमशक्ति की जगह प्रस्थापित किया गया हो। अनेक अध्ययनों से पता चला है कि रोजगार बाजार में अर्हताओं का स्तर बढ़ाया गया है। वर्षों के दौरान रोजगारदाता एक ही रोजगार के लिए शैक्षिक अर्हताएं बढ़ा देते हैं, अर्थात्, वे रोजगार में प्रवेश के लिए शैक्षिक अर्हताएं बढ़ा देते हैं। जब श्रमबाजार में शैक्षिक अर्हताओं का स्तर ऊपर उठता है दो तरह के तर्क दिए जा सकते हैं :

- शिक्षा की गुणवत्ता गिरी है और इसलिए दक्षता का वांछित स्तर बनाए रखने के लिए पहले से उच्च स्तर की शिक्षा आवश्यक है, या
- श्रम बाजार में अत्यधिक अर्हताप्राप्त लोगों की उपलब्धता के कारण रोजगारदाता शैक्षिक योग्यता का स्तर बढ़ा देता है, खासकर तब जबकि वेतन आकर्षक हों।

वास्तव में श्रम बाजार में जो स्थिति दिखाई देती है, वह इन दो कारकों का मिलाजुला परिणाम हो सकती है क्योंकि इन दोनों के प्रभावों को एक-दूसरे से अलग करना हो सकता है, संभव न हो कुछ सर्वेक्षणों से पता चलता है कि मुख्यतः अत्यधिक अर्हताप्राप्त कर्मियों की उपलब्धता के कारण, रोजगारदाता आमतौर से भरती की अर्हताएं बढ़ा देते हैं। इससे उन्हें आसान भरती का एक ढंग उपलब्ध हो जाता है। इन असामंजस्यों

तालिका 5.7 : बेरोजगारों की सूची में दर्ज आयुर्विज्ञान स्नातकों और परास्नातकों की संख्या

राज्य	1970		1975		1980	
	संख्या	%	संख्या	%	संख्या	%
आंध्रप्रदेश	441	17.66	1714	22.19	3634	21.83
असम	5	0.2	39	0.5	93	0.5
बिहार	106	4.2	537	6.95	1660	9.97
गुजरात	26	1.0	138	1.78	980	5.88
हरियाणा	38	1.5	369	4.77	259	1.55
हिमाचल प्रदेश	9	3.6	20	0.25	2	-
जम्मू-कश्मीर	1	0.2	7	0.9	7	-
कर्नाटक	344	13.77	489	6.33	783	4.71
केरल	373	14.93	809	10.47	876	5.26
मध्यप्रदेश	32	1.28	206	2.66	923	5.54
महाराष्ट्र	101	4.04	358	4.63	829	4.78
मणिपुर	-	-	1	-	1	-
मेघालय	-	-	2	-	2	-
उड़ीसा	402	16.9	478	6.18	414	2.46
पंजाब	26	1.04	204	2.64	359	2.15
राजस्थान	97	3.88	437	5.65	246	1.47
तमिलनाडु	26	1.04	700	9.06	1042	6.26
त्रिपुरा	-	-	-	-	-	-
उत्तरप्रदेश	23	1.00	135	1.74	381	2.28
पं. बंगाल	44	1.76	108	1.39	353	2.12
दिल्ली	333	13.33	787	10.19	3215	19.31
मिज़ोरम	-	-	-	-	-	-
योग	2497	100	7723	100	16645	100

संकेत : कोई पंजीकृत नहीं, = नगण्य

प्रतिशत संख्याओं को दो दशमलव अंकों तक रखा गया है। चूंकि कुछ राज्यों के आंकड़े नहीं हैं, इसलिए कालम योग संभव है कि दी गई संख्या के बराबर न हों।

स्रोत : हेल्थ स्टैटिस्टिक्स, विभिन्न जिल्लें, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण महानिदेशक, भारत सरकार, नई दिल्ली

के जो भी कारण हों, इस स्थिति के कारण शिक्षा और रोजगार के संबंध कमजोर होते हैं और अपनी प्रकृति के ही कारण यह असामंजस्य समस्याओं को और भी तीखा बनाने की क्षमता रखता है।

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि भारतीय उच्च शिक्षा का संकट न तो इसके आकार में निहित है और न ही प्रसार की ऊंची दर में। भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र का वास्तव में और अधिक प्रसार आवश्यक है ताकि वह वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय आत्मनिर्भरता के आधार पर सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण की आवश्यकताएं पूरी कर सके। भारतीय उच्च शिक्षा के संकट की जड़ें उन संरचनात्मक विकृतियों और अपर्याप्तताओं में हैं जो विरासत में मिली प्रणाली की जकड़ को तोड़ सकने की असमर्थता की देन है। भारत को इसी तरह की कम उच्च शिक्षा की नहीं बल्कि एक भिन्न प्रकार की उच्च शिक्षा की और अधिक मात्रा की आवश्यकता है। यह स्थिति एक विकासमान अर्थव्यवस्था के श्रम बाजार की आवश्यकताओं से संबंधित महत्वपूर्ण उपक्षेत्रों (एरिया) को और भी मजबूत बनाए जाने की तथा इस पूरी प्रणाली को ठोस आधार दिए जाने और उसकी गुणवत्ता को सुधारने का तकाजा करती है।

उच्च शिक्षा में शिक्षकों के कार्य

इधर कुछ समय से अनेक कारणों से शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापक वर्ग के कामों की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है जिसकी यहां हम संक्षिप्त चर्चा करने जा रहे हैं।

पहली बात ध्यान केंद्रित करनेवाली यह है कि जैसे-जैसे यह भावना जोर पकड़ती जा रही है कि राष्ट्रीय विकास में, और खासतौर पर बौद्धिक आत्मनिर्भरता की दृष्टि से, शिक्षा का तृतीयक स्तर (इसमें उच्च शिक्षा प्राप्त तबका आता है : अनु.) अत्यंत महत्वपूर्ण आगत (इनपुट) उपलब्ध कराता है, वैसे-वैसे काफी बारीकी से विश्वविद्यालय के शिक्षकों की भूमिका की छानबीन की जाने लगी है। इस छानबीन में केवल सरकारी अधिकारी शामिल नहीं है, इसमें आम नागरिक और खासतौर से विश्वविद्यालय में पढ़नेवाले छात्रों के माता-पिता भी शामिल हैं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि तृतीयक स्तर की शिक्षा की खामियों के प्रति बढ़ती हुई चिंता का आंशिक कारण काम के प्रति नैतिक दायित्व के स्तर में गिरावट है। लेकिन यह बात भी सच है कि शिक्षा में इस स्तर के शिक्षण कार्य में लगे शिक्षकों के काम के बारे में आम लोगों में जानकारी की कमी है। विश्वविद्यालय शिक्षक जिस प्रकार का काम करते हैं, उसके बारे में सामान्य आदमी को आधी-अधूरी जानकारी है और इस अधूरी जानकारी के कारण आम लोगों में इसके प्रति संदेह पैदा होता है। विश्वविद्यालय के अध्यापक सप्ताह में केवल पांच से दस घण्टे ही क्यों 'काम' करते हैं ? उनको लंबा अवकाश क्यों दिया जाता है ? क्या यह बात सच नहीं है कि अंशकालिक काम के बदले उनको पूरे समय का वेतन मिलता है ? कुछ कालेजों में वर्गहीन समाज (जहां कक्षाएं न लगती हों) का उदय इस प्रकार के सवाल को और तीखा कर देता है, जहां कक्षाएं यदाकदा ही लगती हैं। परिस्थिति का तकाजा यह नहीं है कि शिक्षक समुदाय इस पर गुस्सा या आक्रोश व्यक्त करे बल्कि जरूरत इस बात की है कि आम लोगों को शिक्षक के काम के स्वरूप की जानकारी दी जाए और साथ ही उसका स्पष्टीकरण भी दिया जाए। इस बात की भी जरूरत है कि उनके कार्य निष्पादन के आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिए उचित पद्धति का विकास किया जाए।

दूसरी बात यह है कि अध्यापकों के काम को अकादमिक क्षेत्र के भीतर और बाहर, दोनों ही जगहों पर आलोचनात्मक निगाह से देखा जा रहा है। क्योंकि दिनोदिन गिरती हुई शिक्षक वर्ग की प्रतिष्ठा के प्रति लोगों में चिंता बढ़ रही है। भौतिक जीवन

का पर्याप्त ऊंचा स्तर अध्यापक की प्रतिष्ठा बढ़ाने की पूर्व शर्त कहा जा सकता है। लेकिन इच्छित लक्ष्य तक पहुंचने का अपने आप में इसे कोई अचूक नुस्खा नहीं माना जाना चाहिए। प्रतिष्ठा या हैसियत खरीदे नहीं जा सकते। इनको अर्जित किया जाता है। अच्छे और उच्च कोटि के अध्यापन के कठिन और कष्टदायक रास्ते पर चलकर ही इसको अर्जित किया जा सकता है। संपन्नता हासिल करने के सरल नुस्खे और आसान तरीके तो यहां मौजूद हैं लेकिन प्रतिष्ठा पाने का न तो कोई आसान रास्ता है और न कोई आसान नुस्खा। शिक्षा की किसी दुकान पर मिलावटी ज्ञान की खुदरा बिक्री अथवा पश्चिम की पुराने और बासी ज्ञानवाली पाठ्यपुस्तकों की सामग्री कुछ अध्यापकों को संपन्न बना सकती है और बनाती भी है लेकिन इस तरीके से कमाए गए धन से प्रतिष्ठा नहीं हासिल हो सकती। छात्रों के पास तो खासतौर से एक छठी इंद्रिय होती है। इसकी मदद से वे असली नकली में फर्क कर लेते हैं। देश के हर समुदाय में अभी भी अध्यापकों की काफी बड़ी संख्या मौजूद है जो छात्रों में आदरभाव पैदा करती है। ऐसे अध्यापकों को काफी सम्मान की निगाह से देखा जाता है। यह सम्मान अपने पेशे के प्रति प्रतिबद्धता और श्रेष्ठ अध्यापन से उन्होंने कमाया है। जीवन की भौतिक सुविधाओं का स्तर निश्चित रूप से सामाजिक हैसियत की पूर्वशर्त है, लेकिन व्यावसायिक गुणवत्ता उससे भी बड़ी शर्त है। हालांकि अध्यापक की व्यावसायिक गुणवत्ता को आसानी से नहीं तौला जा सकता है लेकिन यह कोई ऐसी चीज नहीं है कि इसको रहस्यात्मक वस्तु समझा जाए। अध्यापकों को जो काम सौंपा गया है, उस कार्य के निष्पादन की दक्षता के स्तर के संदर्भ में उनकी गुणवत्ता आंकी जा सकती है।

तीसरी बात यह है कि वर्तमान चरण में शिक्षक समुदाय के कार्य-निष्पादन की स्पष्ट परख जरूरी हो गई है। इसका लक्ष्य किसी 'गोपनीय रिपोर्ट' के परिष्कृत खाके के आधार पर नहीं, बल्कि सुपरिभाषित किसी कसौटी के आधार पर अध्यापकों की तरक्की के लिए एक खाका तैयार करना है।

किसी पेशे को आकर्षक बनाने के लिए, उस पेशे में तरक्की की संभावनाओं की अहं भूमिका होती है। नौकरी की दुनिया में पैर रखते ही मोटी-मोटी तनखाहें और अतिरिक्त भत्ता, यहां तक कि भत्तों की अतिविकसित तकनीक भी अपने आप में इस बात को सुनिश्चित नहीं कर सकती कि प्रतिभाशाली और सुयोग्य व्यक्ति शिक्षक के पेशे की ओर आकर्षित होंगे। तथा उसमें टिक सेकेंगे। नौकरी के दौरान उनको निश्चित समय पर उपयुक्त और पर्याप्त अवसर प्रदान करना और तरक्की देना भी उतना ही महत्त्व रखता है। लेकिन तरक्की के इन अवसरों को व्यावसायिक उपलब्धियों के साथ जोड़कर देखना चाहिए ताकि उचित प्रोत्साहन से उनकी व्यावसायिक दक्षता का स्तर ऊंचा उठ सके। कैरियर के विकास में पेशेगत विकास के लिए पर्याप्त और उचित अवसर को महत्वपूर्ण आगत (इनपुट) माना जाना चाहिए। यदि कैरियर के विकास तथा पेशे के विकास को एक दूसरे पर आश्रित नहीं किया जाता और इनको एक 'क्रमिक व्यवस्था' में नहीं रखा जाता तो इससे एक ही जैसी दो प्रकार की अवांछनीय

स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। उच्च कोटि की व्यावसायिक दक्षता हासिल करने के बाद भी कुछ अध्यापकों की तरक्की में ठहराव आ सकता है और कुछ दूसरे अध्यापकों को बिना किसी व्यावसायिक दक्षता अथवा अकादमिक उपलब्धि के ही तरक्की मिल सकती है। अभी भी एक ऐसी उपयुक्त पद्धति का विकास किया जाना बाकी है जिसमें व्यावसायिक दक्षता और तरक्की को एक साथ जोड़ा जा सके ताकि दोनों तरह की अवांछनीय स्थितियों से बचा जा सके।

अभी हाल तक अक्सर इस ओर इशारा किया जाता रहा है कि कालेज अध्यापन उन थोड़े से व्यवसायों में है, जहाँ बहुसंख्यक लोग जिस पद पर भर्ती होते हैं, उसी पद से अवकाश ग्रहण करते हैं यानी व्याख्याता के पद पर ही वे अवकाश ग्रहण करते हैं। यह बात उन विश्वविद्यालयों के संदर्भ में भी सच थी जहाँ ऊँचे पदों की संख्या एक दम सीमित थी। एक बार ये स्थान यदि भर जाते तो संकाय के अन्य सदस्यों का कोई भविष्य नहीं होता था, चाहे कितनी भी व्यावसायिक दक्षता वे क्यों न हासिल कर लें तथा उच्च पद पर पहुँचने की पात्रता उनमें मौजूद हो। ऊँचे पद पर आसीन व्यक्ति जब तक मर न जाए, त्यागपत्र न दे दे या अवकाश प्राप्त न कर ले, वे आगे नहीं बढ़ सकते थे।

ऊपर की स्थिति के एकदम विपरीत, जिसमें तरक्की और दक्षता का कोई तालमेल ही नहीं बैठता और नौकरी में ठहराव आ जाता था, अभी हाल में वरिष्ठता को आधार बनाकर स्वतः तरक्की प्रथा चालू करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जिसमें तरक्की पाने वाले से किसी व्यावसायिक योग्यता और दक्षता हासिल करने की उम्मीद नहीं की जाती।

हमें याद है कि 'पदोन्नति' शब्द अभी हाल ही में सचिवालय से आयात किया गया है, जो अकादमिक (पढ़ाई-लिखाई) दुनिया से गुणात्मक रूप में भिन्न है। विश्वविद्यालय की व्यवस्था में यह एकदम बाहरी शब्द है। नौकरशाही की दुनिया से निकलकर यह यहाँ आया है। पढ़ाई-लिखाई की दुनिया में यह बाहरी घुसपैठ है। इसलिए आश्चर्य होता है कि जो लोग विश्वविद्यालय की स्वायत्तता के समर्थक हैं और अकादमिक जगत् में नौकरशाही के हस्तक्षेप की आलोचना करते हैं, वे ही लोग तरक्की के अवसर के नाम पर विश्वविद्यालय में नौकरशाही-प्रक्रिया की वकालत करने लगे हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा के लोगों से संकाय के ढाँचे की तुलना बहुत ही दुष्क्रिय है, जिसे बहस में घसीटा गया है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक मानना है कि अध्यापक वर्ग के लिए यह अपमानजनक है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जैसे नागरिक सेवा का ढाँचा अनेक स्तरोंवाला है और इस सेवा में कार्यरत लोगों की तरक्की 'गोपनीय रिपोर्ट' के आधार पर की जाती है, उसी प्रकार अध्यापक समुदाय का भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक मान्य ढाँचा है और इसमें भी योग्यता के मूल्यांकन के आधार पर ऊपर उठने के लिए एक निर्धारित प्रक्रिया है। बाबूगिरी के नियम शिक्षक समुदाय के स्वभाव के लिए अजनबी हैं और इसमें आने से उसे रोका जाना चाहिए। तार्किक दृष्टि से अध्यापकों के सेवा के ढाँचे तथा प्रशासनिक सेवा के लोगों के तरक्कीशुदा सेवा-ढाँचे को एक साथ मिलाना

असंगत होगा। किसी भी प्रणाली में केंद्र व्यवस्था और तरक्की प्रक्रियाओं के बीच घनिष्ठ संबंध होता है।

सचमुच यह दुर्भाग्य का विषय है कि काफी लंबे अर्से तक 'सेन कमेटी' की रिपोर्ट ठंडे बस्ते में बंद करके रखा गया। इसका नतीजा यह हुआ कि काफी अधिक समय से अध्यापनकार्य करनेवाले बड़ी संख्या में प्राध्यापकों की तरक्की रुकी रही। चूंकि ठीक समय पर इसकी सिफारिशों को माना नहीं गया जिन्हें विद्वत्ता प्राप्त प्राध्यापकों को दिया जाना था, इसलिए एक ऐसी जगह हम पहुँच गए जहाँ पर सस्ती लोकप्रियता के दबाव में आकर बिना किसी योग्यता का विचार किए सबको तरक्की दी गई। पिछली गलतियों को आलोचनात्मक निगाह से देखने का और तरक्की के बजाय पेशेगत दक्षता के विकास के लिए नीति तैयार करने का अभी भी समय है, इसके लिए उचित सुविधाओं, समयबद्ध प्रशिक्षण कार्यक्रम तथा उच्च अध्ययन के प्रावधान की जरूरत है और इस बात की देखरेख की भी जरूरत है कि जब कोई प्राध्यापक योग्यता हासिल कर ले तो उसके लिए उपयुक्त पद की व्यवस्था की जा सके। संकाय सदस्यों के लिए उच्चतर वेतनमानवाले पदों की उपलब्धता के दो नियामक सिद्धांत होने चाहिए :

- (1) निर्धारित नियमों के मुताबिक किसी व्यक्ति ने यदि योग्यता हासिल कर ली है तो उसे ऊँचे पद पर जाने से इसलिए नहीं वंचित किया जाना चाहिए कि कोई ऊँचा पद खाली नहीं है;
- (2) व्यावसायिक दक्षता हासिल करने के बदले ऊँचे पद को पुरस्कार के रूप में मानना चाहिए तथा इस प्रकार की उपलब्धि को अध्यापक के काम का हिस्सा मानना चाहिए। इसलिए उस पद पर न तो काम करने के वर्षों की संख्या से इसका संबंध होना चाहिए और न ही इसका संबंध स्वतः पदोन्नति से होना चाहिए। एक साल की सेवा को बीस साल तक दुहराते रहनेवाली और बीस साल तक अध्ययन-अध्यापनवाली सेवा के बीच अंतर किया जाना चाहिए। बेमन से कक्षा में अध्यापन कार्य करते रहने को अनुभव का पर्याय नहीं माना जाना चाहिए। समय के साथ बूढ़ा होना एक जैविक प्रक्रिया है। यह जैविक प्रक्रिया पुरस्कृत नहीं की जानी चाहिए।

ऊपर की बातों से जाहिर होता है कि अध्यापकों के काम के विषय में जनता में व्याप्त गलतफहमियों को दूर करने के लिए, समाज में उनकी प्रतिष्ठा को ऊपर उठाने के लिए तथा पेशेगत विकास को उनकी तरक्की के साथ जोड़ने की प्रक्रिया विकसित करने के लिए लोगों को उनके काम के विषय में जानकारी देना जरूरी शर्त है।

अक्सर कहा जाता है कि अध्यापकों के काम का स्वरूप ही ऐसा है कि न तो बाहरी तौर पर इसको परिभाषित किया जा सकता है और न सार्थक ढंग से इसका मूल्यांकन किया जा सकता है। कारखाने में या खेत पर काम करनेवाले मजदूर के काम (उत्पादन) को बहुत आसानी से परिभाषित किया जा सकता है, उसके काम का

लक्ष्य निर्धारित किया जा सकता है और उस निर्धारित लक्ष्य के आधार पर उसका मूल्यांकन भी किया जा सकता है। लेकिन अध्यापक का काम तो मानव संसाधन का विकास है। इसलिए न तो हम इसे उस अर्थ में परिभाषित कर सकते हैं और न ही इसका लक्ष्य तय कर सकते हैं और इसलिए उसके काम का उस तरह से मूल्यांकन भी नहीं किया जा सकता है।

बेशक यह बात सच है कि यह काम बहुमुखी है और जटिल भी। लेकिन समूची दुनिया में शिक्षा व्यवस्था को इससे समझौता करना पड़ा है और दुनिया के सभी देशों ने ठीकठाक एक जैसी प्रक्रिया इसके लिए विकसित कर ली है जिसके आधार पर अतिश्रेष्ठ अध्यापक को अच्छे अध्यापक से, अच्छे अध्यापक को औसत अध्यापक से, औसत अध्यापक को खराब अध्यापक से और खराब अध्यापक को बहुत खराब अध्यापक से अलग किया जा सके। विश्व के अच्छे से अच्छे विश्वविद्यालय में एकाध अच्छे अध्यापकों के साथ अन्याय की घटनाओं की मिसालें भी मिल सकती हैं किंतु इस तरह के मामलों की संख्या नगण्य हैं तथा इस प्रकार के मामलों से पैदा हुए तनावों और दबावों को आत्मसात करते हुए भी यह व्यवस्था कायम रही है।

अब समय आ गया है कि विश्व के अनुभवों से सीख कर भारतीय शिक्षाविदों को इस प्रकार की व्यवस्था विकसित करने की दिशा में आगे कदम बढ़ाना चाहिए। इस काम को तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है :

- (अ) संकाय (अध्यापकों) के कार्यों को विशेष रूप से परिभाषित करना;
- (ब) ऊपर बताए गए प्रत्येक काम के लिए आंकड़ों का आधार तैयार करना;
- (स) अभी जो कुछ कहा गया है, उसके मूल्यांकन की एक पद्धति विकसित करना।

इस अध्याय में हम पहले चरण पर अपने को केंद्रित करेंगे और उसी की चर्चा करेंगे। रॉबिंस समिति (रॉबिंस कमेटी) ने 1963 में ही संकाय सदस्यों के कामों का प्रशंसनीय विश्लेषण किया था तथा उनके कार्यों के वर्गीकरण के लिए नीचे दी गई योजना पेश की थी :

- (अ) *अध्यापन (विश्वविद्यालयों में)* : वास्तविक शिक्षण (वास्तविक शिक्षण में व्याख्यान, प्रयोगात्मक कार्य आदि शामिल हैं) अध्यापन की तैयारी, छात्रों के काम को जांचना, गलती सुधारना आदि;
- (ब) *अनुसंधान* : अनुसंधान की रूपरेखा बनाना, स्वयं अनुसंधान करना और अपनी देखरेख में शोधार्थियों से अनुसंधान कार्य करवाना आदि;
- (स) *निजी अध्ययन* : इसमें शोध पत्र लिखना, पुस्तकें लिखना आदि शामिल है जिसके लिए अध्यापक को तैयारी करनी पड़ती है;
- (द) *विश्वविद्यालय, कालेज या विभागीय कार्यों के प्रशासन का संचालन करना* :

समितियों की बैठकों में भागीदारी, साक्षात्कार लेने के लिए जाना तथा कार्यालय संबंधी पत्र व्यवहार आदि शामिल होगा;

- (य) *विश्वविद्यालय में अन्य कार्य* : व्यक्तिगत समस्याओं के बारे में छात्रों को सलाह देना तथा उनके साथ विचारविमर्श करना (सरकारी तौर पर), परीक्षा लेना, विद्वत् संस्थाओं की बैठकों में भाग लेना, उनके अधिवेशनों में भागीदारी और इसी प्रकार के अन्य कार्य;
- (व) *विश्वविद्यालय के बाहर के कार्य* : विश्वविद्यालय परिसर के बाहर का अध्यापन, अन्य प्रकार का अध्यापन, परामर्श देने का काम, बाहर की समितियों और बैठकों में भाग लेना, प्रशासनिक तथा अन्य कार्य।

आइए रॉबिंस समिति द्वारा निर्धारित पैमाने से विश्वविद्यालय के लोकाचार के अज्ञात प्रदेश को मापने का काम करें, उसके बाद अध्यापकों के काम का चित्र तैयार करने की दिशा में आगे बढ़ें।

इस विशाल ब्रह्मांड में धरती एक छोटा-सा बिंदु है। यह धरती मानव जाति का घर है। इस घर के ढांचे को हम यदि वांछित रूप देना चाहते हैं, इस पर बने समाज को अगर हम मनचाही दिशा में ले जाना चाहते हैं तो समय का तकाजा है कि वर्तमान परिवर्तन की प्रक्रिया को हम गहराई से समझें, इसके स्वरूप को समझें क्योंकि जरूरत की पहचान को ही स्वतंत्रता कहा जाता है तथा ज्ञान को शक्ति का पर्याय माना गया है। हमारा यह ज्ञान यथार्थ की सिर्फ व्याख्या नहीं करता है, बल्कि उसे बदलता भी है। जीवन और यथार्थ के बारे में इस प्रकार की समझ पैदा करना ही शिक्षा है। सामाजिक अनुभव की खासखास बातों से विभिन्न प्रकार के सार्वभौमिक नियम निकाल कर यह पैदा होती है, उनको एक बौद्धिक क्रम मिलता है तथा इसको नई पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता है ताकि इस विरासत को वह पीढ़ी आगे बढ़ाए और इसको नए ढांचे में ढालकर नया रूप दे। बढ़ती हुई जटिलताओं की परिधि के विस्तार में मनुष्य की यही विशेष योग्यता प्रकृति के अन्य तत्वों के साथ सक्रिय रूप से अंतःक्रिया करने में उसे सक्षम बनाती है। अत्यधिक परस्पर निर्भरता की कठोर व्यवस्था में यह उनके साथ महज निष्क्रिय रूप से अपना तालमेल नहीं कायम करता है। इसी प्रक्रिया से प्राणीमात्र स्वतंत्रता के परिवेश में पहुंचते हैं, क्योंकि आवश्यकता तभी तक अंधी होती है, जब तक उसका ज्ञान न हो। अपने अंतिम विश्लेषण में शिक्षा मानवीकरण का ही दूसरा नाम है।

ऊपर के परिप्रेक्ष्य में देखने से तीसरे स्तर पर शिक्षा की महत्वपूर्ण विशेषता शिक्षण और अनुसंधान की सहजीविता है। प्रारंभिक और माध्यमिक स्तर का संबंध तो मात्र शिक्षण से होता है। संस्थान और प्रयोगशालाएं अनुसंधान में जुटे रहते हैं। विश्वविद्यालय इन दोनों को जोड़ता है और दोनों को संपन्न और मजबूत बनाता है। विश्वविद्यालय ऐसी जगह है, जहां पर अनुसंधान-शिक्षण-अनुसंधान की लड़ी कभी टूटती नहीं है और

इसके माध्यम से अस्तित्व के परिवर्तनशील स्वरूप की समझ क्रमशः गहराती चलती है।

इस संदर्भ में यह जानना उपयोगी होगा कि अनुसंधान में उपाधि पाने से अथवा दूसरे को उपाधि लेने में मदद करने की तुलना में अनुसंधान का क्षितिज बहुत व्यापक है। एक उक्ति है कि “या तो प्रकाशित करो अथवा रसातल में जाओ”। अनुसंधान इस उक्ति की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। चूंकि निर्णय की कुर्सी में बैठे लोग इस प्रकार के संकीर्ण दृष्टिकोण को कभी-कभी बिना टीका-टिप्पणी के मान लेते हैं। इसलिए अध्यापक के शिक्षण और अनुसंधान संबंधी कामों के बीच विरोध दिखाई देता है। ये पूरे गतिविधियां हैं और यदाकदा एक दूसरे की सीमा में घुसपैठ भी करती हैं अर्थात् इनको अलग-अलग करनेवाली कोई विभाजक रेखा नहीं है। ‘अनुसंधान की आचार संहिता’ को पाण्डित्य की विशिष्ट शब्दावली में परिभाषित किया जाना चाहिए और वास्तव में गहन बौद्धिक जिज्ञासा तथा इसके फलस्वरूप व्यापक अध्ययन को इसमें शामिल किया जाना चाहिए जिससे लगातार ज्ञान का अपने आप नवीकरण होता रहे। इस नवीकरण के प्रति यह बोध अपने ज्ञान को जीवित रखने की आंतरिक इच्छा का नतीजा होता है।

शिक्षण और अनुसंधान कार्य का एक जरूरी हिस्सा छात्र के अधिगम (सीखने) का मूल्यांकन है। अध्यापकों के काम के रूप में मूल्यांकन की निर्णायक विशेषता पर जोर देना जरूरी है क्योंकि परीक्षा का प्रमाणपत्र बांटनेवाली भूमिका ने मूल्यांकन को उसके सारतत्त्व से अलग कर दिया है और यह भूमिका यांत्रिक कार्य में रूपांतरित हो गई है। मूल्यांकन का काम बाहरी अभिकरण (एजेंसियां) पूरा करते हैं। इस कार्य में पाठ्यक्रम पढ़ानेवाले अध्यापक की भूमिका पूरी तरह हाशिए पर ढकेल दी गई है।

अब हम ऐसी शिक्षा की कल्पना नहीं कर सकते जिसके दो छोर हों जिसमें एक छोर पर शिक्षा हो और दूसरे छोर पर अनुसंधान और अध्यापन कार्य, और यह शिक्षा बंद कमरों में संपन्न होती हो, जिसमें सन्यासी शिक्षक सूई की नोक पर बैठने की दैवी शक्ति रखते हों और देवदूतों की गिनती करने में सक्षम हों। शिक्षा में दो छोरों वाला कार्य अपने आप तीसरे छोर की ओर ले जाता है। इस तीसरे छोर को सामुदायिक सेवा और विस्तार कार्य का नाम दिया गया है। यही पाठ्येतर कार्य अथवा सहवर्ती कार्यक्रम भी कहलाता है। विकासशील समाजों में तीसरा काम खासतौर से महत्वपूर्ण है। इन तीनों कामों को उचित तरीके से पूरा करने के लिए एक चौथे आयाम की जरूरत होती है; वह आयाम इस व्यवस्था के संचालन-प्रशासन का काम है। विश्वविद्यालय सीखनेवालों का समुदाय है। इसलिए इसे अपने ढंग की प्रबंध शैली की जरूरत होती है। यह असमान लोगों का लोकतंत्र है जिसमें अनुशासन और मतभेद का विवेकपूर्ण सामंजस्य काम को प्रोत्साहित करता है और व्यवस्था को बदलने की प्रेरणा भी देता है। इस व्यवस्था के प्रशासनिक दायित्व से शिक्षा संकाय मुंह नहीं मोड़ सकता है। यह काम भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय आर्थिक सेवा या इसी प्रकार

के अन्य लोगों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है। अपने विशिष्ट चरित्र के कारण विश्वविद्यालय एक ऐसी संस्था होती है जिसके निम्नांकित लक्ष्य हैं :

- (1) शिक्षण और मूल्यांकन के मिलेजुले प्रयास से संचित ज्ञान को नई पीढ़ी तक पहुंचाना;
- (2) नए ज्ञान का सृजन;
- (3) इसके अकादमिक काम के लाभ को अधिकाधिक लोगों तक पहुंचाना और समुदाय की सेवा के लिए इसका इस्तेमाल करना, खासतौर से समुदाय के उस तबके की सेवा के लिए जिसे सदियों से वंचित रखा गया है;
- (4) संस्थानों के प्रबंध और उससे संबद्ध गतिविधियों में भागीदारी। जिस व्यापक दायरे में अध्यापक काम करते हैं, उससे संबद्ध उपरोक्त विचार-विमर्श का अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए प्रत्येक अध्यापक को हर जिम्मेदारी बराबर मात्रा में सौंपी जानी चाहिए। कई प्रकार के काम, जो अध्यापक को करने होते हैं, वह कई बातों पर निर्भर करता है। पहली बात यह है कि अध्यापकों की निजी अभिरुचि में काफी विविधता होती है। कुछ लोगों को छात्रों की विभिन्न गतिविधियों के विषय में सलाह-मशविरा देना अच्छा लगता है, जबकि संभव है, कुछ दूसरे इसको कतई पसंद न करें। दूसरी बात यह है कि अध्यापक के काम में अनुसंधान और शिक्षण का बोझ अलग-अलग होता है। शिक्षा के स्तर में अंतर के कारण भी काम के दबाव में अंतर होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए स्नातक कक्षाओंवाले कालेजों में जहां पढ़ाने का काम अपेक्षाकृत ज्यादा महत्वपूर्ण हो सकता है। वहीं विश्वविद्यालय स्तर पर अनुसंधान को अधिक महत्व दिए जाने की संभावना है। तीसरी बात यह है कि कुछ काम ऐसे होते हैं जिनकी मात्रा कुछ संकायों में अधिक हो सकती है जबकि उसी तरह के काम अन्य संकायों में नाममात्र को होता हो। मसलन सलाह-मशविरा देने का काम समाजविज्ञान और मानविकी विभागों की तुलना में इंजीनियरिंग, कृषि और प्रबंध विभागों में ज्यादा किया जाता है। चौथी बात यह है कि समितियों की सदस्यता और वरिष्ठ प्रशासनिक दायित्व आमतौर पर अनुभव से मिलते हैं तथा संकाय के युवा सदस्यों के कंधे पर इस तरह के प्रशासनिक बोझ काफी कम होते हैं। बहरहाल, पाठ्येतर गतिविधियों के आयोजन में बात एकदम उल्टी होती है। संकाय के युवा सदस्य इस प्रकार की भूमिका के लिए ज्यादा उपयुक्त होते हैं और यह बात स्वाभाविक भी है।

सालों काम करते-करते हर अध्यापक में कुछ विशेष क्षमताएं विकसित हो जाती हैं जिन क्षमताओं के कारण वह अध्यापक इष्टतम योगदान करने लायक बन जाता है। इन मिलीजुली क्षमताओं से वह अलग नहीं हो सकता यद्यपि समय बीतने के साथ

उसका जोर इनमें से कभी एक पर होता है और कभी दूसरी पर। इस प्रकार की भावना संस्थान में होनी चाहिए कि समग्रता में हर अध्यापक हर काम में अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार अलग-अलग तरीके से सहयोग करे और संचित ज्ञान का नई पीढ़ी को हस्तांतरण करे।

संचित ज्ञान का नई पीढ़ी को हस्तांतरण

अध्यापक द्वारा विद्यार्थी को जिस संचित ज्ञान को देने की आवश्यकता होती है, उसमें लगातार परिवर्तन होता रहता है, समय के साथ वह बढ़ता रहता है। वह हमेशा नया होता रहता है। इसलिए अपने बौद्धिक आधार को नवीनतम ज्ञान से तैस रखने के लिए तथा न सिर्फ अपने अध्ययन क्षेत्र में होनेवाले विकास के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने के लिए, बल्कि उस विषय से संबंधित अन्य विषयों से परिचित रहने के लिए भी लगातार स्वाध्याय करते रहना अध्यापन कार्य की जरूरी शर्त है। इसके लिए अत्यंत उच्च स्तर के बौद्धिक प्रयास की जरूरत है और इस कार्य में उससे अपेक्षा की जाती है कि वह अधिक समय खर्च करे। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कुछ ऐसे भी अध्यापक होते हैं जो अपने छात्र जीवन में संकलित सामग्री को आजीवन कक्षा में दुहराते रहते हैं। लेकिन हर समुदाय में सौभाग्य से कुछ अच्छे अध्यापक भी हैं जिनके लिए शिक्षा देना (पढ़ाना) रचनात्मक काम है। अपनी बौद्धिक उपलब्धियों की संपन्नता और लगातार नवीनतम जानकारी के भंडार को छात्रों तक पहुंचाना ऐसे अध्यापकों के लिए रचनात्मक कर्म ही होता है। एक साल के बाद किसी अध्यापक द्वारा कक्षा में दिया गया व्याख्यान, उसी विषय पर एक साल पहले दिए गए व्याख्यान की पुनरावृत्ति मात्र नहीं होता है। वस्तुतः यह व्याख्यान भिन्न किस्म का होता है। अपने ज्ञान का नवीकरण करके अध्यापक बदल जाता है तथा नए सत्र के नए प्रवेश के साथ छात्र भी बदल चुके होते हैं। अच्छा व्याख्यान हमेशा कलात्मक सृजन होता है। बौद्धिक बनावट का अद्भुत ढांचा, अच्छे अध्यापक के आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से उसके व्यक्तित्व का अंग बन चुका होता है।

अध्यापक के इस काम को अक्सर गलत रूप में लिया जाता है। अध्यापक का अर्थ ज्ञान का इकतरफा हस्तांतरण मान लिया जाता है जिसको ग्रहण करने के बाद छात्र उस ज्ञान को ज्यों का त्यों परीक्षा में उगल दे ताकि वह अच्छे अंक पा सके। इस महत्वपूर्ण कार्य का यह बहुत ही सीमित, संकुचित और विद्वृत्त अर्थ है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण का अर्थ छात्र को संबद्ध विषय का सिर्फ गहरा, अद्यतन तथा प्रासंगिक ज्ञान प्रदान करना नहीं होता बल्कि इस शिक्षा का उद्देश्य छात्र में आलोचनात्मक तथा विश्लेषण क्षमता विकसित करना भी होता है। जिससे इस तरह अर्जित ज्ञान को वह जीवन और जगत् के यथार्थ से जोड़ सके। सीखने के ज्ञानात्मक पक्ष पर प्रभाव डालने के अलावा छात्रों की अभिवृत्ति, चरित्र, मूल्य और सामाजिकता

जैसे पक्षों को प्रभावित करने में अध्यापक की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। एक वाक्य में कहना चाहें तो अध्यापक उसके भावनात्मक जगत् पर भी प्रभाव डालता है। जब तक उपलब्ध ज्ञान की मात्रा अपेक्षाकृत कम थी और बहुत मद्धिम गति से उसका विकास हो रहा था, तब तक शिक्षण की परंपरागत पद्धति पर्याप्त थी, उसमें कोई कमी नहीं थी। लेकिन अब तो मानों ज्ञान का विस्फोट हो गया है। इसलिए जरूरी हो गया है कि सूचना ग्रहण करने, उसमें से जरूरी, कम जरूरी और गैरजरूरी में भेद करने, उसकी व्याख्या और विवृति करने में सक्षम हो और यह जानने का विवेक विकसित करने की क्षमता प्राप्त कर सके कि किसी विशेष स्थिति में उसके लिए कौन-सी चीज प्रासंगिक और सार्थक है। बदले हुए संदर्भ में शिक्षण पद्धतियों में अब अधिक जोर जानने की प्रक्रिया पर दिया जाता है, जो कुछ जाना जा चुका है, उस पर बल नहीं दिया जाता। इस बात पर ज्यादा जोर होता है कि 'कैसे जाना जाए' और इस बात पर कम कि 'क्या जाना जाए'। धीरे-धीरे 'सीखनेवाला' और 'सीखने के विषय' शिक्षा का केंद्र बनते जा रहे हैं, इसके ठीक विपरीत पहले जबकि 'शिक्षक' और 'शिक्षण' उसके केंद्र में थे (जैसा गुरु-शिष्य परंपरा में हम देखते थे)। छात्रों को अब जिज्ञासु, खोजी, आलोचनात्मक और नवाचारी होने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। उन्हें ज्ञानार्जन करनेवाला निष्क्रिय प्राणी नहीं समझा जाता है। चूंकि किसी एक शिक्षण पद्धति से शिक्षा के सारे उद्देश्यों की सिद्धि संभव नहीं है, इसलिए कक्षा में शिक्षक को न केवल कई प्रविधियों का उपयोग करना होता है, बल्कि कक्षा के बाहर भी उसे शिक्षण प्रविधि (तकनीक) का उपयोग करना होता है। चूंकि उच्च शिक्षा के सभी विषयों को पढ़ाने में कोई अकेली शिक्षण पद्धति मदद नहीं कर सकती, इसलिए अध्यापक को कक्षा में न केवल विभिन्न शिक्षण-उपागमों से काम लेना होगा, बल्कि कक्षा के बाहर भी उसको यही तरीका इस्तेमाल करना होगा। ऊपर की बातों से यह नतीजा निकलता है कि इस काम को अंजाम देने में जो समय खर्च होता है, उसे मात्र कक्षा में खर्च किए गए समय के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। अध्यापन की उपयुक्त समन्वय पद्धति में बहुत अधिक रचनात्मक प्रयास की जरूरत होती है। यह प्रयास कक्षा के भीतर और कक्षा के बाहर दोनों जगह चलता रहता है, इसलिए इन दोनों को शिक्षण-समय में गिना जाना चाहिए।

आइए अब इन विभिन्न पद्धतियों के विषय में विचार करें। अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद उस शिक्षाव्यवस्था में व्याख्यान पद्धति पर अभी भी काफी हद तक निर्भर रहना पड़ेगा जिस व्यवस्था में छात्र अध्यापक का अनुपात बहुत ज्यादा असंतुलित है। परंपरागत रूप में प्राचीन एकालाप शैली की व्याख्यान पद्धति शिक्षा के सीमित उद्देश्य की भी कमी पूरी नहीं कर पाती। क्योंकि यहां छात्र को जो कुछ व्याख्यान के जरिए पढ़ाया जा रहा है, उसकी विषयस्तु को छात्र नहीं समझ पाता है। एक प्रभावशाली व्याख्यान की तैयारी के लिए अत्यधिक कौशल, प्रयास और समय की जरूरत होती है। अनेक कठिन प्रश्नों के बारे में शिक्षक को निर्णय लेने होते हैं। विषय का वह किस प्रकार परिचय देगा, किस प्रकार इसका वर्णन और स्पष्टीकरण करेगा, छात्रों से

उचित जानकारी के लिए वह किस प्रकार के सवाल पूछेगा, उसने जो कुछ सिखाया है, किस प्रकार उसको वह और सुदृढ़ करेगा, अपनी बात का सार वह किस प्रकार रखेगा आदि ? इसमें कोई शक नहीं कि ये सारे सवाल काफी महत्वपूर्ण हैं लेकिन अच्छे व्याख्यान का सबसे महत्वपूर्ण गुण प्रस्तुतीकरण की स्पष्टता है, जिसे खूब सराहा जाता है। प्रभावशाली प्रस्तुतीकरण की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं : विषय का केंद्र बिंदु सुपरिभाषित होना चाहिए, विषयवस्तु को ठीक तरह से व्यवस्थित होना चाहिए, व्याख्यान में वक्तृता कला का समावेश होना चाहिए, प्रभावशाली संप्रेषण के साथ-साथ सहायक सामग्री का उपयोग होना चाहिए, लंबे समय से जिस श्यामपट का इस्तेमाल होता आ रहा है कम से कम वह तो होना ही चाहिए। इस समय उच्च शिक्षा की पढ़ाई में शिक्षण की जानी-पहचानी पद्धति व्याख्यान को माना गया है। इस बात की रोशनी में यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक विशेष व्याख्यान में अध्यापक न सिर्फ छात्र के अधिगम (सीखने की क्रिया) को आगे बढ़ाए बल्कि पूरे सत्र के लिए जो समय निर्धारित किया गया है, उसमें पर्याप्त संख्या में व्याख्यान देकर समूचे पाठ्यक्रम को पूरा करे। पहले से ही पाठ्यसामग्री की सूची तथा व्याख्यान की रूपरेखा छात्रों को मुहैया कराना व्याख्यान प्रणाली के कारगर इस्तेमाल का संकेत समझा जाता है।

शिक्षक द्वारा छात्र को ज्ञान देना अब एकतरफा प्रक्रिया नहीं रह गई है। इसीलिए प्रभावशाली अधिगम को आगे बढ़ाने के लिए परंपरागत व्याख्यान पद्धति काफी नहीं है। परंपरागत व्याख्यान प्रणाली के पूरक रूप में शिक्षण पद्धति के एक नए प्रकार, छात्र-अध्यापक के बीच विचारविमर्श की पद्धति का अभी हाल में ही विकास हुआ है। विचारों के आदानप्रदान की शिक्षणप्रणाली के अवयव हैं : प्रत्युत्तर, प्रतिक्रिया, चुनौती और सुधार। इनमें से हर खूबी का व्यवस्थित तरीके से छात्र में विकास करना होता है, जिसमें निस्संदेह रूप से यह मानकर चला जाता है कि अध्यापक में विचारविमर्श का कौशल पहले से विकसित है। शिक्षण पद्धति में विचारविमर्श के निम्नांकित प्रमुख तरीके हैं : ट्यूटोरियल/प्रिसेप्टोरियल, सामूहिक विचारविमर्श तथा संगोष्ठी।

ट्यूटोरियल/प्रिसेप्टोरियल में अध्यापक की भूमिका काफी अधिक होती है। यह बात अध्यापक को सुनिश्चित करनी होती है कि ट्यूटोरियल कहीं व्याख्यान कक्षा में न बदल जाए। कक्षा में पूरी स्थिति को अध्यापक को ऐसा खाका प्रदान करना होता है कि हर छात्र खुद सोचने के लिए प्रेरित हो तथा विभिन्न सवालों पर अपनी प्रतिक्रिया जाहिर करे। बहुत सुसंबद्ध निबंध लेखन में छात्र को प्रशिक्षित करने के लिए भी इस स्थिति का इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इसके लिए अध्यापक को अतिरिक्त प्रयास करने का जरूरत होती है क्योंकि उसको न सिर्फ छात्रों के काम का मूल्यांकन करना होता है बल्कि छात्रों के काम को लेकर उनके साथ अध्यापक को विचारविमर्श भी करना होता है।

ऊपर से देखने में लगता है कि सामूहिक विचारविमर्श की कोई खास भूमिका नहीं होती है लेकिन व्यवहार में यह काफी महत्वपूर्ण होता है। जहां समूह का हर

सदस्य आपस में विचारविमर्श के बारे में स्वतंत्र होता है, विचारविमर्श को परिप्रेक्ष्य की परिधि में लाने के लिए यदाकदा अध्यापक का हस्तक्षेप लाजिमी समझा जाता है, खासतौर से उस समय जब विचारविमर्श की गाड़ी पटरी से उतर रही हो। विषय की बेहतर समझ विकसित करने के अलावा सामूहिक विचारविमर्श से सामूहिक गतिविधियों के लिए कौशल विकसित होता है। यह विचारविमर्श के जरिए शिक्षण की अपेक्षाकृत विकसित पद्धति को दर्शाती है। इस विद्या की और अधिक विकसित पद्धति संगोष्ठी मानी गई है। संगोष्ठी में अध्यापक की भूमिका मार्गदर्शक की होती है जो छात्रों के लिखित अथवा मौखिक प्रस्तुतीकरण में सहायता करता है, साथ ही व्याख्यान या आलेख के प्रस्तुतीकरण के बाद होनेवाली बहस में भी वह छात्रों का मार्गदर्शन करता चलता है। इन बातों से जाहिर है कि विचारविमर्श की शिक्षण पद्धतियों की योजना तैयार करने में काफी प्रयास के साथ शिक्षक को कुछ अधिक समय भी लगाना होता है।

परियोजना कार्य (प्रकल्प पत्र लिखना) शिक्षण-अधिगम का पद्धतिशास्त्र है। कहना चाहिए कि छात्र में जीवन से सीखने की इससे योग्यता पैदा होती है। शिक्षक की देखरेख में व्यक्तिगत तौर पर कोई एक छात्र अथवा छात्रों का कोई समूह वास्तविक जीवन की किसी समस्या की जानकारी के लिए छानबीन की योजना बनाता है। परियोजना में अध्यापक को अधिक ध्यान देने और समय खर्च करने की जरूरत पड़ती है। छात्र को उपलब्ध समय और साधनों की सीमा में ही लक्ष्य तय करने में परियोजना के एकदम शुरू में अध्यापक को छात्रों की मदद करनी होती है, ऐसा लक्ष्य जिसे छात्र पूरा कर सके। उसे इस बात को सुनिश्चित करना होता है कि समय पर छात्र को आवश्यक संसाधन उपलब्ध हो जाएं। परियोजना की प्रगति की देखरेख भी उसे करनी होती है और बीच में यदि कोई दिक्कत पैदा हो तो उसे दूर करने में और परियोजना में आवश्यक संशोधन करने में भी अध्यापक को छात्र की मदद करनी होती है। परियोजना पूरी हो जाने पर अध्यापक अकेले अथवा संकाय के अन्य सदस्यों की मदद से संबद्ध परियोजना का मूल्यांकन करता है। यहां तक कि मूल्यांकन की प्रक्रिया में भी वह छात्रों को शिक्षित करता है। परियोजना की पद्धति ऐसी होती है कि छात्र तल्लीन और सक्रिय होकर सीखता है। विषय के बारे में उसकी समझ गहरी होती है। इससे स्वतंत्र रूप से उसको सोचने का और अकेले तथा लोगों के साथ मिलकर काम करना सीखने का भी अवसर मिलता है। छात्र में संप्रेषण कौशल, आत्मविश्वास तथा काम करने के लिए साधनों के बारे में जानकारी की क्षमता विकसित होती है। परियोजनाओं के विभिन्न रूप हो सकते हैं : प्रयोगशाला से संबद्ध परियोजना, क्षेत्र में जाकर काम करनेवाली परियोजना, या पुस्तकालय में बैठकर काम करनेवाली परियोजना या कोई काम। परियोजना का रूप अंतर्विषयीय हो सकता है, जो अधिगम के विकास में सहायक हो। स्थानीय रूप से सार्थक परियोजनाएं भी ली जा सकती हैं, जिनका स्वरूप किसी समस्या का समाधान खोजनेवाला हो सकता है। ऐसी परियोजनाएं विस्तार कार्य को पूरा करने या चलाने की दृष्टि से अधिक अर्थपूर्ण हो सकती हैं।

छात्रों द्वारा अधिगम को अधिक कारगर, सक्षम और सार्थक बनाने के लिए स्वशिक्षण के प्रयोग को अध्यापन पद्धति के रूप में शामिल करना अध्यापक के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण है। ज्ञान विस्तार की तेज गति को देखते हुए समूचे सार्थक ज्ञान को छात्रों तक पहुंचाना अध्यापक के लिए संभव नहीं रह गया है। अध्यापक को चाहिए कि छात्रों को थोड़ा बहुत स्वाध्याय के लिए प्रेरित करे, छात्र स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हों, इस कार्य में अध्यापक की भूमिका काफी महत्वपूर्ण हो गई है। छात्र किस प्रकार से स्वाध्याय करें, इसकी रूपरेखा अध्यापक को बनानी होगी। इसमें छात्रों के परिवेश को, संबंधित पाठ्यक्रम के संदर्भ में उसकी सार्थकता और यदि हो सके तो उसके साथ यथार्थ जीवन की कुछ स्थितियों को ध्यान में रखना होगा। अध्यापक को यह बात भी सुनिश्चित करनी होगी कि संसाधन सामग्री (इसमें किसी खास काम को पूरा करने में लगनेवाला समय भी शामिल है) छात्रों को उपलब्ध कराई जाए तथा उनके कार्यों के संबंध में उनको पर्याप्त मार्ग निर्देशन भी दिया जाए। जब छात्र अपना काम पूरा कर लें तब उन सारी बातों का आलोचनात्मक आकलन किया जाना चाहिए, जो छात्र ने सीखा है। अगर छात्र का कार्यनिष्पादन असंतोषजनक हो तो उसे अतिरिक्त प्रयास की जरूरत होगी ताकि काम में सुधार करके उसके काम को संतोषजनक स्तर तक उठाया जा सके। स्वशिक्षण पद्धति के अनेक रूप हो सकते हैं। जैसे कार्यक्रमबद्ध अधिगम, व्यक्तिनिष्ठ छात्र निर्देशन (केरल योजना), संगणक की मदद से निर्देशन, प्रयोगशाला तकनीक स्वशिक्षण के विविध रूपों का सावधानीपूर्वक डिजाइन तैयार करने में पर्याप्त विशेषज्ञता, कठोर परिश्रम, तथा रचनात्मकता की अध्यापक से अपेक्षा की जाती है।

शिक्षण की विभिन्न सहायक सामग्रियों के विवेकपूर्ण तथा सक्षम उपयोग के महत्त्व पर अनावश्यक रूप से जोर नहीं दिया जा सकता है—वह चाहे परंपरागत तरीके की श्यामपट्ट जैसी सामग्री हो अथवा अत्याधुनिक दृश्यश्रव्य उपकरण हों, जैसे सुनने-देखने वाले कैसेट। जहां अध्यापक को प्राप्त सहायक सामग्री विभिन्न सहायक शिक्षण उपकरणों के उपयोग को सीमित कर देती है, वहां इस बात को सुनिश्चित करना महत्वपूर्ण है कि छात्रों के अधिगम को बढ़ावा देने के लिए सारे उपलब्ध सहायक उपकरणों का कारगर इस्तेमाल किया जाए।

अध्यापक को पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित होना चाहिए। विषयवस्तु और शिक्षण कौशल की दृष्टि से उसे पूरी तरह तैयार किया जाना चाहिए ताकि वह बहुत अच्छा शिक्षण कार्य कर सके। नवीनतम पुस्तकों, पत्रिकाओं, विद्वत्तापूर्ण आलेखों की गहरी जानकारी अध्यापक को होनी चाहिए ताकि इस प्रक्रिया में जो ज्ञान वह अर्जित करता है तथा वह ज्ञान जिसका उसने स्वयं सृजन किया है, उसे छात्रों को हस्तांतरित किया जा सके। ज्ञान का सृजन अध्यापक के अनुसंधान कार्य का हिस्सा है। अध्यापन के लिए तैयारी का अर्थ सिर्फ एक बार की तैयारी नहीं है। अध्यापक को अपनी ओर से और संस्था की ओर से अपनी तैयारी जारी रखनी चाहिए। वह जिस संस्था में काम करता है, वह संस्था भी अध्यापक के विकास के लिए अवसर प्रदान करती है।

अध्यापक के ज्ञानदान की जो रूपरेखा ऊपर दी गई है, इससे उसके काम के स्वरूप की जटिलता स्पष्ट होती है। यह इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि एक अध्यापक को अपना काम ठीक तरीके से करने के लिए कितना प्रयास करना पड़ता है और इसके लिए उसे कितना समय खर्च करना पड़ता है।

छात्रों के कार्य का मूल्यांकन

अधिगम पर आधारित शिक्षण पर बल देने के कारण शिक्षक द्वारा किए जानेवाले छात्र के काम के मूल्यांकन की भूमिका काफी गुरुतर हो जाती है। इसके चलते अध्यापक के कार्य का रूपांतरण हो गया है।

भारत में परीक्षाप्रणाली का वर्तमान संकट उत्तराधिकार में प्राप्त दुष्क्रियात्मक शैक्षिक ढांचे तथा विकासशील अर्थव्यवस्था और समाज की जरूरतों के बीच पैदा हुए अंतर्विरोधों का नतीजा है। औपनिवेशिक भारत की शिक्षाप्रणाली में मूल्यांकन का मकसद शिक्षा की दुकानों में रोजगार बाजार के लिए पैदा की जानेवाली वस्तुओं पर गुणवत्ता के अनेक स्तरों का ठप्पा लगाना था। इस माल का उपयोग मूलतः तथ्यांकित सेवा क्षेत्र में होता था। अनुत्पादक बाजार की जरूरत में मोटे तौर पर एकरूपता थी। इस एकरूपता से मूल्यांकन पद्धति की एकरूपता निर्धारित होती थी। इस प्रकार की परीक्षाप्रणाली के जरिए प्राप्त सत्य को बिना टीकाटिप्पणी के स्वीकार करने की योग्यता को सर्वोत्तम रूप में परखा जा सकता था, जो सत्र के अंत में संचालित की जाती हो तथा जिसमें निबंध शैली के बड़े-बड़े सवाल पूछे जाते हों। विकासशील अर्थव्यवस्था और लोकतांत्रिक समाज की मांग यह है कि हम अपने शैक्षिक प्रयास में व्यापक फेरबदल करें और इसी को ध्यान में रखकर मूल्यांकन पद्धति विकसित करें। विरासत में मिली मूल्यांकन प्रणाली को बदलने की जरूरत है। इसकी जगह विविधतापूर्ण, आंतरिक और अनेक रूपोंवाली मूल्यांकन प्रणाली की आवश्यकता है जो सत्र के अंत में न होकर पूरे सत्र के दौरान परीक्षा ले। इसका संचालन भी वही अध्यापक करे जो विषय को पढ़ाता हो। मूल्यांकन को शिक्षण के साथ मिलाकर देखने की जरूरत है। मूल्यांकन को सत्रांत में किया जानेवाला पृथक् कार्य नहीं माना जाना चाहिए।

ऊपर के संदर्भ में देखने पर मूल्यांकन काफी जटिल काम लगता है। किंतु इसकी प्रक्रिया को शिक्षण का परिशिष्ट नहीं समझना चाहिए बल्कि इसका मूल शिक्षा के सिद्धांत में निहित है और इसी के भीतर से इसका सोता फूटता है। यह बात एकदम अलग है कि कभी-कभी परीक्षक इसके प्रति जागरूक नहीं होता है अथवा अपने दुराग्रह को इस या उस वस्तुनिष्ठता की कसौटी के पीछे वह छिपा लेता है। जो सिद्धांत इस अवधारणा पर आधारित होगा कि ज्ञान स्थिर है, निरपेक्ष है और प्राप्त किया जाता है तथा शिक्षा का काम इस स्थिर और निरपेक्ष ज्ञान को नई पीढ़ी को हस्तांतरित करना है, वह सिद्धांत ऐसे उपकरणों को जन्म देगा जिनमें सूचना की प्रमुखता होगी।

मौलिकता और मतभेद को उसमें नकारात्मक मूल्य माना जाएगा। इसके विकल्प में जो ज्ञान होगा, वह गतिशील और सतत परिवर्तनशील होगा। ऐसा ज्ञान मूल्यांकन के ऐसे उपकरणों का सृजन करेगा जो जिज्ञासु की खोजी प्रतिभा को विशेष महत्त्व देगा तथा सूचना ग्रहण करने की क्षमता को कम। वह मौलिकता और मतभेद को सकारात्मक मूल्य मानेगा। यदि हमारी शिक्षा की बुनियाद यह परवर्ती दृष्टिकोण है तो मूल्यांकन के उपयुक्त उपकरणों का विकास और उनका सार्थक प्रयोग हमारे लिए काफी जटिल, परिश्रमसाध्य और समयसाध्य काम बन जाता है।

ऊपर जिस शिक्षा सिद्धान्त का ब्योरा पेश किया गया है, उसके आधार पर छात्र के गुणों के नीचे दिए लक्षण माने जा सकते हैं जिनके मूल्यांकन की उम्मीद इन उपकरणों के जरिए की जा सकती है :

- (क) छात्र जिस ज्ञान का संग्रह करता है, उसका आधार व्यापक होना चाहिए;
- (ख) प्राप्त ज्ञान को आलोचनात्मक दृष्टि से परखने की उसमें योग्यता होनी चाहिए ताकि वह समझ सके कि उस ज्ञान में कोई आंतरिक असंगति तो नहीं है और यह भी कि जीवन जगत् की वास्तविकताओं से उसका कोई सामंजस्य है या नहीं;
- (ग) उसमें ऐसे उपकरणों को विकसित करने तथा इस्तेमाल करने की क्षमता होनी चाहिए ताकि परस्पर निर्भरतावाली व्यवस्था में परिघटनाओं (फेनोमेना) को वह पहचान सके तथा उनकी आलोचनात्मक परीक्षा कर, व्याख्या कर सके।

निम्नांकित बातों के जरिए इनमें से पहली विशेषता की अभिव्यक्ति होती है : स्मरण करना और पहचानना, प्रासंगिक तथ्यों का चयन, वर्गीकरण और तुलना, महत्त्वपूर्ण, कम महत्त्वपूर्ण के बीच अंतर करना, त्रुटियों को खोज निकालना, विभिन्न तथ्यों के अंतःसंबंधों को पहचानना, और विवृति तथा व्याख्या करना। छात्र के इन गुणों की पहचान के लिए विभिन्न प्रकार के परीक्षण तैयार किए जा सकते हैं, जैसे प्रश्न और उत्तर, अनेक उत्तरों में से एक उत्तर को चुनना, सही और गलत में चुनाववाले वस्तुनिष्ठ प्रश्न आदि। बहरहाल देखने की बात यह है कि वे सभी परीक्षण आमतौर पर सूचनाओं की जानकारी के मूल्यांकन के लिए उपयोग में लाए जाते हैं, और उन्हीं पर आधारित होते हैं। लेकिन हमारे कहने का यह अर्थ नहीं है कि वस्तुनिष्ठ प्रश्नोंवाले परीक्षणों से समझदारी और गहरी अंतर्दृष्टि का मूल्यांकन नहीं हो सकता है लेकिन ऐसे प्रश्न बनाने के लिए परीक्षक को बहुत अधिक योग्य होना चाहिए और तथाकथित 'तथ्यपरक' या पहचानवाले प्रश्नों को बनाते वक्त बहुत कम दिक्कत उठानेवाला रास्ता ही अक्सर अख्तियार किया जाता है। इसलिए इन उपकरणों के पूरक रूप में संक्षिप्त उत्तरवाले उपकरणों का इस्तेमाल हो सकता है जो फर्क करने, संबंधों को पहचानने तथा उनकी व्याख्या करने की दृष्टि ज्यादा उपयुक्त हैं। बहरहाल, चाहे जितनी भी सूझबूझ के साथ संक्षिप्त उत्तरवाले प्रश्नों का उपयोग किया जाए, संश्लिष्ट और जटिल संबंधों की समझदारी का मूल्यांकन करने

में अनेक अवरोध पेश आते हैं। इस योग्यता को नापने के लिए पुराने समय से चले आ रहे, संक्षिप्त या लंबे निबंध शैली के उत्तरों का अभी तक कोई विकल्प नहीं निकल सका है। हां, परंपरागत पद्धति की तरह से इसे हर प्रकार की खूबी को जांचने-परखने का आधार नहीं बनाया जाना चाहिए, इस सीमित उद्देश्य के लिए इसके उपयोग को जरूर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

वर्ष के दौरान समूचे सत्र में होनेवाले मूल्यांकन के अंगों के रूप में जहां वस्तुनिष्ठ परीक्षण, छोटे उत्तरोंवाले परीक्षण तथा लघु और निबंध शैली के बड़े उत्तरोंवाले परीक्षण अपने आप में काफी उपयोगी हैं, वहीं इन सबको एक साथ यदि मिला भी दें तो वे सत्र के अंत में ली जाने वाली निबंध शैली की परीक्षा की जगह नहीं ले सकते हैं। जो परीक्षण छात्र के पूरे वर्ष की उपलब्धि के मूल्यांकन में, खासतौर पर इसकी विभिन्न इकाइयों के पारस्परिक संबंधों को समझने के संदर्भ में प्रभावी तरीके से सक्षम है। यदि हम चाहते हैं कि अलग-अलग अंगों के उपचार के चक्कर में पूरे शरीर की उपेक्षा न हो जाए तो इस परंपरागत उपकरण का इस्तेमाल जारी रहना चाहिए। हां, इसके सीमित क्षेत्र की हमें स्पष्ट समझ होनी चाहिए। प्रारूप विकसित करने की योग्यता का आकलन करना काफी कठिन होता है। इस विषय के लिए आकलन के उपकरण विकसित करने में परीक्षक को काफी परिश्रम करना पड़ता है। इस कष्टदायक समस्या के समाधान के कुछ उपकरण इस बात में निहित हैं कि इसके लिए पाठ्य सामग्री और सेमिनार पाठ्यक्रम तैयार किए जाएं और इनसे संबद्ध मूल्यांकन के विशेष उपकरण बनाए जाएं। बहरहाल, ध्यान देने की बात यह है कि वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक उत्तरों में फर्क करना काफी कठिन होता है और इन गुणों के बदले छात्रों को उचित अंक या श्रेणी देने में अध्यापक अक्सर असफल रहते हैं। उपयुक्त विषयों पर लिखे गए 'टर्म पेपर्स' का मूल्यांकन इस दुखदायी समस्या का दूसरा हल हो सकता है। सत्र के लिए लिखे जानेवाले पत्रों के लिए पर्याप्त संख्या में विषयों का चयन भी कोई हंसीखेल नहीं है और अक्सर ऐसा होता भी है कि विषयों की सूची पुनरावृत्तिमूलक और सड़क छाप हो जाती है। कभी-कभी यह बात भुला दी जाती है कि सीखनेवालों की योग्यता का आकलन करने के लिए उपकरण विकसित करने के दौरान अध्यापक अपना भी आकलन करता है। यदि उसके अनुसंधान और रचनात्मकता के सोते सूख रहे हों तो छात्र के गुणों को मापने की उसकी अपनी योग्यता भी सीमित हो जाएगी और विचारशील छात्रों की निगाह से यह बात छिपी नहीं रह सकती है।

पहचान, व्याख्यान और अनुमान के लिए और साथ ही सत्यापन के उद्देश्य से विश्लेषणात्मक उपकरणों के विकास और इस्तेमाल की योग्यता गुणात्मक और मात्रात्मक तर्कपद्धति के उपयोग में प्रतिबिंबित होती है और इन विषयों में उपयुक्त प्रश्नाभ्यासों के जरिए इनका मूल्यांकन किया जा सकता है।

यथार्थ जगत के चित्रों से अवधारणाएं और प्रस्थापनाएं विकसित करने की योग्यता का परीक्षण क्षेत्र कार्य के जरिए अथवा इस विषय पर उपलब्ध साहित्य के सर्वेक्षण

से और पुस्तक समीक्षाओं से किया जाता है। दूसरों की प्रस्थापनाओं और अवधारणाओं से इनके जरिए छात्र का परिचय होता है।

छात्र के कौशल के आकलन संबंधी कार्य में निहित जटिलताओं का ऊपर जो एक सामान्य चित्र पेश किया गया है, उससे यह बात जाहिर होती है कि जो लोग हृदयहीन अथवा नीरस काम से इस काम की तुलना करते हैं (जिसमें निरीक्षण, नकली रोल नंबर डालना, नकल की रोकथाम की समितियों में काम करना, उत्तरपुस्तिकाओं की गठरी को डाकखाने भेजना तथा दो रुपए या तीन रुपए प्रति उत्तर पुस्तिका के हिसाब से यथाशीघ्र कपियां जांचना और जटिल अंकपत्रों का भरना जैसे काम शामिल हैं), उनको कतई इस बात का पता नहीं है कि छात्र की योग्यता का मूल्यांकन होता क्या है ?

छात्रों की योग्यता का मूल्यांकन शिक्षा का अविभाज्य हिस्सा है और इसके लिए शैक्षिक प्रक्रिया की स्पष्ट समझ, उच्च स्तर का बौद्धिक नवाचार, छात्र की प्रतिक्रिया की गहरी समझ तथा पूरे वर्ष कमरतोड़ परिश्रम की आवश्यकता होती है।

ज्ञान का सृजन

संकाय द्वारा किया जानेवाला अनुसंधान कार्य इसकी विशेष खूबी है। अनुसंधान कार्य ही शिक्षा के इस विशाल पिरामिड में अन्य स्तरों से तृतीयक स्तर को अलग करने का आधार प्रदान करता है। हमारे समय के ज्ञान के विस्फोट ने इस काम को और ज्यादा महत्वपूर्ण बना दिया है। लेखन कला का आविष्कार, टाइप (जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है) और संगणक, ज्ञान के विकासक्षेत्र में तीन मील के पथर हैं, जो इस क्षेत्र की अभूतपूर्व प्रगति को सूचित करते हैं। 15 वीं सदी में पूरे साल में जितनी पुस्तकें तैयार होती थीं, उससे कहीं ज्यादा आज एक दिन में छपती हैं। कहना चाहिए कि पूरी प्रथम शताब्दी में जितनी छपती, शायद अब एक दिन में छपती हैं। अनुसंधान के जरिए ज्ञान का आगे उत्पादन, खासतौर पर इस संदर्भ में, महत्वपूर्ण हो जाता है तथा बौद्धिक आत्मनिर्भरता के लिए इसको बहुत अधिक महत्व का माना जा सकता है। ज्ञान के क्षेत्र में सभी विकासशील देशों के लिए आयात का स्थानापन्न खोजना तथा अध्यापन-अनुसंधान को देशी आधार प्रदान करना विकास के वर्तमान चरण में अत्यंत जरूरी हो गया है। यदि विचारों का आदानप्रदान और प्रौद्योगिकी का हस्तांतरण स्वतंत्र रूप से होता रहे तो ज्ञान के उत्पादन के लिए अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर श्रमविभाजन भी समान रूप से होगा। इससे मानव जाति संपन्नता के शिखर पर पहुंच जाएगी। इस प्रकार स्वप्न का आदर्श यथार्थ की धरती पर उतरेगा, यह मात्र शून्य लोक का समाचार बन कर नहीं रह जाएगा। दुर्भाग्य से आज भी इस धरती पर नृशंस और लालची लोग रहते हैं जिनके लिए ज्ञान मानव मुक्ति का उपकरण नहीं, बल्कि दूसरों को दास बनाने का हथियार है। कुछ देशों में ऐसे ही लोगों के हाथ में सत्ता है, लूट कर अथवा जीत हासिल कर ये देश अनावश्यक अनुपात में संपन्नता

हासिल कर चुके हैं। मानवता के बहुत बड़े भाग पर अल्पविकास और अज्ञान थोप कर वे लोग दुनिया को विभाजित रखना चाहते हैं। इस प्रकार के हालात में अल्पमत संपन्नता पर निर्भरता से पिण्ड छुड़ा कर उनसे अलग होने और अपनी उन्नत प्रौद्योगिकी और उच्च स्तर का अपना ज्ञान पैदा करने के अलावा हमारे सामने और कोई रास्ता नहीं है। सच तो यह है कि हमारे लिए अब यह जरूरी हो गया है कि तेजगति से प्रौद्योगिकीय विकास का तरीका अख्तियार किया जाए ताकि विकासशीलता का ऐतिहासिक पिछड़ापन कम करके अपने को विकसित देशों के समकक्ष लाया जा सके।

इस प्रकार की प्रक्रिया को तेज करने के लिए अनुसंधान कार्य प्रमुख उपकरण का काम करता है। अध्यापक इस काम को कई तरह से संपन्न करता है :

पहला, संकाय का कोई सदस्य अपने अध्यापक जीवन के प्रारंभ में अक्सर पी-एच. डी. के अनुसंधान काम में लगता है। कहना चाहिए कि इस समय वह एक प्रकार से प्रशिक्षार्थी होता है। एक कुशल प्रशासक की देखरेख में वह अपने पेशे को समझता-सीखता है। इस दौरान कई लोगों के साथ मिलकर वह एक दल के सदस्य के रूप में काम कर रहा होता है। गौर करने की बात यह है कि पी-एच. डी. की उपाधि आगे अनुसंधान के लिए जरूरी प्रशिक्षण का काम करती है इसलिए इसे अनुसंधान के जीवन का अंतिम पड़ाव नहीं बल्कि आरंभिक बिंदु माना जाना चाहिए।

दूसरा, इसके बाद विश्वविद्यालय में कार्यरत प्राध्यापक के रूप में एक तरफ तो वह बाद की उपाधि संबंधी अनुसंधान की तरफ अग्रसर होता है और दूसरी ओर युवा अनुसंधानकर्ताओं को दिशा निर्देश भी देता है।

तीसरा, अपनी रुचि के विषय में पर्याप्त दक्षता हासिल कर लेने के बाद संकाय सदस्य राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों द्वारा प्रायोजित अनुसंधान परियोजनाएं हाथ में लेता है और इन परियोजनाओं की समस्याओं को हल करने में वह दल के नायक की भूमिका अदा करता है। यह कतई जरूरी नहीं है कि अनुसंधान परियोजनाएं विशालकाय और खर्चीली हों, जिनमें अधिक धन की और जटिल उपकरणों की आवश्यकता पड़ती हो। अध्यापक के लिए स्थानीय अथवा क्षेत्रीय समस्याओं से संबंधित छोटी-छोटी परियोजनाएं भी सार्थक अनुसंधानात्मक गतिविधि मानी जा सकती है।

अनुसंधान कार्य के जिन तीन तरीकों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके नतीजे आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिए शिक्षक समुदाय को उपलब्ध कराए जाने चाहिए। यदि प्रकाशन के पहले ही किसी खोज परिणाम का विशेषज्ञ द्वारा मूल्यांकन किया जा चुका है (जिसके शोध पत्र बड़ी पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हों) और जिसका मूल्यांकन उस विषय के सभी विद्वानों ने किया हो, तो ऐसी सामग्री प्रकाशित होने के बाद मानवज्ञान के विशाल भंडार की अमूल्य निधि बनकर जीवित रहती है। इस भूमण्डल पर अज्ञात से ज्ञात की ओर जाने का यह सामग्री अगला कदम होती है।

‘रॉबिंस कमिटी रिपोर्ट’ में ‘अनुसंधान’ को व्यापक अर्थ प्रदान करने पर जोर दिया गया था। ट्राऊ तथा फॉल्टन जैसे शिक्षाविदों ने संकेत किया है कि प्रकाशन अनुसंधान

कार्य का जहां एक महत्वपूर्ण सूचक है, वहीं किसी भी रूप में इसे एकमात्र सूचक नहीं माना जा सकता है।

अनुसंधान और शिक्षण कार्य एक दूसरे को बल प्रदान करते हैं। इन दोनों के बीच कोई विरोध नहीं होता। यह बात इस तथ्य से विशेष रूप से जाहिर होती है कि अध्यापक जो भी नया ज्ञान प्राप्त करता है, उसके शिक्षण में तत्काल उस ज्ञान का समावेश हो जाता है। इस प्रकार उसकी खोज के प्रकाशित होकर दूसरों को उपलब्ध होने के काफी पहले से ही उसके विद्यार्थी उससे लाभान्वित होते हैं। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि अपने विषय के सीमित दायरे में अध्यापक को अपने अनुसंधान को बांध कर नहीं रखना चाहिए। उसे अपने ज्ञान के क्षितिज को व्यापक बनाना चाहिए। शिक्षण पद्धतियों और प्रौद्योगिकी के विस्तार और विकास के लिए भी उसे अनुसंधान करना चाहिए ताकि अध्यापन कार्य सुचारु रूप से संपन्न किया जा सके।

किसी देश के सारे अनुसंधान प्रयास जहां उसे आत्मनिर्भर बनाने में योगदान करते हैं, उस देश में विश्वविद्यालय के अनुसंधान का विशेष महत्व होता है। निजी क्षेत्र में किया जानेवाला अनुसंधान किसी खास औद्योगिक घराने अथवा उद्योग समूह के अधिकतम लाभ को ध्यान में रखकर चलाया जाता है। इस तरह के उद्योग समूह के तत्वावधान में होनेवाला अनुसंधान प्रायः लाभ के उद्देश्य से ही आच्छादित रहता है। औद्योगिक घरानों के मामलों में नकारात्मक प्रभाव विशेष रूप से दुर्बल हो जाता है, खासतौर से तब जब ये उद्योग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से बहुराष्ट्रीय निगमों से जुड़े हों। सरकारी नियंत्रणवाली संस्थाओं और प्रयोगशालाओं में चलनेवाले अनुसंधान का झुकाव (दिशा चाहे भले न बदले) सरकारी हलकों में प्रचलित विचारों को ही रेखांकित करने की ओर होता है। विश्वविद्यालय में हो रहे अनुसंधान में इन दोनों ही खतरों से बचने की गुंजाइश बनी रहती है। इसका प्रक्षेप तीन प्रमुख कारकों द्वारा निर्धारित होता है : पहला, क्षेत्र विशेष में पहले से किए जा रहे अनुसंधान की तर्कपद्धति की आंतरिक ताकत; दूसरा विश्वविद्यालय के भीतर भावी मुद्दों पर अनुसंधान के नतीजों का असर ; और तीसरा सामाजिक परिवेश का दबाव। ऊपर की बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जहां सारा का सारा अनुसंधान, विशेष रूप से बौद्धिक और प्रौद्योगिकीय आत्मनिर्भरता की दृष्टि से काफी महत्व रखता है। यदि हम तीन स्तरों वाली अनुसंधान की गतिविधियों के संदर्भ में देखें तो विश्वविद्यालय संकाय द्वारा किए जानेवाले अनुसंधान कार्य का निर्णायक महत्व प्रकाश में आता है। समस्याओं के वैशिष्ट्य को मात्रा और कार्यान्मुखता के संदर्भ में देखने पर इनमें अंतर होगा। पहला, कुछ महान् उद्देश्यों को लेकर किए जानेवाले कार्य जैसे हरिद्वार में गंगा के शुद्धीकरण की परियोजना अथवा सबको साक्षर बनाने का कार्यक्रम। इस प्रकार की कार्यान्मुखी अनुसंधान परियोजना में विश्वविद्यालयों को लगना चाहिए लेकिन इसमें उनकी भूमिका मूलतः भागीदारों की होगी। सरकार तथा उससे संबद्ध स्वैच्छिक संगठन इस प्रकार के कार्य में प्रमुख भूमिका अदा करते हैं। दूसरा, महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अनुसंधान करने की क्षमता निर्माण काम भी

अभी शेष है। उदाहरण के लिए वर्तमान चरण में जिन थोड़े से महत्वपूर्ण क्षेत्रों की पहचान की गई है, उनमें बायो-प्रौद्योगिकी, जेनेटिक इंजीनियरिंग, इलेक्ट्रॉनिक्स, नाभिकीय विज्ञान, अंतरिक्ष विज्ञान और गैरपरंपरागत ऊर्जा के स्रोत हैं। महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अनुसंधान क्षमता के विकास की दृष्टि से विश्वविद्यालय का अनुसंधान काफी महत्व रखता है। इसलिए जरूरी है कि इस स्तर पर विश्वविद्यालय अनुसंधान का सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्र के अनुसंधान के साथ तालमेल होना चाहिए ताकि राष्ट्रीय स्तर पर अनुसंधानप्रणाली का विकास किया जा सके, जहां हर उपक्षेत्र एक दूसरे के प्रयासों को सुदृढ़ कर सके। तीसरा, इस प्रकार के अनुसंधान को शून्याकाश का अनुसंधान कहा गया है। इसमें छने हुए को छाना जाता है, अमूर्तन का अमूर्तन होता है। यही वह क्षेत्र है जिसमें विश्वविद्यालय अनुसंधान अपने वास्तविक रूप में प्रकट होता है। इसमें उसका एक क्षेत्र राज्य होता है। यह दुर्भाग्य-की बात है कि इस स्तर के अनुसंधान के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं उपलब्ध कराए जा रहे हैं। यह अत्यंत अदूरदर्शी दृष्टिकोण है क्योंकि ऐतिहासिक अनुभव स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि जहां व्यावहारिक अनुसंधान सुधार की अगुवाई करता है, मूलगामी अनुसंधान क्रांति की ओर ले जाता है।

विस्तार कार्य और समुदाय की सेवा

प्राचीन और मध्यकालीन शिक्षा-सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित थे कि जो लोग काम करते हैं, उनको सोचना नहीं चाहिए और जो सोचते हैं, उनको काम नहीं करना चाहिए। चिंतन काम को कमजोर करता है और काम करने से चिंतन की शुद्धता को बट्टा लगता है। ब्राह्मण को हल की मूठ नहीं पकड़नी चाहिए और शूद्र को वेदों को हाथ लगाने का अधिकार नहीं है। उस काल में चिंतन ज्ञान का एकमात्र स्रोत था और इसको पाने का सर्वोत्तम मार्ग हिमालय की कंदराओं में जाकर निवास करना था अथवा जंगल के निर्जन स्थान में किसी वट वृक्ष के नीचे तप करना था। यही निर्वाण का मार्ग था, वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि थी।

विश्वविद्यालय के संदर्भ में यह बात खासतौर से सच थी। इनको हाथी दांत की मीनार माना जाता था। इन विश्वविद्यालयों में समाज से कटे हुए बड़े-बड़े पंडित विश्व की समस्याओं को लेकर चिंतन में डूबे रहते थे। विद्या-व्यसनी लोगों के बीच सुरक्षित चहारदीवारी में बंद होकर वे आसानी से जीवन चला सकते थे क्योंकि उस जमाने में अपने स्वरूप के कारण उच्च शिक्षा समाज के मुट्ठी भर अभिजन लोगों की बौद्धिक संपत्ति मानी जाती थी। यह वर्ग अपेक्षाकृत स्थिर ज्ञान की संचित राशि को अभिजात वर्ग की अगली पीढ़ी को, बिना यथार्थ से उनका साक्षात्कार कराए, हस्तांतरित किया करता था। यहां तक कि जो लोग ज्ञान के सृजन में संलग्न थे, वे भी समाज के लिए ज्ञान की प्रासंगिकता को लेकर चिंतित नहीं थे। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि उस समय विस्तार कार्य को विश्वविद्यालयों में महत्वपूर्ण काम नहीं

समझा जाता था। वास्तविकता यह थी कि 'उपाधि' और विश्वविद्यालय परिसर को अन्य लोगों के बुरे प्रभावों से बचाए रखने की कोशिश की जाती थी। यह कदम काफी स्वागत योग्य है कि अब उच्च शिक्षा में विस्तार कार्य (एक्स्टेंशन वर्क) को अध्यापक का महत्वपूर्ण काम माना जाता है, और अब तो इसे इतना अधिक महत्व दिया गया है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने महत्व की दृष्टि से अध्यापन और अनुसंधान के बाद अध्यापक के लिए इसे तीसरे स्थान पर रखा है।

शिक्षा के आधुनिक सिद्धांत सीखने की क्रिया में सामाजिक संदर्भ की महत्वपूर्ण भूमिका को अब स्वीकार करने लगे हैं। जो कृषि-अर्थशास्त्री दोमट और चिकनी मिट्टी में फर्क नहीं कर सकता है अथवा जो ग्रामीण समाजशास्त्रवेत्ता गेहूं और जौ में अंतर नहीं कर सकता, वह अपेक्षाकृत घटिया किस्म का अर्थशास्त्री या समाजशास्त्री माना जाएगा। संपर्क के जरिए सामाजिक यथार्थ से सीखनेवाले का रागात्मक लगाव अधिगम (लर्निंग) का जरूरी तत्त्व है। मात्र समाज सेवा की दृष्टि से विस्तार कार्य को महत्वपूर्ण नहीं माना जाना चाहिए, बल्कि विश्वविद्यालयों के छात्र और अध्यापक दोनों के लिए सीखने की यह एक कारगर युक्ति भी है। ज्ञान के विस्फोट की हम बात करते हैं, इस संदर्भ में विशेष रूप से यह सच है कि हम शिक्षा की दिशा को 'क्या' की जगह 'कैसे' की ओर मोड़े। नई परिस्थिति का तकाजा है कि छात्र को दिया जानेवाला ज्ञान सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से भी सार्थक हो और कक्षा की बंद दीवारों के बाहर के यथार्थ से भी छात्रों का परिचय कराया जाए। विस्तार कार्य की विभिन्न गतिविधियों के जरिए ही अध्यापक शिक्षण और अधिगम में यह नया आयाम जोड़ने में समर्थ हो सकता है, जो अतीत काल की शिक्षा में गायब था।

सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रीय विकास में उच्च शिक्षा को जो भूमिका सौंपी गई है, सकारात्मक रूप में उससे यह बात सामने आती है कि वह अपने को विस्तार कार्य में लगाए, जहां अपने ज्ञान को समाज सेवा में लगाने का उसे अवसर मिलता है। उच्च शिक्षा की लागत बहुत अधिक है। उच्च शिक्षा की बढ़ती मांग के साथ राष्ट्रीय जीवन के इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में जनता के पैसे का काफी बड़ा हिस्सा खर्च किया जाता है। यदि समाज अपने संसाधनों का काफी बड़ा भाग उच्च शिक्षा में लगाना चाहता है, तो ईमानदारी का यह तकाजा है कि इसके बदले उच्च शिक्षा सामाजिक जरूरतों को पूरा करने के लिए अपने को समर्पित करे। इसी संदर्भ में यह बात महत्वपूर्ण है कि उच्च शिक्षा के संस्थानों और समुदाय के बीच संपर्क कायम किया जाए ताकि दोनों को लाभ पहुंचे। अर्थात् समुदाय इन संस्थाओं में उपलब्ध विशेषज्ञता का लाभ उठाए और शिक्षक तथा छात्र सामाजिक यथार्थ और व्यावहारिक दुनिया से निकट संपर्क कायम कर लाभान्वित हों।

गौर करने की बात है कि विस्तार कार्य की गतिविधि अध्यापक के लिए अनेक कार्यों में से मात्र एक और कार्य नहीं है। विस्तार कार्य में उसकी भागीदारी के द्वारा ही अध्यापन और अनुसंधान में अध्यापक का कार्य निष्पादन अधिक सार्थकता प्राप्त

करता है। दूसरे शब्दों में विस्तार कार्य ऐसी गतिविधि नहीं है जिसे हाशिए पर रखा जाए बल्कि इसको शिक्षा के एकदम केंद्र में रखने की जरूरत है।

विस्तार कार्य के अनेक रूप हो सकते हैं। कभी-कभी इसको सिर्फ सामाजिक या राष्ट्रीय सेवा माना जाता है, ऐसी सेवा जिसे अनेक प्रकार के कार्यक्रमों द्वारा संपन्न किया जाता है, जिनके जरिए अध्यापकों और छात्रों को राष्ट्र की विभिन्न सेवाओं में शामिल होने का मौका मिलता है। इस प्रकार राष्ट्रीय सेवा योजना (एन. एस. एस.), राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, सूखा या बाढ़ राहत कार्यक्रम, वृक्षारोपण कार्यक्रम इत्यादि अध्यापकों और विद्यार्थियों को ऐसे अवसर उपलब्ध कराते हैं कि वे समुदाय की सेवा कर सकें। लेकिन याद रखना चाहिए कि इस प्रकार के कार्यक्रमों में उपयोगी काम करने पर ही जोर नहीं डालना चाहिए बल्कि भाग लेने से भी सीखने को जो कुछ मिलता है, उस पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए।

कुछ कृषि विश्वविद्यालयों में विस्तार कार्य के क्षेत्र में अध्यापकों ने मार्गदर्शी कार्य संपन्न किए हैं। जहां दूसरी संस्थाओं में अध्यापकों के इस प्रकार के काम की पूरी तरह नकल करना संभव नहीं है, लेकिन कुछ विशेष समस्याओं के संदर्भ में थोड़ा फेरबदल के साथ इसको हम लागू कर सकते हैं और उच्च अध्ययन की अन्य संस्थाओं में भी इनका उपयोग हो सकता है, जहां अध्यापकों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। यह सोच कर कि कालेज तो सारे देश में व्यापक पैमाने पर फेले हुए हैं, कालेज के अध्यापकों के लिए विस्तार कार्य विशेष रूप से उपयोगी साबित हो सकता है। उनके पास अनेक विषयों की जानकारी रखनेवाला कार्यदल है, पुस्तकालय और प्रयोगशाला जैसी सुविधाएं हैं और इसलिए यदि आवश्यक हुआ और कुछ सुविधाएं दी गईं तो स्थानीय या जनपदीय स्तर पर विकास की गतिविधियों की योजना बनाने और उनके कार्यान्वयन में कालेज संसाधन केंद्र का काम कर सकते हैं। न सिर्फ समुदाय के लिए यह काफी फायदेमंद होगा बल्कि स्थानीय रोजगार बाजार से संपर्क कायम करने में इससे कालेज को मदद मिलेगी और कालेज के पाठ्यक्रम को रोजगारोन्मुखी बनाने में इससे ताकत मिलेगी। सामाजिक परिवर्तन और विकास की स्थानीय समस्याओं के निदान की दिशा में भी अनुसंधान की गतिविधियों को अग्रसर किया जा सकता है और उनको हल करने के लिए उपाय भी सुझाए जा सकते हैं। छात्रों की मदद से या मदद के बिना भी अध्यापक सार्थक तरीके से अपने को अनुसंधान कार्य में लगा सकते हैं। वे विशेष क्षेत्र की समस्याओं और संसाधन क्षमता के बारे में अधिकाधिक जानकारी एकत्र कर सकते हैं। कालेज स्तर पर इसको संसाधन केंद्र के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। व्यष्टि स्तर (गांव, प्रखण्ड आदि) पर विकास की गतिविधियों को कार्यान्वित करनेवाली तथा योजना तैयार करनेवाली विकास एजेंसियां (अभिकरण) भी इसका उपयोग कर सकती हैं।

संसाधनों की बर्बादी तथा प्रयासों की अनावश्यक पुनरावृत्ति से बचने के लिए यह बात महत्वपूर्ण है कि विस्तार कार्य के क्षेत्र में विभिन्न विभागों/अध्यापकों के काम

से सही ढंग से तालमेल रखा जाए। विस्तार कार्य में अन्य कामों की तुलना में तालमेल अधिक महत्वपूर्ण होता है। जैसे अध्यापन और अनुसंधान में व्यक्तिगत स्तर पर अध्यापक अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र रूप से अकेले भी काम कर सकता है। विस्तार कार्य का तकाजा है कि तालमेल रखनेवाली एजेंसियां स्थापित की जाएं। विस्तार कार्य में लगे व्यक्तियों और संस्थाओं के बीच संपर्क सूत्र बनाना और तालमेल कायम करना इनका मुख्य कार्य हो।

इस बात पर बल देना आवश्यक है कि उच्च शिक्षा के किसी संस्थान में कोई बाहरी सामाजिक कार्यकर्ता नहीं बल्कि अध्यापक तालमेल कायम करने और नेतृत्व प्रदान करने का काम करे। कोई और नहीं बल्कि अध्यापक ऐसा व्यक्ति है कि वह छात्रों को जो विषय पढ़ाता है, उस विषय के सिद्धांतों को व्यावहारिक धरातल पर विस्तार कार्य से संबद्ध कर सकता है, ताकि छात्र की समझ और सुदृढ़ हो सके और उस पर विशेष बल दिया जा सके। इस प्रकार का काम शिक्षक को काफी उपयोगी लगेगा। इसलिए कि वह ज्ञान का उत्पादन कर सकेगा और जिस समाज में वह रह रहा है, उस समाज के लिए उसके द्वारा उत्पादित ज्ञान उपयोगी होगा। विस्तार कार्य के एक महत्वपूर्ण लेकिन उपेक्षित पहलू का संबंध उच्च शिक्षा संस्थाओं और स्कूलों का पारस्परिक संबंध है। यह इस अर्थ में विशेष महत्वपूर्ण है कि परवर्ती का निर्गत (आउटपुट) पूर्ववर्ती के लिए आगत (इनपुट) होता है। उच्च शिक्षण संस्थाओं के अध्यापक स्कूलों के अध्यापकों के ज्ञान के आधार को सुदृढ़ तथा अद्यतन बनाने के लिए अभिविन्यास (ओरिएंटेशन) कार्यक्रम आयोजित कर सकते हैं। शिक्षण और मूल्यांकन की नवाचारी पद्धतियों के इस्तेमाल में उनको प्रशिक्षित भी किया जा सकता है। इस प्रकार एक विकासशील देश में उच्च शिक्षा के संस्थान देश की समूची शिक्षाव्यवस्था के लिए प्रेरणा केंद्र हो सकते हैं।

कक्षा के बाहर दिए गए व्याख्यान और लोकप्रिय लेखन भी विस्तार कार्य की परिधि में आते हैं। इनके माध्यम से अध्यापक अपने विशिष्ट क्षेत्र के ज्ञान का व्यापक प्रसार करता है और साथ में राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृति और कतिपय वांछित मूल्यों को बढ़ावा भी देता है। राष्ट्रीय स्तर के ये स्वीकृत मूल्य हैं : लोकतंत्र और सामाजिक न्याय, धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवतावाद, प्रकृति के साथ सामंजस्य और उस समुदाय के साथ जिसमें वह रहता है, उन छात्रों के साथ जिनके संग वह पढ़ता है और शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में जिनके साथ उसका संपर्क है।

परामर्श कार्य को भी विस्तार कार्य का एक रूप माना जा सकता है। अपेक्षाकृत सीमित पैमाने पर, खासतौर पर प्रबंध और इंजीनियरिंग के अध्यापकों द्वारा इसका व्यवहार होता है, वह भी निजी क्षेत्र के लाभ के लिए किया जाता है। इस बात की सख्त आवश्यकता है कि या तो व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से छोटे उत्पादकों और सरकारी संस्थाओं को बड़े पैमाने पर परामर्श देने का काम करें।

उच्च शिक्षा में लगा हुआ अध्यापक तरह-तरह की गतिविधियों द्वारा विस्तार कार्य

में योगदान कर सकता है। अपने आपमें वह इस बात का उदाहरण है कि उसका पेशा कितना जटिल और समय साध्य है। विस्तार कार्य का निष्पादन भी अध्यापक के लिए ज्यादा नहीं तो उतनी ही लगन की मांग करता है जितने उसके अन्य दो कार्य अर्थात् अध्यापन और अनुसंधान। दुर्भाग्यवश विस्तार कार्य में अध्यापक के योगदान की अक्सर अपेक्षा की जाती है, विशेष रूप से उस समय जब उसके कार्य निष्पादन का आकलन किया जाता है तथा उसे तरक्की देने के अवसर पर विचार किया जाता है। यह जरूरी है कि अध्यापक के विस्तार कार्य को भी उचित महत्व दिया जाए। ऐसा करने के बाद ही अध्यापक विस्तार कार्य को गंभीरता से लेगा और तभी राष्ट्रीय विकास और सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य को आगे बढ़ाने में उच्च शिक्षा का सही योगदान होगा।

व्यवस्था का संचालन

ऊपर जिन कामों का उल्लेख किया गया है, संकाय के लोग उन कामों को विश्वविद्यालय में ही करते हैं। एक समुदाय के रूप में विश्वविद्यालय सुपरिभाषित बहुस्तरीय व्यवस्था है और इसकी कुछ खास विशेषताएं हैं। यह असमानों का लोकतंत्र है जो मतभेद और अनुशासन के विवेकपूर्ण समन्वयक द्वारा कार्य करता है और इसके विकास का वक्र स्वायत्तता और दायित्व के विरोधी दबावों से निर्धारित होता है। सार रूप में कहें तो यह स्वनिर्वाचित आत्मशोधी प्रणाली है। इसकी जड़ें सामाजिक आचार में गहराई तक पहुंची होती हैं।

स्वतंत्र भारत में औपनिवेशिक उत्तराधिकार में प्राप्त विश्वविद्यालय प्रशासन की कमियां धीरे-धीरे स्पष्ट होती चली गईं और अब विश्वविद्यालय प्रशासन को ठीक तरह से चलाने में इनका दबाव महसूस किया जाने लगा है। ये कमियां उच्च शिक्षा के प्रशासनिक ढांचे में सार्थक परिवर्तन और स्वतःसुधार के रास्ते में भी बाधक हैं। नियंत्रण और संचालन, नियमों और विनियमों, कानूनों और अध्यादेशों, परंपराओं और प्रथाओं का विकास विकसित देशों में हुआ था। सामाजिक विकास और रूपांतरण के दौरान उपजे विरोधी दबावों और तनावों के कारण इनको बनाया गया था। विरूपताओं को दूर करके एक गतिशील संतुलन में स्वतः कार्यान्वयन की यह प्रक्रिया भारत जैसे औपनिवेशिक अतीतवाले मुल्क में या तो नदारद थी अथवा इनका विकास ही बहुत कमजोर तरीके से हुआ था। विश्वविद्यालय प्रशासन की कमजोरियों की जड़ें इतिहास की कमजोरियों में निहित हैं। इस बात की सचाई में कोई शक नहीं है कि स्वतंत्रता के बाद से विश्वविद्यालय की व्यवस्था में अनेक सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं और कई अर्थों में तो प्रशासन को सामाजिक-आर्थिक बदलावों के अनुरूप ढाला गया है लेकिन अभी भी अनेक सीमाएं बरकरार हैं।

उच्च शिक्षा की प्रबंधव्यवस्था में स्वतंत्रता के बाद तीखा होकर जो आधारभूत अंतर्विरोध उभरा है, वह है स्वायत्तता और दायित्व के बीच अंतर्विरोध। इस बात को

148 शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

दर्शनी के पर्याप्त प्रमाण हैं कि इनमें से किसी एक के साथ निष्ठावान बनने की खोज के चलते एक ओर काम के प्रति दायित्वबोध की भावना क्षीण हुई है और दूसरी ओर भयानक कानूनों का जन्म हुआ है। इन कानूनों के चलते विश्वविद्यालय सरकारी विभागों में रूपांतरित होते चले गए हैं और अध्यापकों को उनके अकादमिक या राजनीतिक विचारों के लिए दंडित किया गया है। यह बात हमारी दृष्टि से परे हो गई है कि स्वायत्तता और दायित्व दोनों ही व्यवस्था के दो पहलू हैं। अपने विभाग के संदर्भ में अध्यापक स्वतंत्र है लेकिन उसके प्रति उसका दायित्व भी है। इस तरह विभाग अपने संकाय के संदर्भ में स्वायत्त है और इसके प्रति उत्तरदायी भी है। संकाय विश्वविद्यालय के संदर्भ में स्वायत्त है लेकिन इसके प्रति दायित्वमुक्त नहीं है। इस प्रकार सरकार के संदर्भ में विश्वविद्यालय समुदाय स्वायत्त है लेकिन सरकार के प्रति वह उत्तरदायी भी है। वस्तुतः स्वायत्तता और दायित्व लोकतांत्रिक क्रियाविधि के एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। इसमें स्वतः आगे बढ़ने, स्वतः काम करने तथा स्वतः सुधार के तत्त्व कार्य करते रहते हैं। दायित्व बोध के बिना स्वायत्तता की परिकल्पना संभव नहीं है। यंत्रमानव (रोबोट) को तो आप देखिए, वह न तो स्वायत्त होता है और न ही दायित्वबोध संपन्न, लेकिन इस धरती का मानव दोनों है।

भारत की उच्च शिक्षाव्यवस्था में अब इस बात की आवश्यकता पैदा हो गई है कि विरोध और अनुशासन के बीच संतुलन कायम किया जाए। ये दोनों ही बातें उच्च शैक्षिक प्रक्रिया की आचार भावना के अनिवार्य अंग हैं। जहां अनुशासन ऐसा उपाय है जिसके जरिए व्यवस्था चलती रहती है, वहीं विरोध परिवर्तन और नवाचार का वाहक है। बिना विरोधी विचार के अनुशासन का मतलब सैनिकतंत्र हो जाता है और विरोधी विचार के बिना अनुशासन अराजकता का सूचक होता है। भारतीय उच्च शिक्षा में हमारी प्रवृत्ति दो अतिवादों की तरफ बढ़ने की बनती जा रही है और दोनों का विवेक सम्मत सामंजस्य अभी भी हमारे लिए मृग-मरीचिका बना हुआ है।

ऊपर के विवेचन से यह बात जाहिर होती है कि विश्वविद्यालय को व्यवस्था के रूप में चलाने का काम नौकरशाहों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है जो इसके परिवेश से कतई वाकिफ नहीं हैं। व्यवस्था या प्रणाली के रूप में शिक्षण संस्थाओं की विशेष प्रकृति को देखते हुए, समूचे विश्व में शिक्षकों के लिए जरूरी हो गया है कि व्यवस्था का संचालन वे अपने हाथ में लें और इस काम में वे अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाएं। व्यवस्था को संचालित करनेवाले महत्वपूर्ण पदों के नाम हैं : कुलपति, उपकुलपति, निदेशक, प्राचार्य और रेक्टर आदि। अपने कार्यकाल के दौरान इन पदों पर थोड़ी अवधि के लिए अध्यापकों की पूर्णकालिक नियुक्ति होती है। शिक्षा के तृतीयक स्तर पर अलग-अलग हैसियत के कुछ पदों की काफी बड़ी संख्या खाली होती है, जैसे विभागाध्यक्ष, संकायाध्यक्ष आदि। ये पद अंशकालिक होते हैं। अपने सेवाकाल के दौरान लगभग प्रत्येक अध्यापक इनमें से कोई न कोई दायित्व, किसी न किसी समय जरूर सम्हालता है। इन सबके ऊपर परिषदों और समितियों का जटिल तंत्र होता है। इनके

माध्यम से निर्णय की प्रक्रिया संपन्न होती है। छात्रों के जीवन को संगठित करने के संदर्भ में प्रशासनिक दायित्व का विशेष रूप से महत्त्व होता है। छात्रों के जीवन के समग्र विकास में अध्यापकों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सहवर्ती क्रियाओं, पाठ्येतर गतिविधियों और अनुशासन बनाए रखने के लिए छात्रों को समय-समय पर परामर्श देकर अध्यापक यह दायित्व संपन्न करते हैं।

कुछ प्रशासनिक दायित्व भी हैं। अध्यापकों से उम्मीद की जाती है कि इनमें उनकी भागीदारी होगी। उदाहरण के लिए अन्य शैक्षिक संस्थाओं की कार्यकारी निकायों की सदस्यता या विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग (भारत सरकार) जैसे स्वायत्त संगठनों के विभिन्न विषयों के पैनल की सदस्यता, योजना आयोग की सलाहकार समिति की सदस्यता अथवा केंद्र और राज्य सरकारों के विभिन्न मंत्रालयों की समितियों की सदस्यता या विज्ञान कांग्रेस, भारतीय इतिहास कांग्रेस जैसे संगठनों के पद अथवा अध्यापक संघ जैसे संगठनों के पद।

कार्यों की यह सूची बहुत बड़ी है। यह सच है कि कोई भी अध्यापक अकेले ये सारे काम नहीं करता है लेकिन यह भी उतना ही सच है कि कोई भी अध्यापक इनसे एकदम बचकर निकल भी नहीं सकता। विद्वत् समुदाय के सजग सदस्य के रूप में अध्यापक जो भूमिका अदा करता है, वह मुख्य रूप से उसके व्यक्तित्व के स्वरूप तथा संस्था की परंपराओं पर निर्भर करता है। शिक्षण और अनुसंधान जैसे अपने प्रमुख दायित्व का निर्वाह करते हुए, बिना किसी गंभीर बाधा के अपनी संस्था, अपने व्यवसाय, अपने समुदाय और अपने छात्रों के प्रति हर अध्यापक का यह दायित्व है कि वह उपर्युक्त बातों का निर्वाह करें।

कार्य-निष्पादन का स्वमूल्यांकन

कार्य-निष्पादन (वर्क परफॉर्मेंस) का स्वमूल्यांकन बौद्धिक कायाकल्प की अनवरत प्रक्रिया का न सिर्फ जरूरी तत्त्व है बल्कि अपने पेशे में आगे बढ़ने के लिए यह आंकड़ों का आधार भी उपलब्ध कराता है। इस महत्वपूर्ण प्रक्रिया को काम में लाने संबंधी खूबियों और पद्धतियों की ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए दुर्भाग्यवश उतना दिया नहीं गया है। स्पष्ट कारणों से उच्च शिक्षा के मिजाज में सचिवालय की गोपनीय रिपोर्टवाली संस्कृति पूरी तरह दुष्क्रियात्मक साबित हो चुकी है। अध्यापक की क्षमताओं तथा उसके निष्पादन का स्तर सुधारने के लिए अपनी खामी और खूबी, अपनी उपलब्धि और अभाव का एहसास जरूरी और पूर्वशर्त है। अध्यापक द्वारा संपन्न किए गए उपर्युक्त बहुमुखी कार्यों के संदर्भ में अध्यापक के मूल्यांकन का आधार स्वमूल्यांक को समझना चाहिए।

लेकिन यह बात गौर करने की है कि यदि स्वमूल्यांकन को औपचारिक कर्मकांड बनने से बचाना है तो बहुत सावधानी से इसकी योजना तैयार करनी होगी और धीरे-धीरे परिश्रमपूर्वक इसको क्रियाशील करना होगा जैसा कि नीचे दिया गया है।

(i) **पूरे सत्र/सेमेस्टर के लिए अग्रिम योजना :** हर अध्यापक से अनुरोध किया जाना चाहिए कि सेमेस्टर के मुताबिक वह अपने अकादमिक कार्य की योजना बनाकर अथवा पूरे सत्र की योजना बनाकर विभागाध्यक्ष अथवा संस्था के प्रमुख के पास जमा करें। यह कार्य सत्रारंभ या सेमेस्टर शुरू होने से पहले होना चाहिए। प्रत्येक कार्य-दिवस के मुताबिक यह योजना बननी चाहिए और इसमें व्याख्यान, ट्यूटोरियल तथा प्रयोगात्मक कार्य शामिल होना चाहिए। यदि संभव हो तो इसे छात्रों में भी वितरित किया जाना चाहिए।

(ii) **अध्यापकों के समस्त योगदान का लेखा :** अध्यापक स्वयं यह काम अत्यंत प्रभावशाली तरीके से कर सकता है। मेरा सुझाव है कि हर अध्यापक के पास एक रजिस्टर होना चाहिए जिसमें अपनी रोजमर्रा की गतिविधियों का वह लेखा रख सके, विशेष रूप से अध्यापन कार्य के लिए यह काफी महत्वपूर्ण है।

(iii) **संचारेक्षण (मॉनिटरिंग) :** यह आवश्यक कि अध्यापकों के साथ विचार विमर्श करके काम की निगरानी का कोई रास्ता निकाला जाए। इस निगरानी या संचारेक्षण का उद्देश्य यह होना चाहिए कि सत्र अथवा सेमेस्टर के शुरू में अध्यापक ने जो कार्ययोजना बना कर दी है, उस अध्यापक का कार्य उसके अनुसार चल रहा है अथवा नहीं। कक्षाएं नियमित रूप से चलती रहें, इस बात पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। हाजिरी रजिस्टर के मुताबिक दुरुस्त तरीके से हाजिरी ली जानी चाहिए। इस काम को औपचारिक तरीके से नहीं किया जाना चाहिए। ऐसा सुझाया गया है कि प्रत्येक सप्ताह के अंत में हाजिरी रजिस्टर को कार्यालय में जमा कर दिया जाना चाहिए। और उसमें दर्ज सूचना की मदद से अगले सप्ताह में गलतियों अथवा कमी में सुधार किया जाना चाहिए।

(iv) **स्वमूल्यांकन :** प्रत्येक सत्र अथवा सेमेस्टर के समाप्त होने पर हर अध्यापक को अपने कार्य निष्पादन (परफॉर्मंस) का स्वमूल्यांकन करना चाहिए। अध्यापक ने जो कुछ किया है, उसे शामिल करके अपना मूल्यांकन करना चाहिए। नीचे एक रूपरेखा दी जा रही है जो स्वमूल्यांकन के लिए उपयोगी हो सकती है :

कालेज प्राध्यापकों के लिए स्वमूल्यांकन फार्म

(क) परिचय

नाम

जन्मतिथि

पद

केतनमान

वर्तमान केतन

नियुक्ति की तिथि

(i) शिक्षक के रूप में

(ii) वर्तमान संस्था में शिक्षक के रूप में

(ख) शिक्षण कार्य

(1) पाठ्यक्रम जिसे शिक्षक ने पढ़ाया है,

पाठ्यक्रम के शीर्षक प्रति सप्ताह काम के घंटों की संख्या

(घंटा =मिनट) व्याख्यान, ट्यूटोरियल, प्रयोगात्मक = कुल योग

(i)

(ii)

(iii)

(2) क्या अध्यापक ने सत्र/सेमेस्टर के अनुसार उपर्युक्त पाठ्यक्रम (व्याख्यान, ट्यूटोरियल प्रयोगात्मक कार्य) की योजना पहले से वितरित कर रखी थी (यदि हां, तो उसकी एक प्रति संलग्न करें।)

(3) क्या अध्यापक ने छात्रों में उपर्युक्त पाठ्यक्रम संबंधी अपने व्याख्यान की रूपरेखा वितरित की थी (यदि हां, तो रूपरेखा की एक प्रति संलग्न करें)

(4) प्रत्येक पाठ्यक्रम के लिए ली गई कक्षाएं :

(i) कार्य सूची में रखे गए कुल घंटों की संख्या.....

(180 शिक्षण दिवस के आधार पर)

(ii) वास्तव में कितने घण्टे पढ़ाई हुई.....

(iii) अंतर के कारण.....

(अ) अध्यापक का अवकाश पर होना.....

(ब) संस्था में परेशानी के कारण कक्षाएं नहीं लगीं.....

(जैसे हड़ताल, प्रवेशपरीक्षाएं, उत्सव आदि)

(iv) इस अंतराल को पूरा करने के लिए क्या कदम उठाए गए

(मसलन अतिरिक्त कक्षाएं लगाना आदि)

(5) अध्यापक ने जो पाठ्यक्रम पढ़ाया उसका पाठ्यक्रमवार परीक्षा फल

(6) छात्रों के लिए तैयार की गई और उनमें वितरित की गई पाठ्य सामग्री का विस्तृत विवरण

(7) अध्यापक द्वारा पाठ्यक्रम कोई नवाचार

(8) शिक्षण पद्धति में नवाचार

(ग) छात्रों के कार्य निष्पादन का मूल्यांकन

- (अ) सत्र के कार्य का मूल्यांकन
- (ब) मध्य सत्र की परीक्षा का मूल्यांकन
- (स) छात्रों के प्रकल्प पत्र का मूल्यांकन
- (द) सत्रांत परीक्षा का मूल्यांकन
- (य) मूल्यांकन प्रणाली में किया गया नवाचार

(घ) ज्ञान अथवा कौशल का विकास

- (अ) उपाधि पाने के लिए अध्यापक द्वारा किए गए अनुसंधान का संक्षिप्त विवरण
 - (i) एम. फिल.
 - (ii) पी-एच.डी.
 - (iii) कोई अन्य कार्य
- (ब) उन पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण जिनमें अध्यापक ने भाग लिया हो (यदि कोई हो तो)।

(ङ.) अनुसंधान

- (अ) अध्यापक द्वारा किए गए निम्नांकित कार्यों का विवरण
 - (i) परियोजना/परियोजनाओं के तहत किया गया अनुसंधान
 - (ii) छात्रों के सहयोग से या बिना सहयोग के कार्यानुसंधान
 - (iii) छात्रों के अनुसंधान/परियोजना कार्यों का निर्देशन
- (ब) अध्यापक द्वारा प्रकाशित पुस्तकें/शोध पत्रों का विवरण
- (स) संगोष्ठियों, विचार मंचों और कार्यशिविरों में पढ़े गए पत्रों का विवरण
- (द) अनुसंधान के लिए प्राप्त सहायता/अनुदान (यदि कोई हो तो)

(च) विस्तार कार्य

- (अ) निम्नांकित बातों में अध्यापक के योगदान का विवरण
 - (i) किसी सामुदायिक समस्या के समाधान के लिए किया गया काम
 - (ii) निम्नांकित तरीकों से राष्ट्रीय और मानवीय मूल्यों, राष्ट्रीय एकता, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र, समाजवाद, मानवतावाद, शांति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बढ़ावा/ का प्रचार :
 - * सार्वजनिक मंचों पर व्याख्यान के जरिए;
 - * अखबारों तथा पत्रपत्रिकाओं में लेखों के जरिए;
 - * अन्य तरीकों से
 - (iii) विद्यालय शिक्षण में निम्नांकित माध्यमों से सुधार करना
 - * विद्यालय की पाठ्यपुस्तकें तथा अन्य पाठ्यसामग्री तैयार कराकर;
 - * विद्यालय के अध्यापकों के लिए अभिविन्यास कार्यक्रम आयोजित करके
 - (iv) प्रौढ़ शिक्षा, बाढ़ राहत, वृक्षारोपण तथा इसी प्रकार के अन्य राष्ट्रीय कार्यक्रमों के जरिए;

- (v) अध्यापक के विशेष ज्ञान का समुदाय को लाभ पहुंचाने के लिए परामर्श देने का काम, कक्षा के बाहर व्याख्यान देना आदि
- (ब) राष्ट्रीय सेवा तथा विस्तार कार्य से जुड़े संगठनों के विभिन्न पदों पर कार्य करना

(य) प्रशासनिक कार्य

निम्नांकित बातों में अध्यापक के योगदान का संक्षिप्त ब्योरा

- (i) कालेज प्रशासन;
- (ii) सहगामी तथा पाठ्येतर कार्यक्रमों/गतिविधियों का आयोजन;
- (iii) छात्रों की आवासीय दिनचर्या में भागीदारी;
- (iv) कालेज तथा अकादमिक संस्थानों के नीति निर्माण/निर्णय में भागीदारी;
- (v) अध्यापकों के पेशे से जुड़े संगठनों में भागीदारी;
- (vi) विभिन्न स्तरों पर जुड़े विकास कार्यों में भागीदारी;

(र) अन्य लोगों द्वारा अध्यापक का मूल्यांकन

- (i) अपने छात्रों द्वारा अध्यापक का सम्मान,
- (ii) अपने सहयोगियों द्वारा दिया गया सम्मान,
- (iii) अन्य सम्मान

(ल) सामान्य बातें

- (i) अध्यापक की अपनी दृष्टि में उसका सबसे महत्वपूर्ण योगदान;
- (ii) मुख्य कठिनाइयाँ, जिनका अध्यापक को सामना करना पड़ा हो;
- (iii) भविष्य के लिए सुझाव।

अध्याय सात

भारतीय उच्च शिक्षा में परस्पर विरोधी दबाव

प्रारंभिक वक्तव्य

ऐसा लगता है कि भारत में उच्च शिक्षा के विकास की जो प्रवृत्तियाँ हैं, परस्पर विरोधी शक्तियों के दबाव से उनका नियमन होता रहा है। ये दोनों ही शक्तियाँ मूलतः सकारात्मक थीं, हालाँकि ये दो विपरीत उद्देश्यों के लिए काम करती रहीं हैं तथा नीतिगत प्रक्षेपों को विपरीत दिशा में खींचने की इनमें स्पष्ट प्रवृत्ति मौजूद रही हैं। अच्छे और बुरे, सही और गलत तथा प्रगतिशील और प्रतिगामी तत्त्वों के बीच चुनाव करना बहुत आसान है लेकिन भारतीय उच्च शिक्षा की नीति का प्रतिरूप (मॉडल) तैयार करने में इस तरह के स्पष्ट विकल्प की बात नहीं दिखती है। मूलतः लाभ हानि को ध्यान में रख कर दो 'वस्तुओं' के बीच चुनाव के निर्णय पर यह नीति टिकी रही है। इस अध्याय में हम दबाव की द्विध्रुवीय प्रणाली पर अपना ध्यान केंद्रित करने की कोशिश करेंगे, ऐसे दबाव जिनसे स्वतंत्रता के बाद की भारतीय शिक्षा का प्रक्षेप वक्र स्वभावतः आगे बढ़ा है।

पिछले साढ़े तीन-चार दशकों के दौरान उच्च शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रमुख अंतर्विरोध उभर कर सामने आता है, वह यह है कि नई-नई स्वतंत्र हुई जनता की आकांक्षाओं से परिचालित तरह-तरह के परिवर्तनों और सुधारों के बीच, सामाजिक दृष्टि से अत्यंत संकीर्ण, अपने चारों ओर के परिवेश से कटे हुए परस्पर विरोधी युग्मों वाला शिक्षा का पैटर्न लगातार बरकरार रहा है। किसी ऐसी एक भी समस्या को खोज निकालना मुश्किल होगा जिसमें कमोबेश इन अंतर्विरोधों की छाप न हो। इसलिए इन विभाजनों के संदर्भ में ही शिक्षा की समस्याओं पर विचारविमर्श उपयोगी होगा। हर विरोधाभास एक नए विरोधाभास को जन्म देता है और इस प्रकार विरोधाभासों की संख्या लगातार बढ़ती जाती है। स्वतंत्र भारत की उच्च शिक्षा प्रणाली में गुणवत्ता और मात्रा दोनों ही बातें औपनिवेशिक अल्पविकास के अविभाज्य तत्त्व के रूप में विरासत में मिली थीं। संख्या को देखते हुए यह व्यवस्था एकदम नगण्य और अपर्याप्त थी और गुणवत्ता की दृष्टि से प्राणहीन थी। इसकी कार्यप्रणाली दोषपूर्ण थी। इस तरह की परिस्थिति

के दबाव की वजह से गुणवत्ता और संख्या दोनों में से किसी एक को चुनने और दूसरे को छोड़ने की गुंजाइश नहीं थी और अमरीकी शिक्षा के इतिहास से उदाहरण देना चाहेंगे तो कहेंगे कि जैपरसनियन और जैकसनियन सिद्धांतों में से किसी एक को छोड़ने और दूसरे को चुनने का भी सवाल नहीं था।

शिक्षा का जो ढांचा विरासत में मिला था, उसका अच्छी तरह और तेजी से विकास करना निम्नांकित दृष्टियों से जरूरी था। पहली बात थी : प्रतिभा के क्षेत्र में आयात के स्थानापन्न की जरूरत और आत्मनिर्भर अकादमिक ढांचे की रचना। इसके अलावा नियोजित आर्थिक विकास के लिए अनुमानित जरूरतें, इसका दूसरा तत्त्व था। तीसरी बात थी : जिन लोगों को सदियों से उच्च शिक्षा से वंचित रखा गया था, उनका दबाव। क्योंकि इन लोगों को विश्वविद्यालय की डिग्री हासिल करने की संभावना दिखाई पड़ी, चाहे वह संभावना कितनी ही क्षीण और कठिन क्यों न रही हो, इसलिए कि इसे गलत या सही, आरामदायक जीवन और सफेदपोश नौकरी का पारपत्र मान लिया गया है। उच्च शिक्षा के लिए लोकप्रिय दबाव की अभिव्यक्ति कॉलेजों की स्थापना की मांग के रूप में व्यक्त हुई। मत पेटियाँ इसके लिए अत्यंत आसान औजार सिद्ध हुईं, जिनका काफी बड़े पैमाने पर इस काम के लिए इस्तेमाल किया गया है। नए कॉलेजों की स्थापना अथवा पुराने कॉलेजों को मान्यता दिलाना मतदाताओं के लिए सौदेबाजी का एक आधार बन गया। चुनाव में एक दूसरे का सामना कर रहे प्रत्याशियों ने इन मांगों को या तो दबाव के तहत स्वीकार किया या अपनी ओर से ही इसके लिए लंबे-चौड़े वायदे कर दिए। इस प्रक्रिया की एक अनिवार्य परिणति यह हुई कि चारों ओर कुकुरमुत्तों की तरह डिग्री कॉलेज खोले गए जिनमें न तो पर्याप्त सुविधाएँ थीं, न योग्य अध्यापक थे और न पढ़ने के लिए इच्छुक छात्र थे।

यह भी बात नहीं कि जनता का लोकप्रिय दबाव झूठा या निरर्थक था। कहना चाहिए कि यह लोकवादी उभार का प्रमाण था। इसके पहले जिस आवाज को दबाया गया था, उस आत्मा की आवाज का दबाव था। संख्या-विस्तार के अनेक लाभ भी थे जिनके कारण इसको अनुशासित किया गया। ब्रिटिश शासन में हजारों की संख्या में प्रौढ़ लोगों को कॉलेज शिक्षा से कोसों दूर रखा गया था। स्वतंत्र भारत में उस ज्ञान तक पहुंचने की सुविधा प्राप्त हुई जो मूल्यवान और प्रतिष्ठा का द्योतक था। इसके पहले यह ज्ञान आर्थिक रूप से संपन्न कुछ चुने हुए अभिजात वर्ग के लोगों के लिए सुरक्षित था। भारतीय जनता के विशाल जन समूह को सामाजिक गतिशीलता के उपकरण के रूप में शिक्षा उपलब्ध नहीं थी। एक खास सामाजिक वर्ग के लिए यह उपहार थी। इसका मतलब यह था कि शहरी मजदूर, खेतिहर मजदूर, और गरीब किसान अपनी हालत सुधारने की उम्मीद नहीं कर सकता था। उसकी स्थिति वंशपरंपरा से तय होती थी। इसमें उसके प्रयासों तथा उपलब्धियों की कोई भूमिका नहीं थी। उच्च शिक्षा में ज्यादा स्थानों की व्यवस्था का मतलब था अधिक खुली (उदार) प्रवेश नीतियाँ, परंपरागत वर्गीय पक्षपातों में कुछ और कमी और 'प्रायोजित गतिशीलता' का

स्थान आंशिक रूप से 'संदर्भगत गतिशीलता' द्वारा लिया जाना। संख्या की दृष्टि से उच्च शिक्षा के विस्तार में यह संभावना निहित थी कि आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से वंचित व्यक्तियों को, इससे वंचित होने के आधार पर एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता। गरीब व्यक्ति भी प्रतियोगिता में हिस्सा ले सकता था और अपनी योग्यता को सिद्ध कर सकता था। यद्यपि यह बात भी सच है कि योग्यता की अवधारणा संस्कृति की छननी से छन कर निकली थी और वह अब भी अपने उसी पुराने रूप में विद्यमान थी। सुविधाहीन लोगों ने जन शिक्षा को जबरन छूट के रूप में प्राप्त किया था। यह छूट उस शिक्षाव्यवस्था से प्राप्त की गई थी जिसने लगातार गरीब जनता को शिक्षा तक पहुंचाने नहीं दिया था। संख्या में से गुणवत्ता जन्म ले रही थी। भारत में इसके जरिए लोकतंत्र की नींव रखी जा रही थी।

शिक्षा में संख्यात्मक विस्तार को कम से कम दूसरे कारक के संदर्भ में भी आंशिक रूप से व्याख्यायित किया जा सकता है। इस कारक का न तो शिक्षा के आंतरिक मूल्य से कुछ लेना-देना है न व्यक्ति को विशेष कौशल में प्रशिक्षित करने से। यह ऐसी दुनिया की देन है जिसका संचालन संचार माध्यम करते हैं। शिक्षा की भूख विशेष प्रकार के जोड़तोड़ का नतीजा है। यानी लोगों में शिक्षा के प्रति नशा पैदा करने का नतीजा। कुछ स्थायी अभिकरण सदोष शिक्षा प्रणाली, नौकरशाही, नौकरीपेशा और इन सबके ऊपर कल्याणकारी ढांचे के कारण लोगों में शिक्षा का नशा पैदा हुआ है। सामाजिक नशा लोगों को मनोवैज्ञानिक नशे की तरफ ले जाता है। ऐसी हालत में इसके (सामग्री के) उपभोक्ता ज्यादा से ज्यादा संख्या में इसकी प्रक्रिया के साथ या उस सामग्री के साथ बंधते चले जाते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दो दशकों के दौरान इस तरह आम लोगों में अंशतः उच्च शिक्षा की मांग पैदा हुई। इसी को वस्तु के प्रति पागलपन की सीमा तक लगाव कहा जाता है जिसमें यह पता चलता है कि किस तरीके से नकली जरूरतें पैदा होती हैं। इस भेड़चाल के कारण कक्षा में उच्च शिक्षा की जगह अपने आप में मूल्य बन गई।

शिक्षा की दुकानदारीवाले उद्योग में नए कॉलेजों के खुलने की जो बाढ़ आई, उसके कुछ वर्षों के भीतर ही शिक्षा की बनावटी मांग से उत्पन्न खतरा स्पष्ट हो गया। इसकी कमियों पर अंकुश लगाने के लिए उपाय किए जाने लगे। श्रेष्ठता की खोज के चलते शुरू में पहले विश्वविद्यालय व्यवस्था के भीतर ही 'उच्च अध्ययन केंद्र' और 'विशेष मदद के लिए विभाग' स्थापित किए गए। इसके बाद अनुसंधान के लिए निर्धारित कोश की थैती का मुंह रोगग्रस्त विश्वविद्यालयों से हटा कर संस्थानों और सरकारी विभागों की तरफ कर दिया गया। इस नीति की वजह से गिरे हुए शैक्षिक स्तर के महासागर में श्रेष्ठता के कुछ टापू उभरे और संपूर्ण शिक्षाव्यवस्था और इस प्रकार के श्रेष्ठता के केंद्रों के बीच की खाई चौड़ी हो गई। इन सबके ऊपर विडंबना यह कि इस दोष को दूर करने के लिए जो प्रयास किए गए, उनसे इसमें और बढ़ोतरी ही हुई। इससे अलग परिणाम की आशा भी नहीं की जा सकती थी। जैसा कि इसके

स्वरूप में ही निहित था, इन संस्थाओं को उदारपूर्वक धन दिया गया और इनके प्रति विशेष अनुग्रह दिखाया गया। इन उच्च अध्ययन केंद्रों को ज्ञान प्रसार के केंद्रों के रूप में विकसित किया गया। नतीजतन इसमें अभिजात संस्कार, दंभ और तिरस्कार के भाव पैदा हुए। इनको एक दम ऊंचाई पर रखा गया, इसके विपरीत अन्य शिक्षण संस्थाएं अभिशप्त हालत में छोड़ दी गईं, उनका स्तर इनकी तुलना में काफी नीचा था। इन तथाकथित उच्च अध्ययन केंद्रों के साथ, इन आम संस्थाओं का मनोवैज्ञानिक और सामाजिक स्तर पर विचारविमर्श भी असंभव हो गया। कोई भी मॉडल वैसी हालत में मॉडल नहीं रह जाता जब उसके द्वारा स्थापित आदर्श का पालन करनेवाली संस्थाओं को वही परिस्थितियां नहीं मिलती हैं, जिसमें वह मॉडल काम कर रहा हो।

यहां पर यह तर्क नहीं पेश किया जा रहा है कि गुणात्मक सुधार के जो तरीके सोचे गए थे, उनके कोई सकारात्मक नतीजे निकले ही नहीं। उच्च अध्ययन केंद्रों की स्थापना ने और अनुसंधान के अत्यंत शक्तिशाली केंद्रों की स्थापना ने शिक्षा जगत् में कोई क्रांति भले ही न की हो, और वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे, लेकिन हमारे राष्ट्रीय जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में विकास क्रम पर इनसे जुड़ी हुई प्रक्रिया तथा इनमें प्रशिक्षित लोगों ने जो प्रभावशाली असर डाला है, उसकी हम उपेक्षा भी नहीं कर सकते हैं। इन केंद्रों ने जो कुछ किया है, उससे मिली दृष्टि ने हाल की समूची शैक्षिक सोच को निर्णायक रूप से प्रभावित किया है। यह दृष्टि उनकी शक्ति और सीमा दोनों से ही संबद्ध है। इस समय सोच की मुख्यधारा यह है कि अभी भी जहां देश में शिक्षा के अपेक्षाकृत बड़े रास्ते खुले रखे जाने चाहिए, गुणवत्ता में सुधार को आंखों से ओझल नहीं होने दिया जा सकता। साथ ही गुणवत्ता तथा मात्रा (संख्या) के बीच किसी प्रकार की स्पर्धा नहीं होनी चाहिए। इन दोनों ही दृष्टियों को आपसी सहयोग के जरिए एक दूसरे को शक्ति पहुंचानेवाले सिद्धांत के रूप में काम करना चाहिए।

समता और दक्षता

उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत उच्च शिक्षा की रचना के जो विभिन्न पहलू थे, उनमें असमानता उसका अत्यंत मुखर पक्ष था। असमानता के भी अनेक रूप थे। मसलन, शहरी और ग्रामिण, अनुसूचित जाति और गैर-अनुसूचित जाति, स्त्री तथा पुरुष और इन सबके ऊपर समाज के उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग के बीच की असमानता विद्यमान। उच्च शिक्षा में महिलाओं के नामांकन की संख्या से इन दो ध्रुवों के बीच की दूरी के स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। 1916-17 में कुल नामांकन में महिलाओं का हिस्सा मात्र 1.24 प्रतिशत था। इतना ही नहीं 1947-48 में भी इस तरह का असंतुलन बना रहा। इस समय शिक्षा में महिलाओं की कुल भागीदारी 10 प्रतिशत से भी कम थी। यदि हम अनुसूचित जाति/जनजाति की महिलाओं के उच्च शिक्षा में पहुंचने की स्थिति पर विचार करें तो उस जमाने में यह बात एक दम दूर की कल्पना

थी। जो बात महिलाओं के लिए सच है, वही बात अन्य कमजोर तबकों पर भी लागू होती है। सामाजिक सोपान के जितने ही निचले स्तर पर कोई व्यक्ति होता था, उसके शिक्षा से वंचित होने की उतनी ही अधिक संभावना बनी रहती थी। किसी न किसी रूप में सामाजिक ढांचे में इस असंतुलन के चलते शैक्षिक विकास का पैटर्न इतना बिगड़ गया कि कमजोर और सुविधा से वंचित वर्ग को शैक्षिक लाभों में आज तक उचित हिस्सा नहीं मिल सका है। एक सिरे से पूरी प्रणाली को असमानता ने इतना अक्षम (कमजोर) बना दिया है कि सबसे योग्य व्यक्ति की तरफ सबसे कम ध्यान दिया जाता है।

स्वतंत्रता मिलने के शुरुआती सालों के दौरान इन विसंगतियों के मकड़ जाल में फंस कर, उच्च शिक्षा के क्षेत्र में निर्माण को आम जनता के मुताबिक तथा उच्चस्तरीय शिक्षा के, और संसाधनों के सर्वोत्तम इस्तेमाल के अनुसार ढलना पड़ा जो ऊपर से परस्पर विरोधी लग रही थीं। संवृद्धि की गतिशीलता के संदर्भ में न तो ऐसा संभव था और न ही वांछनीय था कि एक की कीमत पर दूसरे की जरूरत पूरी की जाए। कहा जा सकता है कि यदि सुदूर भविष्य के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाए तो समता और दक्षता परस्पर विरोधी नहीं ठहरते हैं। यदि काम में लगी बहुत बड़ी जनसंख्या की शिक्षा का स्तर बहुत नीचा होगा तो काम करनेवाली उस जनसंख्या की दक्षता का स्तर भी निश्चित रूप से नीचा होगा। अतः समता कायम करने के लिए संरक्षणात्मक उपाय, दक्षता के उच्च स्तर के लिए उठाया गया कदम भी है। इसलिए हो सकता है कि थोड़े समय के लिए समता और दक्षता एक दूसरे के विपरीत जाती दिखें। इसलिए यह चुनाव समता और दक्षता के बीच नहीं है बल्कि दक्षता के अल्पकालिक और दीर्घकालिक आकलन के बीच है। केवल अविवेकी और अदूरदर्शी व्यक्ति ही तात्कालिक लाभ के लिए दूरगामी लाभ को तिलांजलि देने की वकालत कर सकता है। हठधर्मी और कट्टरपंथी ही वर्तमान समस्याओं की ओर से अपनी आंखें मूंद सकता है इसलिए तभी समता तथा दक्षता की सामाजिक चिंता से एक साथ निपटा जा सकता है जब दोनों ही बनी रहें और बनी रहने में एक-दूसरे की मदद करें।

यदि शैक्षिक संसाधनों के उपयोग का अनुपात असंतुलित है तो मानना होगा कि असमानता कायम है। यदि पक्षपात का तत्त्व व्यवस्था के भीतर ही निहित है जिसके चलते उच्च शिक्षा के अधिकांश स्थानों का उपयोग (अथवा दुरुपयोग) समाज का सुविधा भोगी तबका करता है और बहुसंख्यक आबादी के निचले तबके को कुछ बचे-खुचे स्थानों से संतोष करना पड़ता है तो इसे असमानता के सूचकों में एक अकाट्य सूचक कहा जाएगा। शिक्षा के अवसर जब तक समाज के एक वर्ग तथा संपन्नता के साथ जुड़े रहेंगे और उन अवसरों को सीखने की क्षमता या सामाजिक योग्यता के प्रति अभिमुखता के साथ नहीं जोड़ा जाता तब तक इस ढांचे में समता और दक्षता, दोनों का ही अभाव बना रहेगा और फिर तो एक के अभाव में दूसरे को पाने की उम्मीद नहीं की जा सकती है।

आर्थिक रूप से विपन्न सामाजिक तबके के बच्चों को आकृष्ट करके ही हमारी शिक्षाप्रणाली अधिक दक्षता हासिल कर सकती है। अल्पविकसित देशों में दक्षता वस्तुतः समता के साथ जुड़ी हुई है। क्योंकि इसी अर्थ में व्यक्तियों को शिक्षित करने के लिए संसाधनों का इष्टतम उपयोग किया जा सकता है। सामाजिक विकास में इनको ही सबसे अधिक खतरा है। छात्रवृत्ति और पुस्तक बैंक जैसी सुविधाएं आर्थिक रूप से संपन्न घरों के बच्चों को देना समानता और दक्षता दोनों के ही विरोध में जाता है। ऐसा करना दुर्लभ संसाधनों का दुरुपयोग होगा।

जब शिक्षा का विवेचन सामाजिक गतिशीलता का मार्ग प्रशस्त करनेवाली वस्तु के रूप में किया जाता है तब समता और दक्षता, दोनों सिद्धांत अतिरिक्त अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। पढ़ेलिखे लोगों के देश के बाहर चले जाने (जिसे हम लोग प्रतिभा का पलायन भी कहते हैं) के विशेष आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं या इस बात के आंकड़े भी नहीं हैं कि अध्ययन के क्षेत्र में सामाजिक-आर्थिक हैसियत रखनेवाला किसी विशेष छात्र का किसी खास विषय में एक खास समय में निष्पादन का स्तर क्या था। समष्टि स्तर पर शैक्षिक योजना तैयार करने के लिए व्यष्टिस्तरीय आंकड़ों को एकत्र करने में इसके कारण बाधा खड़ी होती है। यदि हम यादृच्छिक आंकड़े एकत्र करके उनके आधार पर नतीजा निकालें तो पता चलेगा कि निम्न सामाजिक-आर्थिक हैसियत रखने वाला छात्र ऊंची सामाजिक-आर्थिक हैसियतवाले की तुलना में सामाजिक उद्देश्य को पूरा करने में आगे है। और इस बात की संभावना काफी कम है कि छोटी सामाजिक-आर्थिक हैसियतवाला व्यक्ति, चाह कर भी, राष्ट्रीय प्रतिबद्धता से पीछे हट जाए तथा उस पर जो भी खर्च किया गया है, वह निष्फल हो जाए।

मूल्य और उपयोगिता

यह कह कर शिक्षा के वर्तमान ढांचे की अक्सर आलोचना की जाती है कि यह प्रासंगिक नहीं है और इसकी यह आलोचना कोई गलत भी नहीं है। इसका निहितार्थ यह है कि न तो इसके उद्देश्य सामाजिक संदर्भों से जुड़े हुए हैं, और न ही व्यवहार में यह सामाजिक लक्ष्यों तक ले जाती है। इसकी अप्रासंगिकता इसके कुछ अलग-अलग पहलुओं तक सीमित नहीं है। शिक्षा के चाहे किसी भी क्षेत्र पर आप अपनी निगाह दौड़ाएँ, इस अप्रासंगिकता के आपको दर्शन हो जाएंगे। चाहे कोई मूल्योन्मुख उद्देश्यों की बात करें जैसे व्यक्तित्व का समग्र विकास, शिक्षार्थी की रचनात्मक क्षमता का विकास और लोकतांत्रिक तथा धर्मनिरपेक्ष दृष्टि का विकास अथवा कोई उपयोगिता की ओर उन्मुख उद्देश्यों की बात करें जैसे विकासशील अर्थव्यवस्था की जरूरतों से निपटना, मानव संसाधन की सामूहिक निधि का निर्माण करना और राष्ट्रीय उत्थान के लिए देश के अपार मानव तथा भौतिक संसाधनों के उपयोग के लिए तैयारी के निर्धारित करना आदि। इन मांगों को एकीकृत शिक्षा नीति में किस प्रकार सार्थक तरीके से जोड़ा जाए जो

प्रायः उच्च शिक्षा के प्रक्षेप को विपरीत दिशाओं की ओर खींचती रही हैं। चूंकि शिक्षण-अधिगम के अनुभव से प्राप्त इन विशेषताओं को अक्सर अनदेखा कर दिया जाता है, इसलिए ऐसा लगता है कि हमारी बहुतसी संस्थाओं का पाठ्यक्रम और उनकी पाठ्यचर्या तब भी वैसी की वैसी बनी रहतीं यदि हमारी उच्च अध्ययन की संस्थाएं चंद्रमा पर स्थापित होतीं।

ऊपर के आकलन को आधार बनाकर दो तरह की परस्पर विरोधी नीतियों की परिकल्पना की जाती है। इनमें से एक नीति का ध्यान व्यक्तिगत छात्र पर, जीवन में ठीक-ठाक व्यवसायों तथा पदों के लिए उसके प्रशिक्षण पर और उनको इस योग्य बनाने पर होता है ताकि वे निश्चित अवधि के भीतर निकट भविष्य में अपने लिए कोई ठीक-ठाक व्यवसाय चुन सकें। इससे भिन्न दूसरा दृष्टिकोण देश की जरूरतों पर अपना ध्यान केंद्रित करता है जिनका केंद्र बिंदु वे महान् निर्माण कार्य होते हैं। जिनमें वह आज कल लगा हुआ है जिनका सामाजिक लक्ष्य सभी के लिए एक-सा है। दीर्घकाल में इन लक्ष्यों से सब को फायदा होगा लेकिन अल्पकालिक परिप्रेक्ष्य में रख कर विचार करने पर लगता है कि कुछ लोगों की कीमत पर ये कुछ दूसरे लोगों को फायदा पहुंचा रहे हैं। यह भी लगता है कि इनके लक्ष्य तक पहुंचने में लंबे समय तक इंतजार करना होगा। पहले दृष्टिकोण में जिस बात पर जोर दिया गया है, वह व्यक्तिवादी है, उपयोगितापरक और यांत्रिक है तथा दूसरा दृष्टिकोण सामूहिक, कल्याणकारी और समाजवादी है। पहले दृष्टिकोण में सामाजिक हित या सामाजिक अहित का विचार किए बिना आत्मोपलब्धि पर जोर दिया जाता है जबकि दूसरे का लक्ष्य राष्ट्रीय विकास है, ऐसा राष्ट्रीय विकास, जिसमें हर व्यक्ति को उसका उचित हिस्सा मिलता है।

भारतीय शिक्षा में (उच्च शिक्षा में) विकल्प का निश्चित रूप से यह अर्थ नहीं है कि एक को लेकर दूसरे को छोड़ दिया जाए। चाहे जैसा भी मार्गदर्शक नियम निर्धारित कीजिए, राष्ट्रीय जीवन के इस महत्त्व के क्षेत्र को संपूर्ण देश और समूची दुनिया की परिस्थितियों को मद्देनजर रखना ही होगा। सभी मूल्य तथा लक्ष्य निरर्थक हो जाएंगे यदि सांप्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद और भाषावाद को राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करने की इजाजत दी जाती है अथवा यदि मुट्ठी भर लोग सामाजिक संपत्ति के अधिकांश को हथिया कर भागना जारी रखते हैं, या कुछ थोड़े से युद्ध के सौदागर संसार को नाभिकीय युद्ध के विनाश में ढकेलने में सफल हो जाते हैं। अपने देश की आबादी की जरूरतें पूरी करना भी संभव नहीं होगा जब तक कि समाज का हर सदस्य सामाजिक रूप से उपयोगी श्रम में भागीदार नहीं बनता है। और यह तभी संभव है जब उत्पादन में उसका उचित हिस्सा सुनिश्चित किया जाए। देश ने अपने लिए जो लक्ष्य निर्धारित किए हैं, शिक्षा उससे अपने को अलग नहीं कर सकती।

सीखनेवाले व्यक्ति के लिए ऐसी शिक्षा की उपयोगिता या प्रासंगिकता नहीं के बराबर होगी यदि वह शिक्षा उनको अपनी रचनात्मक क्षमता के उपयोग के लिए बौद्धिक तथा व्यवहार संबंधी उपकरणों से तैस नहीं करती है। उद्योग और कृषि के लिए इसका

कोई मूल्य नहीं होगा यदि जरूरत पड़ने पर उनको जरूरी प्रौद्योगिकी की सुविधा मुहैया नहीं कराई जाती। उपयोगिता और मूल्य का उचित संतुलन जरूरी है। इसका सजग और सुधितित उद्देश्य, इस पृथ्वी रूपी गांव में समग्र विकास के एक अंश के रूप में, आत्मोपलब्धि होना चाहिए।

प्रतिबद्धता और निःसंगता

ऊपर हमने देखा है कि मूल्य और उपयोगिता के सवाल एक दूसरे से अलग नहीं हैं। हमने यह भी देखा है कि किस प्रकार दोनों की सीमाएं आपस में भी मिलती हैं। प्रतिबद्धता और निःसंगता जैसी विपरीत बातों को जब हम सामने रखते हैं तब हम किन्हीं उच्चतर मूल्यों की मांग कर रहे होते हैं। हमारे विचार से इन मूल्यों का उच्च शिक्षा की संस्थाओं के कार्यों पर बहुत सशक्त प्रभाव होता है, कभी-कभी यह प्रभाव प्रत्यक्ष होता है और कभी-कभी परोक्ष होता है। जो व्यवस्था हमें औपनिवेशिक विरासत में मिली थी, उसमें अकादमिक निःसंगता के मूल्य पर काफी जोर दिया गया था। (शिक्षा अपने आप में मूल्य है, उसका रोजीरोटी से संबंध नहीं है, अनु.) वास्तविक जीवन में इसका अर्थ था—सामाजिक असंपृक्तता और सामाजिक यथार्थ के प्रति पूरी तरह से सरोकार रहित होना और शिक्षा के तथाकथित अमूर्त उदार मानवतावादी गुणों के प्रति एकाग्रता। ब्रिटिश काल के दौरान इस विषय पर समितियों तथा आयोग की रिपोर्टों के जरिए जो प्रचुर सामग्री पैदा की गई है, उसके विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है।

स्वतंत्रता मिलने के बाद से हमारी उच्च शिक्षा ने व्यवहार में व्यवस्था में कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं छोड़ा है। हमारे अकादमिशियनों की बड़ी संख्या ने बहुधा (अचेतन स्तर पर ही सही) अपने को पुराने मूल्यों से बंधा पाया, जो मूल्य अब कहीं हैं ही नहीं अथवा ऐसे मूल्यों से बंधा पाया जो दूसरे समाजों के लिए तो प्रासंगिक हो सकते हैं लेकिन हमारे समाज में उनकी कोई प्रासंगिकता नहीं है। यदि राष्ट्रीय-सामाजिक प्रतिबद्धता की कसौटी पर खरा साबित करने के उद्देश्य से उदाहरण के रूप में पाठ्यक्रम के विषय में विद्वत्परिषद के भाषणों को विचार के लिए लें तो यह एक व्यर्थ की कसरत होगी। लगता है कि इस समस्या के बारे में काफी भ्रम है। कभी-कभी तो निभ्रांत बुद्धिवाला और अच्छी मंशा रखनेवाला व्यक्ति भी प्रतिबद्धता और निःसंगता जैसे शब्दों के प्रचारवादी इस्तेमाल के जाल में फंस जाता है। यथास्थिति के पक्षधरों की चूंकि मंशा साफ नहीं होती है और प्राप्त सुविधाओं के साथ चिपके रहने की उनमें प्रवृत्ति होती है, इसलिए ऐसे लोग इस तरह उन सभी संकल्पनाओं को तोड़ने-मरोड़ने के लिए तत्पर रहते हैं जिनसे मौजूदा व्यवस्था के कमजोर करने की संभावना हो। प्रतिबद्धता और निःसंगता की उनकी अपनी निजी धारणाएं हैं। उनका तर्क है कि प्रतिबद्धता के कारण शिक्षा के आंतरिक और निरपेक्ष मूल्यों की क्षति होती है तथा तटस्थता या निःसंगता से वे मूल्य फलते-फूलते हैं।

लेकिन वास्तविक जीवन में अवधारणाएं भी समय और स्थान से उतनी ही मात्रा में निर्धारित और नियंत्रित होती हैं, जिस मात्रा में उनको जन्म देनेवाले लोग। चूंकि इन धारणाओं को हम संप्रेषण के उपकरणों की तरह इस्तेमाल करते हैं, इसलिए हम उनको मनमाना अर्थ प्रदान करने की छूट नहीं ले सकते हैं। वे अनुभवातीत नहीं हैं, इसलिए सामाजिक संदर्भ में यदि देखें तो प्रतिबद्धता और निःसंगता के लिए हमेशा कोई व्यक्ति होता है और कोई वस्तु (लक्ष्य) होती है जिसके प्रति वह प्रतिबद्ध होता है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी समय तथा परिस्थिति विशेष में ही कोई व्यक्ति किसी वस्तु के प्रति प्रतिबद्ध या निःसंग महसूस करता है। व्यक्ति तथा वस्तु के संबंधों में एक तरह की प्रगाढ़ता होती है जो दोनों को बांधती है। इस संदर्भ में इस तरह का दावा करना कि अमुक व्यक्ति शिक्षा में किसी के प्रति भी प्रतिबद्ध नहीं है, पूरी तरह से भ्रम का परिचालक है या शिक्षा को लेकर उसके दिमाग में उद्देश्य स्पष्ट नहीं हैं, इससे यह बात जाहिर होती है। यदि किसी के दिमाग में उद्देश्य हैं तो या तो उनका स्वरूप धुंधला है जिसको तर्कपूर्ण तरीके से पेश नहीं किया जा सकता या वे इतने खराब हैं कि खुलेआम उनकी घोषणा नहीं की जा सकती। मानवीय गतिविधि का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां प्रतिबद्धता से पिण्ड छुड़ाना संभव हो, चाहे वह शिक्षा हो, कानून हो, लोक प्रशासन हो, वाणिज्य व्यापार हो अथवा धर्म और नैतिकता हो। प्रतिबद्धताशून्य जैसी कोई चीज नहीं होती, हां उसकी मात्रा, प्रकार और स्तर अलग-अलग हो सकते हैं। कोई अपने बेटे की शिक्षा के लिए प्रतिबद्ध हो सकता है, और यह प्रतिबद्धता इतनी एकांतिक हो सकती है कि बाकी सारे लोग उसकी परिधि से बाहर हों, और यह भी हो सकता है कि उसे किस तरह के स्कूल में पढ़ना चाहिए, यहीं तक उसकी प्रतिबद्धता सीमित हो। इससे भिन्न कोई व्यक्ति सुविधावंचित लोगों की शिक्षा के लिए प्रतिबद्ध हो सकता है और संभव है कि इस प्रतिबद्धता की वजह से शिक्षा के मौजूदा ढांचे को पूरी तरह बदलने की जरूरत वह महसूस करता हो।

प्रतिबद्धता और तटस्थता का अंतर्विरोध केंद्रीय महत्त्व का है। उच्च शिक्षा में ऐसी बात नहीं है जो इससे किसी न किसी रूप में जुड़ी न हो। हम किसकी सामग्री या रचना पढ़ाएंगे—उसकी रचना आत्मकेंद्रित है अथवा उसकी जो सामाजिकता की ओर उन्मुख है? हम क्या पढ़ाएंगे—वे तथ्य और सिद्धांत हमारे समाज से जिनका कोई सरोकार नहीं है अथवा वे तथ्य और सिद्धांत जो हमारे पर्यावरण से टकरा रहे हैं? हम कहां पढ़ाएंगे और कैसे पढ़ाएंगे—सामाजिक रूप से अलग-थलग चहारदीवारी के भीतर बनी कक्षाओं में अथवा वहां जहां काम की स्थितियों से जुड़ कर पढ़ाने का माहौल हो? हम छात्रों की योग्यताओं का किस प्रकार मूल्यांकन करें—आंकड़ों के आधार पर निर्धारित काल्पनिक खूबियों के आधार पर या छात्र की काम करने की योग्यता के आधार पर या जिस गुणवत्ता को हमने उसमें पैदा किया है, उसे काम की कसौटी पर कस कर? कोई भी आसानी से इस बात को समझ सकता है कि तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाने से एक खास तरह की प्रक्रिया और व्यवहार अख्तियार करना होगा और प्रतिबद्धता

का दृष्टिकोण अपनाने से इससे भिन्न रास्ता चुनना होगा।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उतने से अर्थ संबंधी विरोधों का भंडार समाप्त नहीं हो जाता है। संस्थाओं के व्यवहार के संदर्भ में तटस्थता का यह भी अर्थ लगाया जाता है कि वहां पर व्यक्तिवाद और पक्षपात से बचा जाता है, अनुसंधान के लिए विषय चुनने और विश्लेषण की पद्धति के चुनाव में भी इन दोषों से बचा जाता है। यहां पर तटस्थता एक प्रकार से प्रतिबद्धता का और स्पष्ट रूप से सुचिंतित मानदंडों के साथ दृढ़तापूर्वक टिके रहने की चिंता का पर्याय बन जाती है। इसी प्रकार प्रतिबद्धता के अंतर्गत कई अन्य पहलुओं को भी शामिल किया जा सकता है, मसलन विद्यार्थी के लिए चिंता, विभिन्न विषयों के विकास में तल्लीनता तथा उद्योग और कृषि के साथ संबद्ध होना या सहयोग करना। इस तरह के मामलों में प्रतिबद्धता तटस्थता के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है। यह समझना आसान है कि ऊपर से परस्पर विरोधी दिखनेवाली दो नीतियां विशेष स्थिति में एक-दूसरे के साथ जुड़ने पर किस प्रकार एक-दूसरे की पूरक बन जाती हैं।

प्रतिबद्धता-तटस्थता के विवाद का संतोषजनक हल खोजने में असफल होने पर हमारी परेशानियां कई गुना बढ़ जाएंगी और शिक्षा व्यवस्था में महत्वपूर्ण सुधार करने के हमारे सारे प्रयत्न निष्फल होंगे। हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि भूतकाल में नौकरशाहों ने शैक्षिक किलेबंदी के द्वारा जनता को गुलाम बनाने का काम किया। यह बात अभी भी जारी है। इस समय की कुछ सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाओं को बहकाया गया है तथा उनसे जो काम कराया जा रहा है, वह पूरी तरह मानवता के खिलाफ है। ऐसा कभी तटस्थता के नाम पर होता है और कभी प्रतिबद्धता के नाम पर, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि यह विवाद वास्तविक नहीं है। इसका मतलब यह है कि प्रतिबद्धता और/अथवा तटस्थता के सार्थक रुख को सोच समझ कर शिक्षा के मानवतावादी कार्य के साथ नहीं जोड़ा गया है।

शुद्ध अकादमिशियन और सरोकारी अध्यापक

प्रतिबद्धता-तटस्थता के बीच विरोध की झलक 'शुद्ध' अकादमिक विषयों या कार्यों के इर्द-गिर्द होनेवाले विवाद में देखने को मिलती है जिसमें माना जाता है कि शुद्ध अकादमिशियन को शिक्षा व्यवस्था की 'गंदी' गतिविधियों के संचालन में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहिए। यह अंतर्विरोध विशेष रूप से इसलिए तेज हो गया है कि उच्च शिक्षा से संस्थानों का आकार मानवीय तथा भौतिक दोनों ही दृष्टियों से आवश्यकता से अधिक बड़ा हो गया है। परंपरागत रूप से उनके साथ जुड़े हुए विविधतापूर्ण कार्य जैसे अध्यापन, अनुसंधान, परीक्षा और प्रशासन विशेषज्ञतापूर्ण बड़े पैमाने के कार्य का रूप ले चुके हैं। ये कार्य आपस में इस अर्थ में घनिष्ठ रूप से जुड़ गए हैं कि एक क्षेत्र में जो कुछ घटता है, उसका प्रभाव दूसरे पर पड़ता है तथा

164 शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

वह स्वयं भी अन्य क्षेत्रों से प्रभावित होता है। और अब इन सबके ऊपर विश्वविद्यालय और उच्च शिक्षा के दूसरे संस्थानों ने अपने वेतन के भार में नगरपालिका की सेवाओं को भी शामिल कर लिया है जो न सिर्फ इनकी कक्षाओं तथा प्रयोगशालाओं के लिए जगह मुहैया कराती हैं बल्कि भवनों, छात्रावासों, अस्पतालों, सड़कों, पार्कों, पानी तथा इसी प्रकार की अन्य गतिविधियों के लिए भौतिक सुविधाएं जुटाती हैं। साफ है कि शैक्षिक ढांचा अपना मूल काम दक्षता से कर सके इसके लिए विभिन्न क्षेत्रों का ठीक से काम करना जरूरी है।

ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया गया है, उनकी वजह से बहुत से दबाव पैदा हो गए हैं। संकाय के अध्यापन तथा अनुसंधान कार्यों में तथा छात्रों के अधिगम और अध्ययन के लिए इन सबकी तात्कालिक सार्थकता है। जिस प्रकार बाजार के विनियम में खराब सिक्का अच्छे सिक्के को बाजार से बाहर कर देता है, उसी तरह उच्च शिक्षा के संस्थानों में ऊपरी चीजों का, जैसे प्रशासन तथा नगरपालिका के कार्य अकादमिक कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। किसी संस्था का मुख्य कर्ताधर्ता यानी कुलपति अथवा निदेशक, और संख्या के लिहाज से कहा जाए तो इनसे थोड़ा-सा कम कॉलेज का प्रिंसिपल उन समस्याओं से निपटने में लगा दिखाई देता है जो अकादमिक नहीं हैं जैसे अनुशासन की समस्या, वित्त की समस्या, भवन बनाने का ठेका, जन संपर्क की समस्या और यदाकदा आंदोलनों और हड़तालों की समस्या। फिर अकादमिक समस्या के लिए इस पृथ्वी पर समय कहां बच रहता ?

अत्यंत स्वाभाविक रूप से अध्यापक के सामने प्रशासनिक दायित्व का एक अंश अपने ऊपर लेने की मांग उठती है ताकि प्रशासन की तरफ से अध्यापन पर थोड़ा अधिक ध्यान दिया जाए। जब इस मांग की परिकल्पना की जाती है तो ढेरों सवाल हमारे सामने खड़े होते हैं जिनका हमारे सामने आसान हल नहीं होता है। यदि प्रशासनिक दायित्व में हिस्सा लेने के लिए अध्यापक सहमत हो जाता है तो अध्यापकीय दक्षता की उसे बलि चढ़ानी पड़ती है और यदाकदा छात्रों के साथ उसे कामचोरों जैसा व्यवहार करना पड़ता है। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो वातावरण को और दूषित होने का अवसर मिलता है जिसमें उसकी कार्यक्षमता के और अधिक कम होने की संभावना बनती है। और फिर बारहो मास चूंकि प्रशासनिक प्रक्रियाएं और प्रबंधकीय प्रथाएं अध्यापन कार्य पर अत्यंत प्रभावशाली असर डालती हैं, जो अच्छे और बुरे दोनों तरह के हो सकते हैं, इसलिए अध्यापक के सामने यह विवादास्पद सवाल पैदा होता है कि वह अध्यापन तथा प्रशासनिक जिम्मेदारियों में से किसे तरजीह दे। अकादमिक गतिविधियों के लिए सौहार्दपूर्ण वातावरण को सुनिश्चित करने की मंशा से क्या उसे प्रशासनिक दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए अथवा उसे बस अपने अकादमिक कामों की चिंता करनी चाहिए और प्रशासनिक कार्य उनके मत्थे डाल देना चाहिए जिनको इस काम के लिए नियुक्त किया गया है?

इन सवालों पर संकाय में परस्पर विरोधी विचारों को आसानी से देखा जा सकता है। ऐसे 'शुद्धतावादी' लोग हैं जो इस पर जोर देते हैं कि अध्यापक का काम पढ़ाना,

अनुसंधान करना और अनुसंधान कार्य का निर्देशन करना है। उकसावे के कारण या किसी तर्क के कारण जब कोई अध्यापक प्रशासनिक काम को अनाड़ी की तरह करता है तो वह अपनी अध्यापन-कुशलता से तो समझौता करता ही है, इसके कारण वह अपने विद्यार्थियों से अलग-थलग भी हो जाता है। ऐसा महसूस किया जाता है कि इस पर यदि कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया तो प्रशासनिक कार्यों के साथ जुड़ी सुख-सुविधाओं के चलते बहुत से अध्यापक इसके मोहपाश में बंध जाएंगे। वे इसके लिए उदाहरण पेश करते रहे हैं जहां पर प्रशासनिक दायित्वों की भागीदारी अकादमिक कार्यों से पिंड छुड़ाने का बहाना बनी है और इसके आधार पर चोर दरवाजे से लोगों को तरक्की मिली है।

इस प्रवृत्ति के विरोधी रुख रखनेवाले अध्यापक भी हैं जिनको बेहतर शब्द के अभाव में सरोकारी (इनवाल्ड) अध्यापक कहा गया है जो प्रशासनिक कामों को अध्यापक के संपूर्ण कार्यों में शामिल करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में प्रशासनिक क्षमता और पाठ्यक्रम को सन्हालने की क्षमता में सहसंबंध है। और साफतौर से इस बात को कहना चाहें तो कह सकते हैं कि प्रशासनिक कामों से पिंड छुड़ाने की कोशिशों से अच्छे शिक्षण की स्थितियां और जटिल ही होंगी तथा सामान्य रूप से संस्था के स्वस्थ-वातावरण के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति पनपेगी, साथ ही अपने काम के प्रति अगंभीर रुख भी।

इसमें कोई शक नहीं कि इनके बीच की भी एक स्थिति है जहां पर ये दोनों ही रुख एक-दूसरे को छूते हैं। अध्यापक को प्रशासन से अलग करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है क्योंकि शिक्षण संस्थाओं में प्रशासन मूलतः अकादमिक कार्यों को इष्टतम सीमा तक स्वस्थ वातावरण सुनिश्चित करने के लिए होता है। यदि पूर्णकालिक प्रशासन कर्मियों के हाथ में प्रशासन का दायित्व दे दिया जाए तो हो सकता है कि वे अध्यापकों और छात्रों के प्रति वैसा सरोकार न दिखाएं जैसा हम चाहते हैं। इसके अलावा अध्ययन के हर विभाग में हर अध्यापक को थोड़ा बहुत प्रशासनिक काम तो करना ही होता है, चाहे यह काम पाठ्यक्रम की व्यवस्था या अनुसंधान परियोजनाओं तक ही क्यों न सीमित हो। फिर भी अध्यापकों के बीच जो पेशेवर प्रशासक हैं उनको चेतावनी देना जरूरी लगता है। यदि उनकी सेवाएं अपरिहार्य हैं तो उनको पूर्णकालिक प्रतिनियुक्ति के आधार पर रखा जाना चाहिए न कि मजबूरी में उनसे दो घोड़ों की सवारी कराई जाए।

संकायाध्यक्ष, विभागाध्यक्ष तथा प्रॉक्टर सरीखे कुछ ऐसे पद हैं जिनका सीधा संबंध अध्यापकों और छात्रों के दोस्त और मार्गदर्शक की भूमिका निभाने या पाठ्यक्रम संबंधी कार्यक्रम के प्रबंध से है। इस प्रकार के आपात कार्यों के समय यह संभव नहीं है कि ऐसे प्रशासनिक काम अध्यापकों को न सौंपे जाएं। ऐसे कामों के लिए गैर-अध्यापकों की नियुक्ति से काम नहीं चलेगा क्योंकि ऐसी संभावना नहीं है कि इस तरह के लोगों का छात्रों से वांछित तालमेल हो सकेगा।

एकता और भिन्नता

सत्ता हस्तांतरण के समय उपनिवेशवादी शासकों ने भारत को उच्च शिक्षा का एक खंडित ढांचा दिया था। मूल रूप से इसके खंडित होने के दो कारण थे। पहली बात यह थी कि विदेशी संस्कृति की और शासकों के मातृभूमि की सेवा इसकी मजबूरी थी, इसलिए शिक्षा व्यवस्था पर इसके घावों के दाग गहरे न बन सकें, ऐसा कोई रास्ता नहीं था। दूसरी बात यह थी कि उपनिवेशवादी लूट में बंदरगाहों ने अहं भूमिका निभाई जिनसे होकर कच्चामाल बाहर जाता था। इसके कारण अनेक महत्वपूर्ण दबाव अस्तित्व में आए। इनके चलते देश का ऊबड़-खाबड़ विकास हुआ और इसके आंतरिक ढांचे में जगह-जगह दरारें पड़ीं। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की यह मांग थी कि राष्ट्रीय एकता का उपकरण मान कर शिक्षाप्रणाली का पुनरीक्षण किया जाए। इस संदर्भ में विचार करने पर यह दुर्भाग्यपूर्ण लगता है कि समवर्ती सूची में रखने के बजाए शिक्षा को राज्य सूची में डाल दिया गया। जो उच्च शिक्षा मूलतः राष्ट्रीय श्रम बाजार की जरूरतें पूरी करती है वह क्षेत्रीय दबावों में ढलने को विवश हो गई। समय गुजरने के साथ उच्च शिक्षा में राष्ट्रीय तत्त्व के क्षीण होने की प्रक्रिया और अधिक गहराई और भाषाई, क्षेत्रीय तथा सांप्रदायिक संकीर्णता और बाहर के छात्रों पर परोक्ष प्रतिबंध से विश्वविद्यालय व्यवस्था ने प्रायः एक बंद व्यवस्था का रूप धारण कर लिया। आज इस स्थिति ने भयानक रूप ले लिया है।

इस प्रसंग में एक अन्य मुद्दे पर भी विचार करना आवश्यक लगता है। भ्रमवश किसी राष्ट्र की एकता को राष्ट्रीय एकरूपता नहीं समझना चाहिए। एकता बहुलता में होती है, उसके अस्वीकार में नहीं। विकास ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एकता और भिन्नता एक-दूसरे से द्वंद्वात्मक रूप से जुड़े होते हैं, वे एक-दूसरे की सापेक्षता में स्थित होते हैं। एक कोशिका (सेल) वाले अमीबा में न तो एकता होती है और न भिन्नता। जटिल मानवीय शारीरिक संरचना में ये दोनों ही बातें होती हैं। उसमें एकरूपता लाने का काम अस्मिताओं को खंडित करता है और अस्मिताओं को सहज रूप से आपस में एकीकृत होने में रुकावट पैदा करता है। एकता को हम बहुस्तरीय तथा परस्परनिर्भरता के विभिन्न सोपान क्रमों में व्यक्त होते हुए पाते हैं। वास्तव में एकरूपता एकता की विरोधी है। यदि कोई अधिक मानवीय है तो इसके कारण वह किसी से कम भारतीय नहीं हो सकता और कोई पूरा भारतीय होने के कारण किसी से कम तमिलियन नहीं हो सकता। चीजें अपनी विशिष्टता में ही सार्वभौमिक होती हैं और सार्वभौमिकता के कारण विशिष्टता के अर्थ को गहराई और विस्तार दोनों मिलते हैं। इससे दोनों का अस्तित्व संभव होता है तथा दोनों ही इसके लिए एक-दूसरे की मदद करते हैं।

ऊपर के दृष्टिकोण से विचार करने पर, खासतौर से उच्च शिक्षा के क्षेत्र में, केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण की बहस मूलतः अप्रासंगिक है। निस्संदेह यह बात सच है कि भारत जैसे विशाल और विविधतावाले देश में नए आदर्शों के रूप में क्षेत्रीय

संरक्षण, स्वायत्तता और नीचे से ऊपर की ओर बढ़ने पर अधिक जोर देने के निहितार्थ सकारात्मक हैं। लेकिन यह दृष्टिकोण अधूरा और एकांगी है तथा गलत समझ पर आधारित है कि एकता की कीमत पर स्वायत्तता मजबूत होती है अथवा क्षेत्रीय कार्य राष्ट्रीय कार्य की परिधि से बाहर हैं अथवा नीचे से ऊपर की ओर जाने के दृष्टिकोण के कारण ऊपर से नीचे आने का दृष्टिकोण व्यर्थ हो जाता है। भारत की रचना न तो एक पत्थर के खंभे जैसी है न ही वह अलग-अलग अवयवों का यांत्रिक समुच्चय है। यह विविधा में एकता है जिसकी अभिव्यक्ति एक साथ एकता में विविधता और विविधा में एकता के माध्यम से होती है।

इधर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है जो एकता-अनेकता के विवाद के संदर्भ में प्रासंगिक है। यह एक विरोधाभास है कि शैक्षिक अवसरों के विस्तार और नई प्रौद्योगिकी के उपयोग ने एकता तथा समन्वय की प्रवृत्ति को प्रभावित किया है। करोड़ों-करोड़ लोगों ने स्वतंत्रता संग्राम में इस उम्मीद से भाग लिया था कि उनकी उम्मीदें पूरी होंगी तथा उनसे जो वायदे किए गए थे, उनको भी पूरा किया जाएगा। इन लोगों के लिए स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं होगा यदि उनके वायदे पूरे किए न जाएं। शिक्षा की भूमि पर सदियों से उनके पैर नहीं पड़े थे, उनकी आकांक्षाओं में से एक यह भी आकांक्षा थी जिनको पूरा करना अपेक्षाकृत सरल काम था। जनता के उभार के सामने तथा लोक इच्छा के जबरदस्त दबाव के आगे शिक्षा अपने अभिजात स्वरूप को बरकरार नहीं रख सकी। इसको नए सामाजिक और राजनीतिक परिवेश के साथ तालमेल बैठाना पड़ा। स्वतंत्रता मिलने के बाद जो संस्थान और विश्वविद्यालय स्थापित किए गए उनको मजबूरन सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से प्रातिनिधिक होना ही था जिनमें नवाचारी तथा पुनरुद्धारक भारतीय लोकाचार की छाया मौजूद हो तथा जिनमें अंग्रेजियत की छायावाले सदोष मानदंडों का अवमूल्यन किया गया हो। इनको ऐसा ज्ञान तथा कौशल प्रदान किया गया जिससे सामाजिक रूपांतरण के लिए अपनी रचनात्मक क्षमता का उपयोग वे कर सकें।

केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण

असमान रूप से विकसित हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में शैक्षिक संस्थाओं के असमान वितरण के माध्यम से भी विभिन्नकृत एकता की समस्याओं की अभिव्यक्ति मिली।

स्वतंत्र भारत को अल्पविकास की स्थानिक संरचना विरासत में मिली थी। यह अल्प विकास सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति था, जहां बंदरगाहों के आस-पास स्थापित प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालयों (कलकत्ता, बंबई, मद्रास) में संकेंद्रित उच्च शिक्षा में 'गुणवत्ता' तथा 'दक्षता' की झलक हमें मिलती थी। लंदन विश्वविद्यालय इन विश्वविद्यालयों की 'मां' की तरह था। ये विश्वविद्यालय उसके तथा देश के दूरवर्ती भीतरी भागों में असमान और असंतुलित रूप में फैले संबद्ध कॉलेजों के बीच वाहक

नलिका का काम करते थे। समता और संख्यात्मक विस्तार की मांगें उच्च शिक्षा के फैलाव को विपरीत प्रक्रिया की तरफ ले गईं। विश्वविद्यालयों और कालेजों के स्थान को लेकर राजनीतिक बहस शुरू हो गई। इस बहस के कारण देश के अपेक्षाकृत कम विकसित क्षेत्रों में काफी बड़ी संख्या में कॉलेज खोले गए। लेकिन उच्च शिक्षा का यह स्थानिक वितरण आज भी काफी आड़ा-तिरछा जा रहा है। वर्तमान स्थिति का तकाजा यह तो नहीं है कि विकेंद्रीकरण की नीति अपनाई जाए बल्कि स्थिति का तकाजा यह है कि राष्ट्र के संपूर्ण भूभाग में केंद्रीकृत विकेंद्रीकरण अथवा विकेंद्रीकृत केंद्रीकरण की बहुस्तरीय तथा सोपानात्मक व्यवस्था की मांग की जाए। इसको क्रियान्वित तब किया जा सकता है, जब हम कुछ बातों को मानकर चलें : पहली बात यह कि शिक्षा नामक पिरामिड के अलग-अलग प्रवेश द्वार हैं; दूसरी बात यह कि इनमें से प्रत्येक स्तर का दूसरी सेवाओं में भी एक अनुवर्ती तत्त्व है। उदाहरणस्वरूप हाई स्कूल की आमतौर पर एक अनुवर्ती सेवा है, प्राथमिक चिकित्सा केंद्र, बैंक की शाखा, सिनेमा हॉल, ट्रैक्टर मरम्मत की दुकान अथवा जुमे की नमाजवाली मस्जिद। इसी प्रकार के प्रवेश द्वार पर आधारित सेवाएं प्रवृत्ति से एक ही तरह की बस्तियों में होती हैं। एक तरह के प्रवेश द्वार के साथ सेवाओं के संकेंद्रण का सिद्धांत नगरीकरण और अर्थव्यवस्थाओं के संकेंद्रण की ओर ले जाता है। इस प्रकार शिक्षा प्रणाली के विकेंद्रित केंद्रीकरण की योजना विभिन्न आकार-प्रकार की बस्तियों के शैक्षिक स्तर के अनुरूप तैयार की जा सकती है। ऐसा करने से केंद्रीकरण विकेंद्रीकृत की सापेक्ष अच्छाई की बहस को सस्ती लोकप्रियता और अभिजात वर्गीय पक्षपात, दोनों से बचाया जा सकता है और इसको राष्ट्रीय विकास में लगाया जा सकता है।

स्वायत्तता और उत्तरदायित्व

उत्तराधिकार में प्राप्त विश्वविद्यालय संचालन के मॉडल के दोष स्वतंत्र भारत में दिनोंदिन स्पष्ट होते जा रहे हैं। और उच्च शिक्षाव्यवस्था के उचित संचालन में अवरोध का रूप धारण करते जा रहे हैं। साथ ही उनमें सार्थक संरचनात्मक परिवर्तन द्वारा आत्मपरिष्कार के मार्ग का रोड़ा भी बनते जा रहे हैं। विकसित देशों में विकास के दौरान विरोधी खिंचावों (पुल्स) और दबावों द्वारा उत्पन्न संघर्ष और तनावों के संकल्प के माध्यम से नियम तथा विनियम, अधिनियम और अध्यादेश, अभिसमय तथा प्रशासन की कार्यप्रणाली का ऐतिहासिक रूप से विकास हुआ था। गतिशील संतुलन में विरूपताओं को दुरुस्त करनेवाली स्वकार्यान्वयन की यह प्रक्रिया औपनिवेशिक अतीतवाले भारत जैसे देशों में या तो गायब थी अथवा उसका विकास काफी कमजोर था। विश्वविद्यालय प्रशासन की कमजोरियों की जड़ मूलतः इसकी ऐतिहासिक कमी में है। निःसंदेह यह सच है कि स्वतंत्रता के बाद से इस व्यवस्था में बहुत से सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं और सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण से पैदा हुई नई मांगों के मुताबिक प्रशासन के

स्वरूप में परिवर्तन किए गए हैं लेकिन बहुत-सी सीमाएं अब भी वैसी की वैसी बनी हुई हैं।

स्वतंत्रता मिलने के बाद उच्च शिक्षा के प्रबंध में जो आधारभूत अंतर्विरोध सबसे तीखे रूप में सामने आया है, वह है स्वायत्तता और उत्तरदायित्व के बीच का अंतर्विरोध। इस बात को साबित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि इनमें से किसी एक का पल्लू पकड़े रहने के प्रयास के कारण एक तरफ तो काम के प्रति लगाव की भावना का हास हुआ है और इसके परिणामस्वरूप कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में प्रायः कक्षाएं लगती ही नहीं, और दूसरी तरफ इसके कारण ऐसे क्रूर कानून बनाए गए हैं जिनकी वजह से विश्वविद्यालय सरकारी विभाग बन गए हैं तथा अध्यापकों को अपने अकादमिक अथवा/और राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण पीड़ित दंडित किया जाता है। इस बात को अक्सर भुला दिया जाता है कि स्वायत्तता की प्रणाली के साथ उत्तरदायित्व की प्रणाली जुड़ी हुई है और उसकी अनुवर्ती है। संकाय के सदस्य की स्वायत्तता विभाग के संदर्भ में ही होती है जिसके प्रति वह उत्तरदायी होता है; इसी तरह विभाग की स्वायत्तता संकाय के संदर्भ में होती है और इसी के प्रति वह उत्तरदायी होता है; विश्वविद्यालय की स्वायत्तता समुदाय और राज्य के संदर्भ में होती है और समुदाय या राज्य के प्रति वह उत्तरदायी होता है। वास्तव में स्वायत्तता और उत्तरदायित्व स्वचालन, स्व-कार्यान्वयन और स्व-संशोधनवाले लोकतांत्रिक ढांचे के सिक्के के दो पहलू हैं। बिना उत्तरदायित्व के स्वायत्तता हो ही नहीं सकती है और बिना स्वायत्तता के उत्तरदायित्व संभव नहीं है।

भारतीय उच्च शिक्षा में असहमति और अनुशासन के बीच उचित संतुलन विकसित करने की भी जरूरत पैदा हो गई है—ये दोनों ही शैक्षिक प्रक्रिया के आचार के आवश्यक अंग हैं। जहां अनुशासन ऐसा साधन है जिसके माध्यम से व्यवस्था अपना काम करती है, वहीं असहमति परिवर्तन का वाहक है। बिना असहमति के अनुशासन फौजी नियंत्रण है। भारतीय शिक्षा में इसके एक छोर से हटकर दूसरे छोर पर पहुंचने की प्रवृत्ति विद्यमान रही है। इन दोनों बातों का विवेकसंगत संयोग आज भी सपना बना हुआ है।

विद्यार्थियों को नियंत्रित करने में स्वायत्तता और उत्तरदायित्व की समस्या लोगों का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट करती है, यानी उच्च अध्ययन के संस्थानों में, जहां प्रशासन के संचालन में छात्रों की भूमिका विशिष्ट अर्थ ले लेती है। इस बात को समझने के बाद ही इसका उचित आकलन संभव है कि शैक्षिक समुदाय के रूप में विश्वविद्यालय अपनी परिभाषा में ही असमानों का लोकतंत्र है। संकाय इस तथ्य को उचित महत्त्व नहीं देता कि यह सचमुच एक लोकतंत्र है, और इसके असमान घटकों में से विद्यार्थी भी एक घटक है। छात्रों और संकाय के लोगों की विश्वविद्यालय व्यवस्था की अधूरी जानकारी के दबाव की वजह से कुछेक विश्वविद्यालयों का ढांचा चरमरा गया है। दोनों ही इसको ठीक से महसूस नहीं करते हैं कि अध्यापन और अध्यापकोन्मुख शिक्षा से हटाकर अब अधिगम और छात्रोन्मुख शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा है। यह परिवर्तन अत्यंत निर्णायक है, इसलिए शिक्षक और शिक्षार्थी की भूमिका भी इसके

अनुसार बदलनी चाहिए। संकाय-छात्र (अध्यापक-छात्र) संबंधों को अब सक्रियदाता और निष्क्रिय प्राप्तकर्ता के रूप में नहीं देखना चाहिए अथवा संकाय को आतिथेय और छात्र को परजीवी भी नहीं मानना चाहिए। इसे सहजीवी के रूप में देखना चाहिए जो एक-दूसरे को सहारा देते हैं और एक-दूसरे को संपन्न बनाते हैं। इसे सीखने की साहसिक यात्रा का संयुक्त प्रयास माना जाना चाहिए। चूंकि विश्वविद्यालय एक लोकतांत्रिक संस्थान है, इसलिए इस प्रकार के मामलों जैसे पाठ्यक्रम के चुनाव में, अध्यापकों की तुलना में छात्रों के विचारों का न सिर्फ सम्मान किया जाना चाहिए बल्कि उनको इस मामले में प्रोत्साहित भी किया जाना चाहिए। चूंकि यह असमान लोगों का लोकतंत्र है इसलिए संकाय के प्रति छात्रों के उत्तरदायित्व को दुबारा बहाल और सुदृढ़ किया जाना चाहिए।

स्वतंत्र भारत के शैक्षिक विकास के प्रक्षेप वक्र का निर्धारण विपरीत दिशा में दबाव डालनेवाले दो कारकों द्वारा हुआ है—गोकि दोनों कारक अपने स्वरूप में मूलतः सकारात्मक हैं। किसी विशेष दिशा में दोषपूर्ण विकास को दुरुस्त करने के लिए नीति में परिवर्तन किए गए हैं, इनसे विपरीत दिशा की तरफ जानेवाले पूरक दबावों का जन्म हुआ है। स्वतंत्रता मिलने के बाद से शैक्षिक नीति में जो कुछ दिशाहीन भटकाव जैसा दिखता है, उनको पूरक विधियों का क्रियान्वयन माना जाना चाहिए, जो अल्पविकास से विकास की तरफ संक्रमण के उथलपुथल से जन्मी हैं। इस सिद्धांत के लिए उदाहरण के रूप में दो परस्पर विरोधी दिखनेवाले उद्देश्यों के पारस्परिक आदान-प्रदान को पेश किया जा सकता है जो एक सामान्य नीति के अंतर्गत द्वंद्वात्मक रूप से एकीकृत हैं।

- (1) संख्यात्मक विस्तार और गुणात्मक सुधार की जो मांगें एक-दूसरे को विपरीत दिशा में ढेलती रही हैं लेकिन साथ ही आपस में गतिशील संतुलन कायम करने में एक-दूसरे के लिए मददगार रही हैं।
- (2) समता और दक्षता के दबाव, यद्यपि दीर्घकाल में एक-दूसरे से आपस में मिल जाते हैं लेकिन अल्पावधि में इनका प्रक्षेप वक्र प्रायः विरोधी दिशाओं में जाता प्रतीत होता है। लेकिन इस प्रक्रिया में इनमें संतुलन कायम रहा और अंतर बहुत ही मामूली था।
- (3) एक ओर शैक्षिक नीतियों का उद्देश्य 'उपयोगी' बनाना था, साथ ही दूसरी ओर इनका उद्देश्य 'अच्छे' नागरिक भी बनाना था लेकिन इस उद्देश्य ने ठीक उसी दिशा में प्रगति नहीं की है। इससे कभी-कभी दक्षता-निर्माण की जरूरतों तथा मानवीय व्यक्तित्व के समग्र निर्माण के बीच दरार पड़ी। इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित कर इसकी एकांगिता को समाप्त करने की कोशिश अक्सर बेजान तरीके और आधे मन से की गई।
- (4) प्रतिबद्धता-तटस्थता का ध्रुवीकरण विद्वत् समुदाय और सत्ता के गलियारे, दोनों को परेशान करता रहा है। पर्यावरण की दृष्टि से स्वच्छ, मानवीय और आधारभूत राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए प्रतिबद्धता का कठिन रास्ता और संकीर्ण दकियानूस तथा

क्षुद्र वफादारी के लिए प्रतिबद्धता को गलती से एक नहीं मानना चाहिए। सत्ता के दलालों की तिकड़मों के प्रति तटस्थता और वैज्ञानिक विश्लेषणो तथा किसी तर्क के विभिन्न पहलुओं के निष्पक्ष आकलन के अस्वीकार को भी एक नहीं समझना चाहिए।

- (5) 'विशुद्ध' अकादमिशियन जो शिक्षा व्यवस्था के गंदे प्रशासनिक क्षेत्र के दायित्व निर्वाह में अपना समय 'नष्ट' नहीं करना चाहता है, और 'सरोकारी' अध्यापक जो गैर-अकादमिक कार्यों में इतना डूबा हुआ है कि अध्यापन और अनुसंधान के लिए उसके पास समय नहीं बचता। संकाय के यह दो विरोधी चित्र हैं। शिक्षक समुदाय के एक सजग तथा ईमानदार सदस्य के रूप में कोई शिक्षक अपनी बहुपक्षीय भूमिका कैसे अदा करता है, यह ज्यादातर उसके अपने व्यक्तित्व तथा उस संस्था में काम के प्रति लोकाचार पर निर्भर करता है। लेकिन हर अध्यापक का अपनी संस्था के प्रति, अपने पेशे के प्रति, अपने समुदाय के प्रति और अपने छात्रों के प्रति यह कर्तव्य है कि बिना शिक्षा तथा अनुसंधान जैसे प्राथमिक कार्यों को क्षति पहुंचाए, वह अपना कुछ समय अकादमिक प्रशासन पर लगाए।
- (6) भारतीय राजनीति की विविधता को एक सूत्र में पिरोने के लिए उच्च शिक्षा एक महत्वपूर्ण उपकरण है। इससे दोनों तरह के अंधकूपों में गिरने से बचा जा सकता है; पहला अंधकूप है क्षेत्रीय तथा धार्मिक सत्ताओं का एक रूप होकर अपनी पहचान खोकर एक साथ मिल जाना और दूसरा है, एक दूसरे से टकराती हुई इन सत्ताओं का टुकड़े-टुकड़े होकर बंद व्यवस्थाओं का रूप ग्रहण करना। एकता बहुलता में होती है, उसके नकार में नहीं।
- (7) शैक्षिक सुविधाओं के केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण पर विपरीत दिशाओं के दबावों से उच्च शिक्षाव्यवस्था की विविधता में एकता को क्षति पहुंचती है। चूंकि उच्च शिक्षा काफी खर्चीली है इसलिए बिना सोचे-समझे विभिन्न क्षेत्रों में बिना काम की सुविधाओं की उपलब्धता के उच्च शिक्षण संस्थानों को खोलना निरर्थक है। इसके विपरीत जरूरत से अधिक केंद्रीकरण क्षेत्रीय संतुलन को नष्ट करता है और विखंडन की प्रवृत्तियों को उससे बढ़ावा मिलता है।
- (8) अंतिम विश्लेषण में, विश्वविद्यालय व्यवस्था की स्थिति स्वायत्तता और उत्तरदायित्व के विपरीत दिशाओं में सापेक्ष दबाव पर निर्भर करती है। विशेष रूप से ऐसा इसलिए है कि स्वायत्ततावाला ही दायित्ववाला हो सकता है, और दायित्ववाला ही स्वायत्त हो सकता है।

एक यंत्र मानव न तो स्वायत्त होता है और न दायित्व बोध संपन्न। इसलिए यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि एक-दूसरे के आगे-पीछे चलने की जगह दोनों विपरीत दिशाओं की ओर चले गए हैं और एक तरफ तो इनके चलते विश्वविद्यालय छिन्नभिन्न हो गए हैं, कार्य के प्रति नैतिक दायित्व में कमी के कारण वे अराजक हालत में पहुंच गए हैं और दूसरी ओर भयानक नियमों के कारण विश्वविद्यालयों को व्यूह में बदल दिया गया है। बिना दायित्व बोध के कोई स्वायत्तता संभव नहीं है और बिना स्वायत्तता के दायित्व बोध की कल्पना नहीं की जा सकती।

अध्याय आठ

उच्च शिक्षा में मूल्यांकन

मूल्यांकन की प्रणाली शिक्षाप्रणाली का अभिन्न अंग होती है। स्वतंत्र भारत में एक नई मूल्यांकन प्रणाली विकसित करने की चुनौती के प्रति संकाय तथा छात्रगण, दोनों का ही धीमी एवं दिग्भ्रमित प्रतिक्रिया भारतीय अभिजात वर्ग के मानस पर औपनिवेशिक भारत की शिक्षाप्रणाली की सख्त जकड़ का परिणाम है। यूरोप में नई शिक्षाप्रणाली का उदय पुरानी प्रणाली के गर्भ से सामाजिक रूपांतरण की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ। इसके विपरीत भारत में नई शिक्षा बाहर से लादी गई, ऐसी वस्तु पैदा करने के लिए उसको इस धरती पर रोपा गया था जिसकी साम्राज्य की आवश्यकता थी, यानी ब्रिटिश शासन को पढ़े-लिखे चाकरों की आवश्यकता थी। पुरानी प्रणाली जहां पहले ही जड़भूत हो चुकी थी, वहीं नई प्रणाली दुष्क्रियात्मक और कुल मिलाकर 'अनुत्पादक तृतीयक क्षेत्र के लिए कन्वेयर बेल्ट पर सामान तैयार करके' अल्पविकास को बढ़ावा देने में मदद कर सकती थी।

परीक्षा प्रणाली का वर्तमान संकट विरासत में मिली दुष्क्रियात्मक संरचना तथा विकासमान अर्थव्यवस्था और समाज के बीच के अंतर्विरोध का नतीजा है। औपनिवेशिक भारत की शिक्षाप्रणाली में मूल्यांकन का कार्य सिर्फ इतना था कि मुख्यतः तथाकथित सेवा-क्षेत्र के रोजगार बाजार के लिए शिक्षा की दुकानों में पैदा किए जा रहे मालों पर भिन्न-भिन्न 'गुणवत्ताओं' का ठप्पा लगाए। अनुत्पादक बाजार की आवश्यकताएं मोटे तौर पर एकरस थीं, इसलिए मूल्यांकन प्रणाली में भी एकरसता थी। प्रदत्त सत्य को बिना किसी टीकाटिप्पणी के ग्रहण करने की योग्यता एकरस, बाह्य एकांतिक और व्यापक निबंधमूलक परीक्षा के माध्यम से बेहतरीन ढंग से जानी जा सकती थी। मगर विकासमान अर्थव्यवस्था तथा जनतांत्रिक समाज हमारे शैक्षिक प्रयास में व्यापक परिवर्तन की मांग करते हैं और मूल्यांकन प्रणाली को इस मांग को पूरा करना होगा।

अध्यापन-अध्यापक-उन्मुख शिक्षा से अधिगम-शिक्षार्थी-उन्मुख शिक्षा की तरफ निर्णायक परिवर्तन आवश्यक है। संकाय तथा छात्र के संबंध को अब सक्रिय दाता निष्क्रिय ग्रहणकर्ता, या आधार-जीव और परजीवी के संबंध के रूप में न देखकर सहजीवी संबंध के रूप में देखा जाना चाहिए जो दोनों को सहारा देता हो, दोनों को समृद्ध बनाता हो और जिसमें दोनों अधिगम की महान् गाथा में एक संयुक्त प्रयास के सहभागी

हों। शिक्षा प्रेम की तरह होती है; यानी आप इससे तभी कुछ पा सकते हैं जब आप कुछ दें और तभी कुछ दे सकते हैं जब आप कुछ पाएं। इस परिप्रेक्ष्य में प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में प्रचलित गुरु-शिष्य परंपरा के उल्लेख का लोभ रोक सकना बहुत ही कठिन है। चाहे सत्ता के गलियारों में प्राप्य यथार्थपरक वातावरण हो या किसी सेमिनार का दुर्लभ वातावरण, यह लचर दलील ऐसा सुगमतम विषय होती है जिसके इर्द-गिर्द अकसर-बेशतर हवाई बातों का तानाबाना बुना जाता है। कौन-सा ऐसा धर्मद्रोही होगा जो उस प्राचीनकालीन गुरु की नैतिक उच्चता के सामने सर न झुकाए जो बरगद के पेड़ तले बैठा अपने शिष्यों को बुद्धि का अमृतरस पिला रहा हो, या उस शिष्य को हैरान होकर न देखे जो गुरु के मुख से फूटनेवाली अमृतधारा को अंतिम सत्य मानकर बूंद-बूंद पी रहा हो, जो खुशी से गुरु के चरण धोता हो, उसके मवेशी पालता हो, उसकी कुटीर की सफाई करता हो, और यह सब करने की आज्ञा मिल जाने पर गौरवान्वित अनुभव करता हो, लानत है उस मुर्दा दिल इंसान पर जो नालंदा, तक्षशिला या हौज खास मदरसे की बात सोचे, जो भारत नाम के गौरवमय आश्चर्य की बात सोचे और उसके दिल की धड़कनें न तेज हों!

ऐसा नहीं है कि अतीत के अंधेरे खंडहरों में पनाह लेने का लोभ रोकने के लिए रुढ़िभंजक होना आवश्यक हो, परंपरा का आदर करना और उसका सार्थक उपयोग करना एक बात है और वर्तमान की समझ को धुंधलका बनाने के लिए इसका उपयोग करना बिल्कुल दूसरी बात है। गुरु-शिष्य-परंपरा का जन्म उस सामंती समाज में हुआ (और इसकी जड़ें वहीं थीं) जिसमें हमारी जनता के अधिसंख्यक भाग को शिक्षा के पवित्र क्षेत्र से बाहर रखा गया था, और इस परंपरा का आधार यह कहावत थी कि गुरु जीवनमय बीज उपलब्ध कराता है और शिष्य उसे ग्रहण करनेवाला जीवनरहित भूमि के समान होता है। उस शिष्य के समय में इस परंपरा की चाहे जो उपयोगिता रही हो, अब वह उसी कदर अप्रासंगिक हो चुकी है जिस तरह नक्षत्र विज्ञान में भूकेंद्रित ब्रह्मांड के सिद्धांत रसायनशास्त्र में चार तत्त्वों के सिद्धांत तथा औषधिविज्ञान में चार काम-रसों के सिद्धांत बेकार हो चुके हैं। अब गुरु मर चुका है और उसका स्थान उस प्रोफेसर ने ले लिया है जो अपने अनुसंधान पत्र यदि प्रकाशित न कराए तो मिट जाए। शिष्य भी मर चुका है और उसकी जगह वे आ गए हैं जो सवाल पूछते हैं, भले वे यह साफ-साफ न जानते हों कि वे किस चीज के बारे में सवाल कर रहे हैं। आधुनिक भारत में मूल्यांकन प्रणाली को इस बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल ढलना होगा।

आवश्यकता अब इसकी भी है कि विरोध तथा अनुशासन के बीच समुचित तालमेल पैदा किया जाए जो शैक्षिक प्रक्रिया के लोकाचार के दो आवश्यक तत्त्व हैं। जहां अनुशासन वह साधन है जिसके द्वारा प्रणाली अपना कार्य करती है, वहीं विरोध परिवर्तन का वाहक होता है। विरोध के बिना अनुशासन का अर्थ है जड़वत कठोर नियंत्रण और अनुशासन के बिना विरोध अराजकता की शक्ति अख्तियार करता है। भारत में

हो यह रहा है कि हम एक अति से दूसरी अति की तरफ आते-जाते रहते हैं मगर इन दोनों का एक बुद्धिसंगत समन्वय अभी तक हमारी पहुंच से बाहर है। मूल्यांकन की प्रणाली समकालीन समाज की इस बदती हुई आवश्यकता के अनुकूल ढलनी चाहिए।

इस नए संदर्भ में मूल्यांकन के उद्देश्यों को पुनर्परिभाषित करना आवश्यक है, खासकर इसलिए कि उपाधि से रोजगार का संबंध तोड़े जाने की बढ़ती स्वीकृति के कारण तथा नियुक्ति की दृष्टि से रोजगारदाताओं द्वारा मूल्यांकन की अपनी-अपनी विधियां विकसित करने के वर्तमान अमल के कारण हमारी परीक्षा प्रणाली का 'आई-एस-आई मार्का कार्य' अब एकदम अप्रासंगिक हो चुका है। अपने इस फालतू कार्यभार के अप्रासंगिक हो जाने के बाद अब मूल्यांकन की प्रणाली को स्वयं अधिगम-अध्यापन-प्रक्रिया के अंतःजन्य ढांचे के अंदर ही अपनी समस्याओं से जुड़ना पड़ेगा। इसलिए मूल्यांकन को अधिगम-अध्यापन-प्रक्रिया का बाहरी पुछल्ला न समझकर अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए तथा इसी संदर्भ में इसके उद्देश्यों को नए सिरे से परिभाषित किया जाना चाहिए।

इस दृष्टि से देखें तो मूल्यांकन परिभाषा के स्तर पर ही एक निरंतर प्रक्रिया ठहरती है और यह,

- (अ) शिक्षार्थी को स्वयं अधिगम (लर्निंग) की प्रक्रिया के द्वारा अपने अधिगम के कमजोर तथा मजबूत पक्षों को समझने में समर्थ बनाकर अधिगम की प्रक्रिया में, तथा
- (ब) अपने अनुशिक्षण (इंस्ट्रक्शन) के प्रति छात्रों की प्रतिक्रियाओं को समझकर इसके कमजोर तथा मजबूत पक्षों को समझ सकने में अध्यापक को समर्थ बनाकर अनुशिक्षण की प्रक्रिया में अपना योगदान देती है।

गुणवत्ता और परिमाण

उपरोक्त उद्देश्यों की दृष्टि से मूल्यांकन की मूलभूत समस्या यह है कि छात्र की योग्यता का सीधे-सीधे मापन नहीं किया जा सकता जो अधिगम-अध्यापन-प्रक्रिया की उपज है और एक गुण है। यह एक एकीकृत, जटिल तत्त्व है और इसके सभी अंग-उपांग एवं लक्षण आपस में इस प्रकार गुंथे हुए हैं कि मापन के लिए उनको अलग-अलग करना संभव नहीं है। ये अंग-उपांग तथा लक्षण स्वयं भी कुछ गुण हैं तथा इनको हम किसी मापदंड पर नहीं ला सकते हैं।

गुण तथा परिणाम दोनों ही वस्तुगत यथार्थ के पहलू हैं। गुण का संबंध उस चीज से है जो किसी वस्तु-विशेष को वह वस्तु-विशेष बनाती है; यह उस वस्तु की अपनी पहचान का प्रतिबिंब है। इसलिए इसे समांग भागों में नहीं बांटा जा सकता, जब कभी इसे इस प्रकार तोड़ा जाएगा, उस वस्तु की अपनी पहचान नष्ट हो जाएगी। परिणामस्वरूप, इसे स्वयं में नहीं मापा जा सकता। चूंकि गुणवत्ता के अपने चरित्र को बदले बिना उसे घटाया-बढ़ाया जा सकता है, इसलिए परिमाणात्मक मूल्यांकन के लिए

176 शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

हमें गुणवत्ता के परिमाणात्मक सूचक चुनने पड़ते हैं। आइए, हम क्षेत्रीय विकास में हो रहे शोधकार्य से एक उदाहरण दें। विभिन्न क्षेत्रों के विकास के स्तर को मापने से जुड़ी समस्याएं छात्रों के किसी वर्ग की योग्यता के मापन से जुड़ी समस्याओं से मिलती-जुलती हैं। विकास एक गुण है और इसे सीधे-सीधे नहीं मापा जा सकता। इसलिए विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए परिमाणात्मक सूचकों का चयन अपरिहार्य हो जाता है। क्षेत्रीय नियोजन के अपने विश्लेषणात्मक ढांचे के अनुसार निम्न मापनीय सूचकों का चयन किया जा सकता है :

- (1) भूमि-सामर्थ्य का सूचकांक,
- (2) शुष्कता का सूचकांक;
- (3) प्रति व्यक्ति आय;
- (4) श्रमशक्ति में द्वितीयक क्षेत्र का प्रतिशत भाग;
- (5) नगरीकरण का सूचकांक;
- (6) साक्षरता की दर;
- (7) कुल जनसंख्या में वंचित समुदायों का भाग, तथा
- (8) कुल स्त्री जनसंख्या में कार्यकारी महिलाओं का भाग।

इन सूचकों को चाहे अकेले लें या एक साथ मिलाकर लें, इनके मान के पता लगने पर क्षेत्रीय योजनाकारों को अपने अध्ययन में शामिल क्षेत्रों में हुए विकास के स्तर का गुणात्मक मूल्यांकन करने में सहायता मिलती है। यहां ध्यान रखें कि सूचकों का चयन तथा उनको दिए गए भारमान स्वयं उस सिद्धांत पर निर्भर होते हैं जिसे योजनाकार ने विकसित किया है। यह कार्य मूल्यनिरपेक्ष नहीं होता। उदाहरण के लिए सऊदी अरब या भारत के कट्टर पंथी 'कुल स्त्री जनसंख्या में कार्यकारी महिलाओं का भाग' को विकास का सूचक नहीं मानेंगे। इसी तरह 'ग्रामवाद' के समर्थक 'नगरीकरण के सूचकांक' को या 'श्रमशक्ति में द्वितीयक क्षेत्र के प्रतिशत भाग' को सूचक के रूप में खारिज कर देंगे।

सिद्धांत की खोज

मूल्यांकन की विधियों की जड़ें भी सिद्धांत में ही निहित होती हैं। यह और बात है कि किसी समय परीक्षक इसूके प्रति सचेत न हो या फिर अपने पूर्वाग्रहों को तथाकथित वस्तुनिष्ठ मानदंडों की एक विशाल शृंखला में से किसी न किसी मानदंड के पर्दे में छिपाने की कोशिश करे। ज्ञान पूर्वनिर्धारित, निरपेक्ष तथा प्राप्य होता है और शिक्षा का कार्य इसकी निर्धारित मात्रा को नई पीढ़ी तक पहुंचाना है, इस अवधारणा पर

आधारित सिद्धांत को लें तो मूल्यांकन के ऐसे उपकरण पैदा होंगे जो सूचना के प्रति उन्मुख होंगे तथा मौलिकता व विरोध को ऋणात्मक अंक देंगे। बहरहाल, रेज़ के अज्ञान के नियम के अनुसार एक वैकल्पिक सिद्धांत भी विकसित हो सकता है। इस नियम के अनुसार ज्ञात का क्षेत्र तथा ज्ञात से अज्ञात बननेवाले क्षेत्र का अनुपात स्थिर होता है। सैद्धांतिक संरचनाओं की इस प्रणाली में ज्ञान को गतिमान तथा परिवर्तन की एक निरंतर प्रक्रिया में शामिल तत्त्व माना जाता है। इससे मूल्यांकन के ऐसे उपकरण निकलेंगे जो प्राप्त सूचना के भारी बोझ को लादने की क्षमता से अधिक महत्त्व शिक्षार्थी की तलाश की योग्यता को देंगे तथा विरोध एवं मौलिकता को धनात्मक अंक देंगे। इस तरह मूल्यांकन के समुचित उपकरणों की तलाश वास्तव में एक सिद्धांत की तलाश होती है।

जिस सैद्धांतिक ढांचे के अंदर मूल्यांकन के उपकरण विकसित किए जाने हैं, वह निम्न अवधारणाओं पर आधारित होना चाहिए :

- (अ) ब्रह्मांड, अंतर्निर्भरताओं की एक प्रणाली है और इसका ज्ञान मनुष्य व प्रकृति की अंतःक्रिया से उत्पन्न सामाजिक व्यवहार की एक जटिल, रचनात्मक एवं सक्रिय प्रक्रिया का परिणाम होता है;
- (ब) उपरोक्त के परिणामस्वरूप ज्ञान निरंतर वृद्धिमान, निरंतर विकासमान तथा निरंतर परिवर्तनशील होता है और स्थापित मूल्यों को चुनौती देना, प्रदत्त ज्ञान का विरोध करना तथा अनजाने रास्तों पर चलकर नवाचार (इनोवेशन) को जन्म देना ज्ञान के क्षेत्र में विकास का मूलभूत साधन होता है;
- (स) नया ज्ञान पूर्व संचित ज्ञान से पुराने को खारिज करने तथा नए में पुराने को आत्मसात करने की दोहरी प्रक्रियाओं के द्वारा उपजता है, और यह दोहरी प्रक्रिया संचित ज्ञान पर अधिकार का तकाजा करती है तथा कोई व्यक्ति क्या खारिज तथा क्या आत्मसात करना है, इसे जाने बिना न तो कुछ खारिज कर सकता है और न ही कुछ आत्मसात कर सकता है;
- (द) उपरोक्त के परिणामस्वरूप अधिगम की प्रक्रिया में केंद्रीय महत्त्व ज्ञानार्जन का होता है न कि मृतवत् सूचना को निष्क्रिय रूप से ग्रहण करने का; और
- (य) अधिगम की प्रक्रिया में सिद्धांत तथा व्यवहार घनिष्ठ रूप से परस्पर संबद्ध होते हैं; व्यवहार के बिना सिद्धांत बांझ होता है और सिद्धांत के बिना व्यवहार दृष्टिहीन होता है।

अगर ये बातें किसी शैक्षिक सिद्धांत के आधार हों तो किसी शिक्षार्थी की योग्यता के जिन लक्षणों के मूल्यांकन की आशा मूल्यांकन के उपकरणों से की जा सकती है, वे निम्नांकित होंगे :

- (अ) संचित ज्ञान पर समुचित अधिकार;
- (ब) प्राप्त ज्ञान को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने, अर्थात् उसकी आंतरिक असंगतियों

तथा परिवर्तनशील यथार्थ से उसकी अतारतम्यता, दोनों को पहचानने की योग्यता; तथा

- (स) अंतर्निर्भरताओं की प्रणाली में परिघटनाओं (फेनामेना) की पहचान, व्याख्या तथा भविष्यवाणी करने के लिए विश्लेषण के उपकरणों को विकसित करने और उनका उपयोग करने की योग्यता।

मूल्यांकन के उपकरण

हालांकि सामान्यीकरण के बहुत-कुछ ऊंचे स्तर पर लक्षणों की पहचान की जा सकती है और इस दृष्टि से वे किसी शास्त्र विशेष से निरपेक्ष होते हैं, मगर जिन सूचकों के द्वारा उन्हें स्पष्ट किया जाता है, वे काफी हद तक शास्त्रों के अनुसार भिन्न-भिन्न एवं विशिष्ट होते हैं और इनमें सामान्यीकरण का काम कठिन हो सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में केवल यह किया गया है कि भूगोल विषय में स्नातकोत्तर स्तर पर यद्यपि लक्षणों के अनुसार सामान्यीकरण के बहुत-कुछ ऊंचे स्तर पर लक्षणों की पहचान की जा सकती है और इस दृष्टि से वे किसी शास्त्र-विशेष से निरपेक्ष होते हैं, मगर जिन सूचकों के द्वारा उन्हें स्पष्ट किया जाता है काफी हद तक उनका स्वरूप शास्त्रों के अनुसार भिन्न होता है, एवं विशिष्ट भी और ऐसी स्थिति में सामान्यीकरण का काम कठिन हो सकता है। प्रस्तुत खंड में केवल यह किया गया है कि भूगोल विषय में स्नातकोत्तर स्तर पर लक्षणों के अनुसार मूल्यांकन के विशिष्ट उपकरणों को गिनवाया गया है। ये उपकरण इस क्षेत्र में वर्षों के अनुभव के बाद विकसित किए गए हैं।

पहला लक्षण प्रासंगिक तथ्यों को स्मरण करने, पहचान करने, चयन करने, वर्गीकरण करने, तुलना करने, सार्थक तथा कम सार्थक के बीच अंतर करने, त्रुटियों की खोजबीन करने, संबंधों को पहचानने, उनको विस्तार से रखने तथा उनकी व्याख्या करने से संबंधित होता है। इस लक्षण को मापने के लिए समुचित प्रश्नावलियों का तथा बहु-स्तरीय या गलत/सही की समझ को स्पष्ट करनेवाले वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का विकास किया जा सकता है। फिर भी, ध्यान रहे कि ये सभी परीक्षण विद्यमान सूचना के आधार के लिए अधिक उपयुक्त हैं तथा आमतौर पर उसी के मूल्यांकन के लिए इनका इस्तेमाल होता है। कहने का अर्थ यह नहीं कि वस्तुनिष्ठ परीक्षण समझ या गहन अंतर्दृष्टि के मूल्यांकन में समर्थ नहीं हैं। उदाहरण के लिए नीचे दिए गए बहु-उत्तरीय प्रश्न अध्ययन में शामिल परिघटना (फेनोमेना) की स्पष्ट समझ का तकाजा करते हैं :

प्रश्न-1 : अगर हिमालय न होता तो निम्न बातों में से किसके घटित होने की सर्वाधिक संभावना होती ?

- (अ) उत्तर भारत एक रेगिस्तान होता;

- (ब) उत्तर भारत में शीत ऋतु में शून्य से भी कम ताप होता;
(स) उत्तर भारत की जलवायु में केवल मामूली परिवर्तन होता।

प्रश्न-2 : अगर आप अपनी बावर्चिन से विवाह करें तो देश की राष्ट्रीय आय पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

- (अ) इसमें वृद्धि होगी;
(ब) इसमें हास होगा;
(स) यह अप्रभावित रहेगा।

फिर भी ऐसे प्रश्नों के निर्धारण में परीक्षक का जहां तक संबंध है, बहुत ऊंचे स्तर की योग्यता की जरूरत होगी, और अकसर तथाकथित 'तथ्यपरक' या 'पहचानमूलक' प्रश्नों का निर्धारण करते समय न्यूनतम प्रतिरोध का सिद्धांत अपनाया जाता है। इसलिए इन उपकरणों के पूरक रूप में ऐसे संक्षिप्त उत्तरवाले परीक्षणों का उपयोग वांछनीय है जो अंतर करने की, संबंधों की पहचान करने तथा उनकी व्याख्या करने की योग्यता के परीक्षण के लिए अधिक आसानी से ढाले जा सकें। लेकिन संक्षिप्त उत्तरवाले परीक्षण चाहे जितनी बुद्धिमत्ता के साथ प्रयोग किए जाएं, वे जटिल तथा दुरूह संबंधों को ग्रहण करने की क्षमता के मूल्यांकन में बाधाएं उत्पन्न करते हैं। इस योग्यता के मूल्यांकन के लिए लंबे समय से चली आ रही छोटे-बड़े निबंधवाली शैली का कोई विकल्प नहीं है। पारंपरिक प्रणाली की तरह सभी लक्षणों के परीक्षण के लिए इसका उपयोग नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि उपरोक्त सीमित उद्देश्य के लिए इसके उपयोग को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

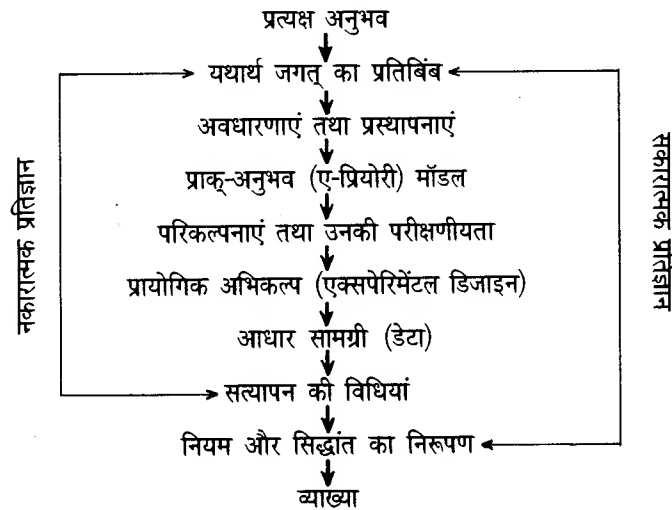
वस्तुनिष्ठ प्रश्न, संक्षिप्त उत्तरवाले प्रश्न तथा छोटे-बड़े निबंध पूरे एक वर्ष के काल में फैले सत्रीय मूल्यांकन के तत्त्व होने के नाते अपने-आप में बहुत उपयोगी हैं। फिर भी अगर उनका मिलाकर उपयोग करें तो भी, वे शिक्षा सत्र के अंत की व्यापक निबंधमूलक उस परीक्षा का स्थान नहीं ले सकते जो पूरे पाठ्यक्रम की और विशेषकर उसकी इकाइयों के बीच के संबंधों की शिक्षार्थी की समझ के मूल्यांकन के लिए सबसे प्रभावी उपकरण है। पेड़ों को देखकर जंगल की अनदेखी न करनी हो तो सचमुच इसके सीमित उपयोग-क्षेत्र की स्पष्ट समझ के साथ इस परंपरागत उपकरण का उपयोग जारी रखना होगा।

प्राप्त ज्ञान को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने तथा वैकल्पिक मॉडलों के विकास में योगदान कर सकने की योग्यता का मापन बहुत कठिन है। इस क्षेत्र में मूल्यांकन के उपकरणों के निर्धारण में परीक्षक को सबसे अधिक बोझ अपने दिमाग पर डालना होता है। इस जटिल समस्या के एक प्रकार के हल पठन तथा/अथवा सेमिनार पाठ्यक्रमों तथा उनसे संबद्ध मूल्यांकन विधियों के रूप में ढूंढ़े जा सकते हैं। फिर भी ध्यान रहे कि वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक आलेख में अंतर कर सकना बहुत कठिन होता है और संकाय अकसर इस लक्षण का मूल्यांकन करने में नाकाम रहता है। इस दुरूह

180 शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

समस्या के दूसरे प्रकार के हल उपयुक्त विषयों पर लिखे गए टर्म-पेपर्स के मूल्यांकन में ढूँढ़े जा सकते हैं। फिर भी, टर्म-पेपर्स के लिए पर्याप्त संख्या में विषय का चयन आसान नहीं होता और ऐसा प्रायः होता है कि इस सूची में विषय दोहराए गए हों और सूची ही नीरस होकर रह जाए। कभी-कभी यह बात भुला दी जाती है कि शिक्षार्थी के मूल्यांकन के लिए उपकरण विकसित करने की प्रक्रिया में संकाय का सदस्य अपना खुद का भी मूल्यांकन करता है। अगर उसके अपने अनुसंधान-कार्य का सोता सूख रहा हो तो छात्र के इस लक्षण के मूल्यांकन संबंधी उसकी अपनी योग्यता सीमित ही होगी, और कोई भी मेधावी छात्र इसे कठिन नहीं पाएगा।

पहचान, व्याख्यान तथा भविष्यवाणी संबंधी विश्लेषणात्मक उपकरणों के विकास तथा उपयोग की योग्यता का परीक्षण निम्नलिखित मॉडल के आधार पर किया जा सकता है :



यथार्थ जगत् के प्रतिबिंबों से अवधारणाएं तथा प्रस्थापनाएं विकसित करने की योग्यता का परीक्षण फील्ड वर्क के द्वारा किया जाता है तथा/अथवा साहित्य-सर्वेक्षण के द्वारा, जिसमें छात्रों को दूसरों के द्वारा विकसित अवधारणाओं और प्रस्थापनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए हमारे छात्रों को छः तथा चार सप्ताहों की दो इकाइयों में कुल दस सप्ताह फील्ड में गुजारने पड़ते हैं जिसके लिए उन्हें क्रेडिट दिए जाते हैं तथा उनसे आशा की जाती है कि वे अपने फील्ड के अनुभव से अवधारणाएं और प्रस्थापनाएं विकसित करें। स्नातकोत्तर स्तर पर साहित्य-सर्वेक्षण तथा पुस्तक-समीक्षाएं भी प्रशिक्षण कार्यक्रम के मूलभूत तत्त्व होते हैं।

सत्यापन की विधियां गणित, सांख्यिकी, मानचित्रण तथा फोटो की व्याख्या संबंधी कुशलताओं का तकाजा करती हैं। इन कुशलताओं का परीक्षण पूरे टर्म के कालक्रम में फैली उन व्यावहारिक परीक्षाओं द्वारा किया जाता है जो सांख्यिकीय, मानचित्रण तथा फोटो-व्याख्या की प्रयोगशालाओं में ली जाती हैं। ये परीक्षाएं शिक्षा सत्र के अंत में ली जानेवाली परीक्षा का अंग भी होती हैं।

तर्क शक्ति का परीक्षण उन सभी अभ्यासों के द्वारा किया जाता है जिनको करने की छात्रों से अपेक्षा की जाती है, खासकर टर्म के पर्वों तथा सेमिनारों के द्वारा।

अवधारणाएं तथा संघटन

कई एक मापनीय लक्षणों या पाठ्यक्रमों के आधार पर किसी छात्र के अंतिम परिणाम के लिए उसका मूल्यांकन करने की समस्या मूलतः एक ऐसी बहुचरीय अवधारणा के मापन की समस्या है जिसे सीधे-सीधे परिमाणात्मक आधार नहीं दिया जा सकता, मगर जो अनेक मापनीय आयामों में प्रकट होती है। जब लक्षणों/पाठ्यक्रमों (एट्रीब्यूट्स/कोर्सेज) के आधार पर n छात्रों का मूल्यांकन करना हो तो गणितीय दृष्टि से यह माना जा सकता है कि प्रश्न n पंक्तियों (रो) तथा m स्तंभों (कालम) वाले किसी आधारत्री (मैट्रिक्स) को एन तत्त्वों वाले एक स्तंभ-सदिश में परिवर्तित करने का है। रैखिक समुच्चयी समाकृतियों (जिनको इस तरह के संघटनों (कंपोजीशन) के लिए आमतौर पर वैध माना जाता है) के ढांचे के अंदर, यह माना जा सकता है कि समस्या एक m तत्त्वों वाले एक स्तंभ रूपांतरण-सदिश (कालम ट्रांसफार्मेशन वेक्टर) w को, जो आधारत्री 'X' का मानचित्रण करता है, n तत्त्वों वाले एक स्तंभ-सदिश y में निर्धारित करने की है, और यह संबंध $y = Xw$ प्रकार का है।

इसलिए किसी छात्र संख्या के संघटित ग्रेड को

$$y_i = \sum x_{ij} w_j$$

के रूप में लिखा जा सकता है, जबकि x_{ij} उस छात्र विशेष द्वारा लक्षण/पाठ्यक्रम संख्या j में प्राप्त किया गया ग्रेड है और w_j संगत भारमान है।

बहरहाल, भारमानों (वेटेज) की प्रणाली पर आधारित संघटन (कंपोजीशन) की समस्या बहुत जानी-पहचानी है और यह अकादमीय अनुसंधान की विभिन्न शाखाओं में, खासकर मानव-व्यवहार से सरोकार रखनेवाले कम यथातथ्य विज्ञानों में, विभिन्न रूपों में प्रकट होती रही है। मूल्यांकन की विधियों के संदर्भ में सदियों पुरानी इस समस्या को एक बार फिर उठाने से पहले यह दरयाफूत कर लेना वाजिब होगा कि इस विषय पर पहले हुई चर्चाओं से कितना मार्गदर्शन मिल सकता है।

संघटन के मुद्दे को आर्थिक विश्लेषण में विभिन्न संदर्भों में उठाया गया है। इनमें

से सर्वाधिक सुपरिचित राष्ट्रीय आय के आकलन का सवाल है जो मूलतः तरह-तरह की वस्तुओं व सेवाओं का ऐसा समुच्चय है जिसे एक सामान्य आधार में परिवर्तित कर दिया गया हो। विकास की रणनीतियों के निर्धारण के लिए एक सूचकांक के रूप में प्रति व्यक्ति आय की सुपरिचित लोकप्रियता के बावजूद दुर्भाग्य से 'मूल्य निर्धारण' (वैल्यूएशन) की समस्याएं अभी तक अनसुलझी पड़ी हैं। हालांकि बहुत सारे देश भौतिक इकाइयों को मूल्यों में परिवर्तित करने के लिए बाजार की कीमतों का उपयोग करते हैं, फिर भी इस योजना के खिलाफ दिए जानेवाले तर्क बहुत ही ठोस हैं। विकसित और विकासमान दोनों दुनियाओं में ऐसे देश हैं जो मांग तथा पूर्ति में संतुलन पैदा करनेवाले सूचकांकों को बहुत ज्यादा महत्व नहीं देते।

सामूहिक चयन के सिद्धांत के खांचे में संभवतः कुछ और कड़ाई के साथ इस प्रश्न की पड़ताल की गई है। इस मामले में अर्थशास्त्रियों ने जिस समस्या को हल करने के प्रयास किए हैं, उसे इस प्रकार रखा जा सकता है : अगर अनेक व्यक्तियों (जिनको सामान्यतः क्रमबद्ध किया जाना है) द्वारा व्यक्त वरीयताएं ज्ञात हों तो दी गई सामाजिक स्थितियों का सामूहिक क्रमांकन (आर्डरिंग) कैसे करें ? इस संदर्भ में एक बहुप्रिय मान्यता यह रही है कि सामूहिक चयन को व्यक्तिगत क्रमांकन पर आधारित किया जाए। इसका निहितार्थ यह है कि सामाजिक कल्याण फलन (w) इस अर्थ में 'व्यक्तिवादी' हो कि व्यक्तिगत वरीयताओं का एक फलन हो। यहां यह कह दिया जाए कि इस क्षेत्र में कार्यरत विद्वानों ने खुद को सामूहिक चयन के ऐसे फलनों तक सीमित रखा है जिनमें विकल्पों की श्रेणियों को बुनियादी आंकड़ों के रूप में प्रयोग किया जाता है और जिनका उद्देश्य सामाजिक स्थितियों का संघटित क्रमांकन करना मात्र होता है। इस तरह उन्होंने किसी गणनासूचक (कार्डिनल) अर्थ में व्यक्ति या सामाजिक चयनों के स्तर या तीव्रता के निर्धारण की समस्या को लगभग पूरी तरह अनदेखा किया है। जबकि कल्याणकारी अर्थशास्त्री समुच्चय के नियमों की तलाश में व्यस्त थे, ऐसे समय कुछ-कुछ नाटकीय अंदाज में ऐरो (1950) ने यह बात सामने रखी कि बुनियादी आघात्री के बारे में अहानिकर दशाओं के किसी समुच्चय विशेष के लिए तथा समुच्चयन की वर्तमान विधियों को देखते हुए सामूहिक क्रमांकन कर सकना असंभव है। यह प्रमेय शून्यवाद से परिपूर्ण पाया गया है क्योंकि इसमें सभी संभव फलनों का आधार ही नष्ट कर दिया गया है।

फिर भी यह 'असंभाव्य का प्रमेय' नहीं है जिसके कारण शिक्षाशास्त्री क्रमसूचक (आर्डिनल) या गणनासूचक मूल्यों को एक संघटित सूचकांक में समुच्चयित करने की दिक्कतों के प्रति सचेत हुए हों। निश्चित रूप से यह बात सच है और मूल्यांकन प्रणाली संबंधी चर्चाओं में कभी-कभी यह कहा भी गया है कि विभिन्न पाठ्यक्रमों में प्राप्त ग्रेडों का समुच्चय छात्र विशेष की 'योग्यता' की मूलभूत अवधारणा को सुस्पष्ट करने में असफल रहेगा। आदर्श स्थिति यह है कि किसी विश्वविद्यालय को किसी छात्र की निष्पादन क्षमता का मूल्यांकन एक सदिश (अनेक प्रविष्टियों) के आधार पर करना

चाहिए, न कि आवश्यकता के अनुसार किसी अदिश (एक मूल्य) के आधार पर। असमानता के मापन की विधियों की चर्चा करते हुए सेन (1973) ने यह दलील दी है कि किसी भी रूप में विश्लेषण अकेला ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें "पूर्ण क्रमांकन की प्रवृत्ति प्रमुख बोझ बनकर रह गई है"। ग्रेडिंग की प्रणाली के संदर्भ में एक 'अधूरे' पैमाने के पक्ष में सचमुच कई-एक तर्क दिए जा सकते हैं। यानी ऐसा पैमाना जिसमें विश्वविद्यालय एक ग्रेड-पत्र प्रदान करें जिसमें विभिन्न लक्षणों/पाठ्यक्रमों में प्राप्त ग्रेडों का संकेत किया गया हो। यह संबद्ध अभिकरण की जिम्मेदारी होनी चाहिए कि वह रोजगार-दाता के रूप में छात्र की सेवाओं का उपयोग करने की दृष्टि से अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप संघटन की विधियां विकसित करे। इस बात पर हमारी आलोचना यह कहकर की जा सकती है कि यह दूसरों पर जिम्मेदारी टालना मात्र है। लेकिन उपयोगकर्ता संगठनों की आवश्यकताओं की विविधता को देखते हुए, यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि भारमान देने की योजनाएं विभिन्न संगठनों में अलग-अलग होंगी।

दृष्टिकोण के बारे में हमारा सुझाव

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संघटित ग्रेडिंग के कार्य में कल्याणकारी अर्थशास्त्र द्वारा विकसित किए गए उपकरण हमारी अधिक मदद नहीं कर सकते। "मापन के साधन के रूप में... यह हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकता। मूल्यांकन की समस्याओं के संबंध में कल्याणकारी अर्थशास्त्र के राजसी मार्ग कुछ-कुछ अंधकारमय लगते हैं।" जाहिर है कि एक वाक्पटु पेशेवर जो एक छात्र को बेहिचक कुछ प्रतिशत अंक दे देता हो और एक बुद्धिमान प्रोफेसर जिसे सभी गणनासूचक विवरण मनमाने लगते हों, दोनों ही मूल्यांकन की समस्या के बुनियादी पहलुओं को नजरअंदाज कर जाते हैं। चूंकि कोई भी व्यक्ति निश्चय के साथ नहीं कह सकता कि किसी छात्र को किसी पाठ्यक्रम में 100 में से 63 नंबर दिए जाएं या 65 दिए जाएं, ठीक इसलिए इस बात पर अड़ना बुद्धिसंगत नहीं होगा कि छात्रों को एक नामित (नामिनल) या एक क्रमसूचक पैमाने पर वर्गीकृत किया जाए। जब हम विश्वविद्यालयों की इस मांग पर विचार करते हैं कि अनुप्रस्थ-परिच्छेदक और कालांतरिय, दोनों दृष्टियों से तुलनीय एक एकरस ग्रेडिंग प्रणाली का विकास किया जाए, तो यह बात और भी कम बुद्धिसंगत लगती है। इसलिए हमारे सामने इसका कोई विकल्प नहीं है कि न केवल एक समूह के अंदर छात्रों को क्रमबद्ध करने के लिए बल्कि हर लक्षण/पाठ्यक्रम में ग्रेड देने के लिए ऐसी विधियां विकसित की जाएं जिनकी कम से कम 'अर्धगणनात्मक' (क्वाजाई-कार्डिनल) सार्थकता हो। मूल्यांकन प्रणाली के संदर्भ में ऐरो के पांच स्वयंसिद्ध तथ्यों को इस प्रकार सामने रखा जा सकता है :

- (अ) छात्रों का अंतिम क्रमांकन परवर्ती (रिपेलेक्सिव), अर्धसंक्रामी (क्वाजाई-ट्राजिटिव) और पूर्ण होना चाहिए।
- (ब) छात्रों के तार्किक दृष्टि से संभव क्रमांकन का प्रत्येक पाठ्यक्रम में समावेश होना चाहिए।
- (स) अगर किसी छात्र को दूसरे छात्र की तुलना में कुछ पाठ्यक्रमों में बेहतर ग्रेड मिला हो और कुछ में कम न मिला हो तो पहले छात्र को अधिक संघटित ग्रेड दिया जाना चाहिए।
- (द) समतुल्य क्रेडिटवाले विभिन्न लक्षणों/पाठ्यक्रमों में किसी छात्र द्वारा प्राप्त ग्रेडों के क्रमचय (परम्यूटेशन) के कारण उसके अंतिम ग्रेड में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।
- (य) किसी छात्र का किसी दूसरे छात्र की तुलना में अंतिम वरीयताक्रम विभिन्न पाठ्यक्रमों में उन दो छात्रों की, न कि दूसरे छात्रों की निष्पादन क्षमता पर निर्भर होना चाहिए।

जाहिर है कि मूल्यांकन प्रणाली के संदर्भ में अगर उपरोक्त पांच स्वयंसिद्ध तथ्यों को बुद्धिसंगत मान लिया जाए और अगर मूलभूत सूचना के रूप में विभिन्न पाठ्यक्रमों में छात्रों के वरीयताक्रम का उपयोग किया गया हो, तो एक संघटित पैमाने पर छात्रों को क्रमांकित करने की कोई भी कोशिश महज अंकों का खिलवाड़ होगी। वास्तव में उपरोक्त स्वयंसिद्ध तथ्यों पर खरा उतरनेवाली समुच्चय की एक योजना तैयार कर सकना असंभव है। फिर भी संघटित ग्रेडिंग के संदर्भ में उपरोक्त में से किसी भी स्वयंसिद्ध तथ्य, उदाहरण के लिए तथ्य (भ) की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा कर सकना संभव है। किसी पाठ्यक्रम में दो छात्रों की वरीयता क्रमों का अंतर उन दो छात्रों की ही नहीं बल्कि कक्षा के दूसरे छात्रों के कार्यनिष्पादन पर भी निर्भर है। इसलिए यह आशा करना बुद्धिसंगत नहीं होगा कि संघटित ग्रेड के सिलसिले में दो छात्रों की एक-दूसरे के सापेक्ष स्थिति, दूसरे छात्रों के कार्यनिष्पादन के अनुसार अगर अलग-अलग पाठ्यक्रमों में उनके वरीयताक्रम बदल रहे हों, तो भी अपरिवर्तित रहेगी।

फिर भी असंभाव्य के इस जाल से बचने के लिए बेहतर तरीका यह होगा कि सूचना के आधार को और व्यापक बनाया जाए। इसलिए अंतिम ग्रेडों का निर्धारण श्रेणी क्रम संबंधी आंकड़ों के आधार पर नहीं बल्कि अलग-अलग पाठ्यक्रमों में छात्रों के कार्य निष्पादन के गणनात्मक या अर्धगणनात्मक सूचकों के आधार पर किया जाना चाहिए। इसलिए जिन नौ बिंदुओंवाले पैमाने का नई मूल्यांकन प्रणाली के लिए प्रस्ताव किया जा सकता है, उनमें प्राप्त स्थानों को न तो शुद्धतः क्रमसूचक संख्या मानना चाहिए और न ही शुद्धतः गणनासूचक। दरअसल पैमाने के नौ बिंदुओं की छात्रों के किसी खास बैच के क्रमांकन से बिल्कुल अलग अपनी भी सार्थकता है। एक अध्यापक किसी छात्र का दूसरों के सापेक्ष क्रम-निर्धारण ही नहीं करता बल्कि उसे नौ बिंदुओं

वाले पैमाने पर भी रखता है। इसी तथ्य से हमें विभिन्न पाठ्यक्रमों में प्राप्त ग्रेडों की तुलना के लिए सुराग भी मिल सकते हैं। मूलतः यह पैमाने के अर्धगणनासूचक चरित्र को प्रतिबिंबित करता है जिसके कारण संघटित ग्रेडिंग का काम संभव होता है।

किसी पाठ्यक्रम में किसी छात्र का ग्रेडिंग करने के लिए दो चरणोंवाली विधि अपनाई जा सकती है। पहले चरण में छात्रों को एक-दूसरे के सापेक्ष श्रेणीबद्ध किया जा सकता है या फिर उन्हें एकाधिक सोपानिक समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार प्राप्त सैद्धांतिक बंटनों की सहायता से प्रारंभिक बारंबारता बंटन का विश्लेषण किया जा सकता है क्योंकि इससे पिछले वर्षों के छात्रों के लिए प्राप्त बंटनों के आधार पर कक्षा के लिए तैयार किए गए कुछ अपेक्षित मानकों की दृष्टि से वर्तमान छात्रों निष्पादन (परफॉर्मेंस) का समुचित मूल्यांकन संभव होता है। ऐसी सांख्यिकीय विधियों के जरिए पाठ्यक्रम-विशेष में अध्यापकों के अपने विवेक की सहायता से छात्रों की अंतिम श्रेणियों या श्रेणी-वर्गों (जिनकी संख्या दस से अधिक न हो) का निर्धारण किया जा सकता है। दूसरे चरण में, बैच के सामान्य स्तर, उस वर्ष में संभव अध्यापन-दिवसों की संख्या, प्रश्नपत्र के स्वरूप तथा छात्र के निष्पादन को प्रभावित कर सकनेवाले अन्य बाह्य कारकों से संबंधित अतिरिक्त सूचना की सहायता से इन श्रेणी-वर्गों (रैंक-कैटेगरीज) को ग्रेड-बिंदुओं में परिवर्तित किया जा सकता है। यह बात एक बार फिर अध्यापक के अपने विवेक के उपयोग का तकाजा करती है और इनमें कुछ-कुछ मनमानापन भी मुमकिन है, मगर इसके अलावा कोई और रास्ता नजर नहीं आता। विभिन्न लक्षणों/पाठ्यक्रमों में प्राप्त गणनासूचक संख्याओं को फिर इन लक्षणों/पाठ्यक्रमों को दिए गए क्रेडिटों से गुणा किया जा सकता है। सामाजिक अनुसंधान में आमतौर पर प्रयुक्त समुच्चयन की विधियों में भारमानों के निर्धारण के लिए आधार-सामग्री आधात्रियों (टेटा मैट्रिक्स) का उपयोग किया जाता है। मनोमिति (साइकोमेट्री) में अकसर प्रयुक्त प्रमुख तत्त्व-विश्लेषण इस कार्य के लिए सहसंबंध आधात्री (कोरिलेशन मैट्रिक्स) का उपयोग करता है। फिर भी इन विधियों में निहित मूल्य-निर्धारण (इम्प्लीसिट वैल्यूएशन) भी शामिल होता है, और हर स्थिति में यह स्वीकार्य है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। ग्रेडिंग प्रणाली के सिलसिले में सामान्य मान्यता यह है कि पाठ्यक्रमों को दिए जानेवाले भारमान या क्रेडिट का बाह्य-निर्धारण होना चाहिए और ये विचाराधीन आंकड़ों से नहीं निकाले जाने चाहिए। भारमानों की प्रणाली का निर्धारण प्रत्यक्षतः अधिगम की उस प्रक्रिया के लिए प्रस्तावित विश्लेषणात्मक ढांचे से होना चाहिए, मूल्यांकन जिसका अभिन्न अंग है।

संकेतों का प्रयोग करें तो समुच्चय के चरणों का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है—विभिन्न पाठ्यक्रमों में छात्रों के श्रेणी-क्रमों को दिखानेवाले बुनियादी आधार-संग्रह आधात्री का रूपांतरण ग्रेड बिंदुओं की आधात्री में किया जा सकता है। रूपांतरण की इस प्रक्रिया का नियमन विशिष्ट नियमों के द्वारा किया जाना चाहिए मगर

अध्यापक के अपने विवेक की भी इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका होगी। इस आध्यात्री को फिर पीछे से क्रेडिट सदिश से गुणा किया जा सकता है जिससे अंतिम आध्यात्री प्राप्त होगी। इस प्रकार

.....

सदिश के गणनात्मक मूल्यों को एक बार फिर नौ बिंदुओंवाले पैमाने पर ग्रेडों में रूपांतरित किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में भी विवेक की भूमिका को एकदम समाप्त नहीं किया जाना चाहिए। मूल्यांकन से मनोगत तत्त्व को चाहे जितने प्रयत्न करके निकालने की कोशिश की जाए, यह इसमें फिर-फिर नजर आ ही जाता है !

अध्याय नौ

शिक्षा और भविष्य

आरंभिक जांच पड़ताल

जो बच्चा इस सदी के नौवें दशक में पैदा हुआ है, वह इक्कीसवीं सदी में “+ 2” परीक्षा में बैठेगा।

शैक्षिक योजना अपनी परिभाषा और प्रकृति से ही दीर्घकालिक होती है। खास तौर से वर्तमान दौर में ऐसा घटित हो रहा है जब समाज का संरचनात्मक स्वरूप बदल रहा है और उसमें गुणात्मक परिवर्तन हो रहे हैं। रेखीय गति में होनेवाली धीमी और मात्रात्मक परिवर्तन की सामाजिक प्रक्रियाएं मंद दृष्टिवाले व्यक्ति को भी भविष्य में देखने का अवसर प्रदान करती हैं क्योंकि उनका भविष्य सारतः वर्तमान ही होता है और वर्तमान का संरक्षण ही उनके भविष्य की योजना होती है। लेकिन तात्कालिक वर्तमान हमारी आंखों के सामने ही असाधारण गति से अपने को भूत में रूपांतरित करता चला जा रहा है और अदूरदर्शी व्यक्ति इस परिवर्तन की अथाह गहराइयों को घूरते और आंख मींचते रह जाते हैं क्योंकि उनकी आंखें इसे देखने में असमर्थ हैं।

मानवजाति के भूमण्डलीय आवास को (इस दुनिया को) इच्छानुकूल दिशाओं में (जरूरी नहीं कि ये दिशाएं इच्छित हों) बुनियादी ढंग से पुनर्निर्मित करने के लिए सामाजिक परिवर्तन की जारी प्रक्रियाओं को गहराई तक समझना और सामाजिक सत्ता को उसके परिवर्तन की प्रक्रियाओं में देखना जरूरी होता है। क्योंकि आवश्यकता की पहचान ही स्वतंत्रता है और ज्ञान न सिर्फ दुनिया की ‘व्याख्या करने की वरन् उसे बदलने’ की शक्ति है। शिक्षा विशिष्ट सामाजिक अनुभवों से विभिन्न कोटियों के सामान्य नियमों का बोध प्राप्त करने की एक ऐसी ही क्षमता है जिससे उन नियमों को विचारों के एक सोपानक्रम में व्यवस्थित किया जाता है और उस विचार व्यवस्था को नई पीढ़ी तक पहुंचाया जाता है ताकि वह इस विरासत के आधार पर नया निर्माण कर सके और ज्ञान को उत्पादित और व्यवस्थित रूप देने का काम आगे जारी रख सके।

मानव जाति की यही विलक्षण क्षमता है जिसके चलते वह अधिकाधिक जटिल और विस्तृत होते क्षेत्रों से प्रकृति के तत्त्वों के साथ सक्रिय रूप से अनन्तक्रिया कर पाता है और कठोर अंतर्निर्भरता की गैरलचीली व्यवस्था के साथ निष्क्रिय रूप से अपने को अनुकूलित करने भर तक सीमित नहीं रखता। इस ज्ञानप्रक्रिया के जरिए ही मानवजाति स्वतंत्रता के क्षेत्र में पहुंचती है क्योंकि आवश्यकता तभी तक अंधी है जब तक उसको समझा न गया हो।

इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो शिक्षा मानवीकरण की प्रक्रिया है। नरवानरों को मनुष्यों में रूपांतरित करने के साथ ही यह मानवता के दुर्गम और अनंत पथ पर आगे बढ़ने में मानवजाति को रोशनी दिखाने का काम जारी रखे हुए है। यह मनुष्य को और ज्यादा मनुष्य बनाती है। आज हम समय के गलियारों से गुजरनेवाली इस लंबी यात्रा के किस पड़ाव पर हैं? समकालीन दौर की पहली विशेषता है; वैज्ञानिक प्रौद्योगिक क्रांति के विकास के जरिए नए-नए क्षेत्रों का खुलना और दूसरी विशेषता है, इन विराट संभावनाओं का मुकाबला करने और इन्हें वास्तविक रूप देने में समकालीन समाजव्यवस्थाओं की विलक्षण असमर्थता। इस अंतर्विरोध में ही हमारे समय की आशा और निराशा की जड़ें जमी हुई हैं और शिक्षा दोनों से आंतरिक रूप से जुड़ी हुई हैं। उस वैज्ञानिक प्रौद्योगिक क्रांति में शिक्षा का अनिवार्य योगदान है जिसने मानवैतर प्रकृति के साथ गुणात्मक रूप से ऊंचे स्तर पर अंतःक्रिया करने और महानतम उपलब्धियों की आशा करने में मनुष्य को समर्थ बनाया है। इसके साथ ही यह एक मरणासन्न मूल्यपद्धति और पुरानी पड़ चुकी विश्व दृष्टि है। इस उपपद्धति की बुनियादी खामियां इसकी अपनी नहीं बल्कि समूची समाजव्यवस्था की उपज हैं। खैर, अपनी तरफ से ये व्यवस्था की खामियों को मजबूत कर सकती है और हमारे सिर पर मंडराते खतरों की अग्रदूत बन जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि शिक्षा का भविष्य मानव जाति का भविष्य है और शिक्षा का भविष्य, रूप और व्यापार, साधन और साध्य तथा कर्म और ज्ञान के आपसी संयोग से बनी मनुष्य के मानवीकरण की वह प्रक्रिया है जिसमें समय के किसी सुदूर झिलमिलाते क्षितिज पर मानव आत्मा में सत्य, शिव और सुंदर के एक हो जाने की संभावना निहित है। आइए, जरा भविष्य की ओर झांके।

आइए, जरा सपने देखें; इस उम्मीद के सपने कि यह निराशा की दुनिया जल्दी ही समाप्त हो जाएगी।

प्रौद्योगिक विकास सार रूप में प्राकृतिक नियमों के अधिकाधिक सक्षम उपयोग के जरिए श्रम की उत्पादकता बढ़ाता है। इसलिए हर नवप्रवर्तन एक जैसी मात्रा में सामग्री उत्पादन के लिए श्रम की कम मात्रा और उसकी उच्चतर गुणवत्ता की मांग करता है। यह श्रम के कम घंटों की और शिक्षा के अधिक घंटों की मांग करता है क्योंकि श्रम की मात्रा और शिक्षा की गुणवत्ता का यह मापक है। इस संदर्भ में ऐतिहासिक विकास की एक खास दिशा स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है और भविष्य में प्रतिफलित की जा सकती है।

किसी पीढ़ी की जीवनावधि को दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक हिस्सा या तो जीने के लिए सीखने में या सीखने के लिए जीने में गुजरता है। इतिहास में प्रौद्योगिक विकास के हर दौर में जीवनावधि का शिक्षा और विश्राम में लगनेवाला समय बढ़ता गया है और श्रम में लगनेवाला समय घटता गया है। इस प्रक्रिया को एक दूसरे तरीके से भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

पहला, मेहनतकशों की कतार में भरती होने से उसकी शिक्षा और प्रशिक्षण की जरूरतें बढ़ती गई हैं और कठोर होती गई हैं और इस प्रशिक्षण के लिए जरूरी वर्गों की संख्या भी समय के साथ-साथ बढ़ती गई है। यूनानी गुलाम को जहां प्रशिक्षण के लिए लगभग कोई समय जाया नहीं करना पड़ता था (हालांकि संयोग से प्लेटो जैसे महान् शिक्षाशास्त्री के लिए भी वह गुलाम काम करता था) वहां आज आधुनिक जगत् के अधिकांश देशों में लगभग 16 वर्षों की शिक्षा और प्रशिक्षण अनिवार्य कर दिया गया है। यह परिवर्तन मनुष्य के बढ़ते मानवीकरण का संकेत देता है।

दूसरा, श्रमशक्ति में उच्च कौशल से संपन्न व्यक्तियों की संख्या लगातार बढ़ती गई है। असल में यह इतनी बढ़ गई है कि नीले और सफेदकालर वाले प्रशिक्षित मजदूरों के साथ-साथ इनकी एक चौथी श्रेणी भी प्रकट हो गई है।

तीसरी, सप्ताह में कार्यदिवसों और दिन में कार्य घंटों की संख्या घटती गई है और साल के दौरान सवेतन अवकाश की संख्या बढ़ती गई है। जैसे स्पार्टाकस के समय में कार्य सप्ताह पूरे सात दिनों का होता था जबकि आधुनिक यूरोप में कार्य सिर्फ पांच दिनों का रह गया है। जोला की रचना जर्मिनल के अनुसार प्रतिदिन काम के घंटे अठारह थे, मध्य-अठारहवीं सदी में आठ घंटों के कार्यदिवस के लिए मई दिवस का हत्याकांड हुआ था और आज के अनेक उद्योगों में कार्यदिवस छः घंटों का रह गया है। लगभग पशु की अवस्था से मनुष्य की अवस्था तक पहुंचने में इतनी लंबी यात्रा करनी पड़ी है। प्रौद्योगिक प्रगति और बढ़ी हुई श्रम-उत्पादकता से एक ऐसी स्थिति आ सकती थी जिसमें या तो ज्यादा लोग कम घंटों के लिए काम करते या कम लोग ज्यादा घंटों के लिए। श्रम और पूंजी इस मसले पर संघर्ष करते रहे हैं और उनका संघर्ष अब भी जारी है लेकिन कुल मिला कर आम झुकाव काम के कम घंटों और मनोरंजन तथा आराम के अधिक घंटों की ओर ही रहा है।

चौथा, आयु के बढ़ने और ज्यादा उम्रवाले लोगों के स्वास्थ्य में सुधार आने से अवकाश प्राप्त लोगों के लिए रचनात्मक और उत्पादक जीवन का एक नया दौर शुरू हो रहा है। तेजी से गायब होते जा रहे अतीत के दिनों में युवावस्था को साहसिक कर्म से, वृद्धावस्था को संन्यास से, युवावस्था को नवीनतम से और वृद्धावस्था को विश्राम से जोड़ कर देखा जाता था। भविष्य में यह परिदृश्य जरूर ही बदला हुआ होगा। वृद्ध लोग जर्जर नहीं बल्कि प्रौढ़ होंगे, वे अनुभव से साहसिक कर्म की प्रेरणा लेंगे, युवकों की तरह साहसिक कर्म से अनुभव हासिल करेंगे। बूढ़े लोगों के लिए निर्मित आवासों में डाल दिए गए भीतर से खाली लोगों के मनबहलाव के खेल खेलने की

बनिस्पत वे शांत विश्रामहीनता या विश्रामहीन शांति के साथ सौंदर्य का अतिक्रमण करनेवाली की समयातीत सुषमा के माहौल में नए-नए और ज्यादा गहरे कर्मक्षेत्रों तलाश करेंगे।

इस परिप्रेक्ष्य से देखने पर शिक्षा अधिकाधिक रूप में ऐसी सतत प्रक्रिया बनती जा रही है जो मनुष्य के समूचे जीवन काल में, या कुरान की भाषा में कहें तो 'मां की गोद से कब तक' चलती रहती है। काम की दुनिया में नई पीढ़ी के कदम रखने के पहले ही उसे यह मानव जाति के संचित सामाजिक अनुभव के सारतत्त्व के रूप में उपलब्ध होती है। यह काम के दौरान औपचारिक और अनौपचारिक रूप से, अवकाश के दौरान विभिन्न गतिविधियों के रूप में श्रम के साथ सहयोग करती रहेगी और काम से अवकाश ले लेने के बाद वृद्धी लोगों के जीवन को सार्थक दिशाओं में सक्रिय करती रहेगी। भविष्य की शिक्षा अपने अस्तित्व की रगरग से मानवजाति के जीवन से घनिष्ठ रूप से जुड़ी होगी। सिर्फ काम की तैयारी होने के बजाए अब शिक्षा खुद जीवन की, और समूचे जीवन की सुगंध बनती जा रही है।

आगे आनेवाली दुनिया में शिक्षा इतनी सर्वव्यापी भूमिका तभी निभा पाएगी जब मानव और मानवेतर प्रकृति के बीच तथा विश्व की एकता और दुनिया के विभाजन के बीच गहराते अंतर्विरोधों के कारण पड़नेवाले दबावों का सामना कर सकेगी और दूसरे जब खुद इसके अंदर परंपरा और आधुनिकता, समन्वयन और विशेषीकरण तथा कर्म और ज्ञान के बीच तीखे होते अंतर्विरोधों के कारण पैदा होनेवाले दबावों और तनावों का सामना कर सकेगी।

मनुष्य का प्रकृतीकरण और प्रकृति का मानवीकरण

भावी शिक्षा को मनुष्य और प्रकृति के बीच की आदम एकता जरूर स्थापित करनी होगी, हालांकि अब इस एकता की स्थापना वातावरण के गुणात्मक रूप से ऊंचे स्तर पर की जाएगी। इसके साथ ही शिक्षा की जड़ें यथार्थ की उस अद्वैतवादी दृष्टि में जमानी होंगी जो वर्ग समाजों के लाभलोभ से पैदा हुई प्रकृति पर जीत हासिल करने की मात्र मांग के बीच खो गई थी। वस्तुगत यथार्थ के बारे में यह अद्वैतवादी दृष्टि उस एकता की पहचान के लिए आवश्यक है जो सामाजिक मानव और मानवेतर प्रकृति के बीच होनेवाली अंतःक्रियाओं के माध्यम से सक्रिय होती है। मनुष्य और प्रकृति का सारतत्त्व 'प्राकृतिक सत्ता के रूप में मनुष्य' और 'मानवीय यथार्थ के रूप में प्रकृति' के होने पर आधारित है। चूंकि मनुष्य का प्रकृतीकरण और प्रकृति का मानवीकरण प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतर्क्रिया के जरिए साथ-साथ चलता रहता है, इसलिए मानव इतिहास को प्राकृतिक इतिहास का अनवरत रूप और गुणात्मक रूप से उसकी नई मंजिल समझा जा सकता है। यानी प्रकृति और मनुष्य विभेदीकृत एकता का निर्माण करते हैं। वास्तव में यह बात सच है कि आदिम प्रकृति मनुष्य से पहले की है तथा इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में अपनी छोटी सी धरती को छोड़ कर और हर जगह मनुष्य

के बिना ही अपना अस्तित्व बनाए हुए है। यह वह मानवेतर प्रकृति है जिसने मनुष्य का प्रकृतीकरण नहीं किया है। और वह सामाजिक विकास की प्रक्रियाओं के लिए बहुत कम महत्त्व की है। सामाजिक विकास के दायरे में प्रकृति मुख्यतः मनुष्य और प्रकृति के बीच अंतर्क्रिया के एक घटक तत्त्व के रूप में आती है। इसमें प्रकृति को बदलने के दौरान मनुष्य खुद बदलता जाता है।

विकास की प्रक्रिया नृतात्विक और मानवेतर (प्राकृतिक) तत्त्वों की अंतर्निर्भरताओं की व्यवस्था में यानी पर्यावरण में, समन्वित करने के दौरान आगे बढ़ती है। गहरे विश्लेषण और अध्ययन के मकसद से उद्योगोत्तर (पोस्ट इंडस्ट्रियल) समाज के अध्येताओं ने समग्रता को खंडित कर उसके एक अंश, एक हिस्से या एक पक्ष को अध्ययन का विषय बनाया था। अध्ययन की इस प्रक्रिया में हम कम से कम के विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करते हुए ज्ञानार्जन के उस बिंदु पर पहुंच गए थे जहां समग्रता की हमारी जानकारी शून्य हो जाती है। यानी हम सब कुछ जानकर भी कुछ नहीं जानते थे। यह नई दृष्टि एकदम सही समय पर इस त्रुटि को सुधारने के लिए हमारे सामने आई। वस्तुगत रूप से स्थित व्यवस्था के सारतः संपूर्णतापरक चरित्र और विश्लेषण के जरिए इसकी टुकड़ों में की गई पहचान के बीच पड़नेवाली दरार ज्ञान के लिए बाधा बन चुकी है और उसमें संकट के क्षणों में एक नई विश्व दृष्टि को, और संपूर्णता की समन्वित दृष्टि को आधार प्रदान करनेवाले एकीकरण के सिद्धांत जन्म लेते हैं। हिप्पो क्रेटीज, अरस्तू और टोलेमी की चार तत्त्वोंवाला ब्रह्मांड न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत, कार्ल मार्क्स का द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद या आइंस्टाइन का ई=एम.सी. का समीकरण ज्ञान के ऐसे ही एकतापरक सिद्धांत माने जा सकते हैं जो अलग-अलग पड़ी खोजों को विचारों की एक व्यवस्था में समन्वित करनेवाली सश्लिष्ट धारणाओं के रूप में पैदा हुए और जिन्होंने सारे विज्ञानों को अपने प्रभाव परिधि में समेट लिया। कहने का तात्पर्य यह कि पर्यावरण का सिद्धांत इस व्यवस्था की एकता का व्यापक सिद्धांत है जिसकी जड़ें हालांकि सारे विज्ञानों में हैं, मगर यह उन सबका अतिक्रमण करता है। यह वस्तुगत यथार्थ की समन्वित जटिलता को अधिकाधिक घनिष्ठ रूप से व्यक्त करनेवाली विचारपद्धति है और इक्कीसवीं सदी के लिए यह सबसे प्रासंगिक विचारधारा के आधार का काम कर सकती है।

विज्ञान के सारे महत्त्वपूर्ण विचारों की तरह पर्यावरणव्यवस्था की वैज्ञानिक अवधारणा उद्योगोत्तर समाज के अभी हाल के बौद्धिक संकट की उपज है, इसकी जड़ें महान् ऐतिहासिक गहराईवाली प्राक्-विज्ञान परंपरा में हैं और वस्तुतः मानवजाति के बुनियादी मनोविज्ञान का अभिन्न अंग है। पाषाण काल की आदिम विचारधारा की प्रमुख विशेषता (यानी प्रकृति चेतनावेद और टोटमवाद से संबंधित विश्वासों की पद्धति) सारी अस्तित्वमान वस्तुओं की एकता पर आधारित थी और सजीव और अजीव, पाशविक तथा मानवीय तथा भौतिक और आध्यात्मिक के द्वैत का अतिक्रमण करती थी। माता की जो प्रार्थना कृषक जनता के आध्यात्मिक विचारों का मूल आधार रही है, वह इसी

तरह की ब्रह्मांड की समग्रतापरक धारणा में विद्यमान रही है। इस धारणा ने मनुष्य और प्रकृति के द्वैत को एक बृहत्तर एकता में समाहित कर लिया था हालांकि ऐसा करते हुए इसने दोनों के बीच के संबंध को उलट दिया था। पूर्व का रहस्यवाद अब भी एक प्रभावशाली धारणा के रूप में सक्रिय है, उसने आत्म और वस्तु, मनुष्य और प्रकृति के बीच के अंतर्विरोध को यथार्थ की अद्वैत दृष्टि द्वारा हल किया था। पर्यावरण-व्यवस्था के आधुनिक सिद्धांत को इतनी महत्वपूर्ण परंपरा विरासत में मिली है। जिस तरह विज्ञान का उदय जादू से हुआ उसी तरह इस धारणा का उदय प्राक्-वैज्ञानिक चिंतन से हुआ है। इसने उस पुराने चिंतन में निहित सारभूत सत्य को ग्रहण कर लिया है और मिथ्या आध्यात्मिक मुलम्मे को छोड़ दिया है। यह धारणा मिथ्या चेतना से चेतना के क्षेत्र में पदार्पण है।

ज्ञानसिद्धांत की दृष्टि से विश्व के एक मॉडल के रूप में, और पद्धति की दृष्टि से विश्लेषण के एक औजार के रूप में, इस अवधारणा का विकास ज्ञान के विभाजित सोपान क्रम से संघर्ष करते हुए ही हो सकेगा। सामाजिक विज्ञानों में तो एक हद तक आंतरिक अन्विति हासिल भी हो गई है लेकिन प्राकृतिक विज्ञानों में अभी इस दिशा में कोई खास प्रयास नहीं हुए हैं। हां, ऊंचे किस्म के उनके कंप्यूटर कार्यक्रमों में कभी-कभी गैरजरूरी हल्ला-गुल्ला अवश्य सुनाई दे जाता है। कृषि अर्थशास्त्री अपने हाथों को मिट्टी से गंदा करना पसंद न करेगा। उसके प्रतिगामी सिद्धांत में यह एक अरुचिकर अवशेष के रूप में आती है। हालांकि वह इससे छुटकारा भी नहीं पा सकता। प्राकृतिक विज्ञानों की अपनी उपव्यवस्थाओं की बंधीबंधाई सीमाओं से आगे जाने में असमर्थता भी कोई कम खतरनाक नहीं है। प्राकृतिक विज्ञानों की आंतरिक एकता की अब तक जो सबसे बड़ी देन रही है, वह है पर्यावरण संबंधी विज्ञान। स्व जीवी और परजीवी पौधों को अपनी जायज चिंता जतानेवाले पर्यावरण वैज्ञानिक यह भूल जाते हैं कि मानवजाति दूसरे परजीवी पौधों से गुणात्मक रूप से भिन्न कोटि है, और यह भी कि व्याख्या की उनकी पद्धति सामाजिक मनुष्य की व्याख्या करने में असमर्थ है, कि उनके द्वारा उठाए गए प्रश्नों का दायरा काफी संकीर्ण है और वे इनका अपर्याप्त और आंशिक उत्तर ही पा सकते हैं। अधिक से अधिक वे मनुष्य को मानव-प्रकृति संबंध का एक तत्त्व मानते हैं और प्रकृति में मनुष्य की सत्ता को पहचानने में विलक्षण असामर्थ्य का परिचय देते हैं। वे यह समझने में असफल रहते हैं कि मनुष्य का विवेक उतना ही प्राकृतिक है जितना मानसूनी हवा काली मिट्टी या मरुभूमि की वनस्पति की अतार्किकता। पर्यावरणव्यवस्था की एकतापरक धारणा सामाजिक और प्राकृतिक पूरक की कमजोरियों द्वारा आरोपित सीमाओं को तोड़ने के लिए विकसित की गई है क्योंकि जहां समाजविज्ञान मनुष्य के पाशविक स्वभाव को समझने में अक्षम रहता है वहीं प्राकृतिकविज्ञान उसकी मानवीयता को समझने में अक्षम रहता है।

इन खंडित विचारपद्धतियों में निहित विभ्रमों को दूर करके ही विकास प्रक्रिया के स्वरूप को अच्छी तरह समझा जा सकता है। यहां स्पष्ट रूप से कहना उचित होगा कि विकास की प्रक्रिया तीन प्रकार की शक्तियों की अंतःक्रिया से गतिशील होती

है जिसमें प्रकृति स्वतंत्रता की सीमाएं निर्धारित करती है और वैकल्पिक प्रगति की दिशा की ओर इशारा करती है, प्रौद्योगिकी की अनिवार्यता की आम परिधि के अंतर्गत स्वतंत्रता के क्षेत्र को विस्तृत करती है और संस्थाएं प्रौद्योगिकी के जरिए प्रकृति के साथ होनेवाली मनुष्य की क्रिया-प्रतिक्रिया को विकसित करने के या तो अनुकूल होती है या प्रतिकूल। आज का पर्यावरण संकट किसी पटरी से उतर गई प्रौद्योगिकी का नहीं बल्कि संस्थाओं के उस ढांचे का परिणाम है जो अब इस समस्या पर काबू पाने में समर्थ नहीं है। इसलिए यह संकट तकनीकी प्रगति को रोक देने की मांग नहीं करता बल्कि एक नई विश्वव्यवस्था की मांग करता है। यह विश्वव्यवस्था न्याय और समता पर आधारित व्यवस्था ही हो सकती है जो प्रकृति और मनुष्य तथा मनुष्य और मनुष्य के बीच के संबंध का नियमन कर सके।

समकालीन विश्व : एकीकरण, भेदीकरण और विखंडन

भविष्य की शिक्षा को समाज के सार्वभौमिक होने की प्रक्रिया से जुड़ना होगा और संकीर्ण दिमागों के संकीर्ण विचारों तथा एकताबद्ध विश्व के यथार्थ की चिंताओं के बीच पड़ी दरार को पाटना होगा। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में उद्योगीकरण के फैलाव ने पूंजीवाद से पहले के समाजों की बंद या आधा बंद व्यवस्थाओं के स्थान पर, एक ढीला मगर समन्वित विश्व बाजार कायम कर दिया था। एशिया और अफ्रीका के किसान, जो हजारों साल से लघु उत्पादन की अलग-थलग पड़ी छोटी दुनिया में रह रहे थे, बाढ़, सूखा, तूफान और भूकंप जैसी प्राकृतिक विपदाओं के तो अभ्यस्त थे लेकिन बाजार की अंधी शक्तियों से उनका पहली बार पाला पड़ा। अंतर्राष्ट्रीय शोषण की दोहनकारी व्यवस्था ने अपने पंजे सुदूर प्रांतों में स्थित झोंपड़ों तक फैला दिए और विकसित तथा अविकसित सारे क्षेत्र एक विश्वअर्थव्यवस्था के अंग बन गए। हाल के वर्षों में यातायात और संचार साधनों में हुई प्रगति ने इन प्रवृत्तियों को और मजबूत किया है, सारी दुनिया को एकदम हमारे करीब ला दिया है और हर आदमी को दूसरे का पड़ोसी बना दिया है। दीवारें ढह गई हैं और विचार हवाओं पर सवार हो गए हैं। आज बाएं तट पर लिखी गई कविता, कल सिलिकान की घाटी या नोवो बिरिस्क के युवा वैज्ञानिक की बौद्धिक खुराक बन जाती है। कोलार खानों में चल रही अनुसंधान योजना की खोजें मिनटों में त्राइस्ती पहुंच जाती हैं और किसी नोबुल पुरस्कार विजेता के काम में मदद देने लगती हैं और उस विजेता के शब्द एक सप्ताह के अंदर टोकियो, प्रिंसटन तथा आक्सफोर्ड (विश्वविद्यालयों में) पूरे ध्यान से सुने जाते हैं। मेक्सिको में होनेवाले कृषि जीववैज्ञानिक अनुसंधान सात समुद्र पार कर भारत और पाकिस्तान की हरित क्रांति का आधार बन जाते हैं। अफ्रीका के नगाइों की लय या भारतीय सितार का स्वर सुन कर यूरोपीय युवक की हृदय की धड़कनें तेज हो जाती हैं। दुनिया सचमुच एक हो गई है।

हमें यह न समझना चाहिए कि विश्व का एकीकरण इंटीग्रेशन और समांगीकरण (होमोजिनाइजेशन) दोनों एक ही चीज हैं। जीवन के कपड़े पहने, हैंबर्गर खाते, कोका कोला पीते, चरस-गांजा पीते युवक और युवतियां, जो दुनिया भर के बड़े शहरों की गलियों में भटकते दिखाई पड़ते हैं, विश्व की समस्त परंपराओं में निहित गहरे अर्थ की बहुरंगी आधारभूमि के ज्ञाग की एक महीन तह भर है। एकता बहुलता में निहित होती है, उसके निषेध में नहीं। विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एकीकरण और भेदीकरण द्वंद्वात्मक रूप से परस्पर जुड़े हुए होते हैं और परस्पर निर्भर होते हैं। एक कोशिकावाला अमीबा (मूल जीव) न तो एकीकृत होता है और न विभेदीकृत। जटिल मानव शरीर एकीकृत और विभेदीकृत दोनों होता है। समांगीकरण ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वस्तुओं की अपनी अस्मिता समाप्त कर दी जाती है और उन्हें संश्लेषण की प्रक्रिया के जरिए समान सांचे में ढली वस्तुओं में बदल दिया जाता है। इसके विपरीत एकीकरण की प्रक्रिया अंतर्निर्भरताओं की बहुस्तरीय और सोपानक्रमिक व्यवस्था में उद्घाटित होती है। समांगीकरण वस्तुतः एकीकरण की विरोधी प्रक्रिया है। ज्यादा मनुष्य होने के लिए कम भारतीय होने या ज्यादा पाकिस्तानी होने के लिए कम पठान होने की जरूरत नहीं पड़ती। सामान्यों का अस्तित्व विशिष्टों के जरिए होता है और विशिष्ट सामान्यों के जरिए ही गहराई तथा व्यापकता प्राप्त करते हैं। वे एक-दूसरे को संभव बनाते हैं, वे एक-दूसरे के बने रहने में मदद करते हैं। कारभाजोव बंधु इतनी गहराई तक रूसी हैं कि अपने रूसीपन से ऊपर उठ जाते हैं और सार्वभौम बन जाते हैं। सिमेल्ला की रचना 'मेरी मातृभूमि' उसकी मां, उसके देश, धरती माता, या आकाश गंगा या फैलते ब्रह्मांड का गौरवमान करती है या यों कहें कि सबका एक साथ गौरव गान करती है। क्योंकि वाद्ययंत्रों में वाल्तवा का तालयुक्त संगीत एक लोरी जैसा भी है और तारों के संगीत जैसा भी। स्वास की नीली डेन्यूब, आध्यात्मिक नीग्रो की ओलमन नदी, भारतीय लोककथा की गंगा मैया क्या ये सभी उसी सार्वभौम तत्त्व के विशिष्ट रूप नहीं हैं? बूंद में समुद्र की रहस्यवादी परिकल्पना संपूर्ण और अंश के द्वंद्वात्मक संबंध पर आधारित थी। यह अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का ही संबंध था जो एक साथ भेदीकृत के एकीकरण और एकीकृत के विभेदन की प्रक्रिया में बनता चलता है।

भविष्य की शिक्षा को संकीर्ण, रूढ़िबद्ध और संसारी बने बगैर विशिष्ट को समझने की चेष्टा करनी होगी और पारलौकिक, वायवीय और दिव्य बने बिना सार्वभौम की खोज करनी होगी। इसे मानवीय, संवेदनशील और मानव जाति का अंतःकरण बन जाना चाहिए।

इसे धरती की सुगंध भी होना चाहिए और तारों पर नजर भी डालनी चाहिए। विभेदीकरण को विखंडन से भिन्न प्रक्रिया समझा जाना चाहिए। विभेदीकरण अनेकता को प्रकट और व्यक्त करता है जब कि विखंडन विषमता को उत्पन्न और तीव्र करता है। समन्वित विश्व का विभेदीकरण जहां विकास का एक व्यापार है, वहीं विश्व का विखंडन कुछ थोड़े से संपन्न देशों के विकास की क्रिया बन गया है जो मानवजाति

के अल्पविकास की प्रक्रिया के साथ एक कारण के रूप में जुड़ा रहा है। हमारे समय की यह बहुत भयानक त्रासदी है; स्वतंत्रता जैसी चीजों का विकास अविभाज्य होता है। औद्योगिक क्रांति इतिहास की विभाजन रेखा है। समूची दुनिया की जनता के खून पसीने से पैदा किए गए अतिरिक्त मूल्य तभी से थोड़े से देशों के शासक वर्गों द्वारा निगल लिए जाते हैं। वे लोग यह काम औपनिवेशिक शोषणव्यवस्था के जरिए करते हैं ताकि औद्योगिक साम्राज्य खड़े कर सकें और बाकी दुनिया को अपने लिए कच्चे माल के क्षेत्र और अपने सामानों के बाजार में तब्दील कर सकें।

उद्योगीकृत उत्तर और कृषि प्रधान दक्षिण के बीच विभाजन से देहात और शहर के बीच एक गहरी फांक हो गई है। उत्तर के देश ज्यादा से ज्यादा नगरीकृत हो रहे हैं और उनकी जनसंख्या ज्यादा से ज्यादा शहरों में जीने लगी है। दक्षिण (पृथ्वी का दक्षिणी भाग) गांवों के एक विशाल समूह में बदलता जा रहा है जिसमें दुनिया की अधिकांश देहाती जनसंख्या रहती है। ज्यादा विकसित देशों की शहरों में रहनेवाली जनसंख्या का प्रतिशत भयानक दर से बढ़ता जा रहा है और बहुत थोड़े से महानगरों में केंद्रित होता जा रहा है। उत्तर (उत्तरी गोलार्ध) की आबादी के एक विशाल नगर में बदल जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है, एक ऐसे क्रूर और बीमार नगर में, जिसमें पीलिया और अकेलेपन की शिकार अपने आप से अजनबी हो गई मानवता ही बसेगी, जिसके बिना खिड़कियोंवाले अंधेरे कमरों में टूटी उम्मीदों और अनाम डेरों का डेरा होगा, जो कंक्रीट बना जंगल होगा और पड़ोसियों से, प्यार या नफरत से, दोस्तों या दुश्मनों से न बसा होगा बल्कि बिना चेहरे और बिना व्यक्तित्ववाली इकाइयों से जीवित जनसांख्यिकीय इकाइयों से बसा होगा। क्या इसी के लिए ग्रामीणधियस स्वर्ग से आग लाया था और देवताओं तथा असुरों ने मिलकर समुद्र का मंथन किया था?

इस विशाल शहर में तीन वेदियां हैं और ये तीनों पगलाए औद्योगिक पूंजीवाद के सम्मानित देवताओं की वेदियां हैं। ये हैं वेतनमान की अर्थव्यवस्था, संचय की अर्थव्यवस्था और शहरीकरण की अर्थव्यवस्था। औद्योगिक क्रांति ने कल कारखानोंवाले शहर के युग का सूत्रपात किया जहां मजदूर वर्ग की झुगियों के ऊपर चिमनियां धुएं के बादल फेंकती रहती हैं। और ये मजदूर किसान ही थे जिनकी जमीन-जायदाद हड़प ली गई थी और जिनके लिए दुनिया पराई बना दी गई थी। इतिहास की दृष्टि से देखें तो औद्योगिक शहर का उदय सही दिशा में एक सकारात्मक कदम था। इसने प्रमुख से गौण क्षेत्र की ओर होनेवाली श्रम शक्ति की प्रलंब गति को देहात से शहर की ओर की क्षैतिज (हारिजेंटल) गति में बदल दिया। इस शहर ने इतिहास के एक औजार का काम किया और तिहरी अर्थव्यवस्थाओं ने इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के उद्देश्य का काम किया।

बहरहाल, हमारे समय की वैज्ञानिक प्रौद्योगिक क्रांति ने परिस्थिति को गुणात्मक रूप से बदल दिया। माइक्रोचिप (कंप्यूटर) ने पैमाने की किफायत (इकानोमी आफ स्केल) की अवधारणा को समाप्त ही कर दिया है। पार्क के एक कोने में बने छोटे से मकान में काम करनेवाले मुट्ठीभर सफेदपोश कामगार बड़ी संख्या में कई एकड़ में फैली

चिमनियों से धुआं उगलनेवाली मिलों में काम करनेवाले असंख्य मजदूरों की तुलना में कहीं अधिक मूल्य का सामान तैयार करने में सक्षम हैं। इसका यह मतलब नहीं कि लघु हमेशा और जरूरी तौर पर सुंदर होता है। यह विचार इस तथ्य पर आधारित है कि वैज्ञानिक (प्रौद्योगिक) क्रांति ने अर्थव्यवस्था को वेतनमान की समस्त कोटियों के लिए उपलब्ध होना संभव बना दिया है। इसलिए यह अचरज की बात नहीं कि उत्तर संसाधनों पर आधारित बड़े पैमाने पर प्रदूषण करनेवाले उद्योगों को लगातार दक्षिण की ओर स्थानांतरित कर रहा है और अनुसंधानपरक अतिकौशल संपन्न, अनुसंधान और विकास (रिसर्च एंड डेवलपमेंट) पर आधारित उत्पादन पद्धतियों पर अपने को केंद्रित कर रहा है। इनमें प्रयोगशाला उत्पादन प्रक्रिया से धीरे-धीरे एकाकार हो जाती है। उत्तर में विकसित होनेवाली यह 'स्वच्छ' वैज्ञानिक प्रौद्योगिक क्रांति प्रदूषण परक औद्योगिक क्रांति को दक्षिण की ओर ढकेलती चली जा रही है। जिस समय उत्तर इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करेगा उस समय तक दक्षिण अभी उन्नीसवीं सदी में ही बना रहेगा।

अब अल्पकालिक यातायात में गुणात्मक सुधार हो जाने से आवास क्षेत्र से बाजार को अलग रखना और औद्योगिक क्षेत्र से आवास क्षेत्र को अलग रखना संभव हो गया है। घरेलू कंप्यूटर ने सूचना के क्षेत्र में क्रांति ला दी है और बड़ी यातायात पद्धतियों वाले अंतःसंबंधित टर्मिनलों ने उसी अर्थव्यवस्था का छोटे और मंझोले आकारवाले आवास क्षेत्रों में उपलब्ध होना संभव बना दिया है। इसलिए जरूरी तौर पर इक्कीसवीं सदी का यह परिप्रेक्ष्य नहीं है कि विराट नगर पिशाच छोटे-बड़े शहरों को निगल जाएं बल्कि यह परिप्रेक्ष्य एक ऐसा संतुलित और मानवीय आवास व्यवस्था का है जिसमें बड़े, मंझोले और छोटे आवास क्षेत्र साथ-साथ विकास कर सकें। उत्तर में बहुत ज्यादा शहरीकरण हुआ है और दक्षिण में अभी बहुत कम हुआ है। उत्तर का प्रदूषित शहर और दक्षिण का गंदा गांव एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उत्तर समृद्धि का मरीज है जब कि दक्षिण गरीबी का, ज्यादा खाने से उत्तर का पेट निकल आया है जबकि दक्षिण का पेट न खाने से। उत्तर को छरहरा होने की जरूरत है जब कि दक्षिण को पौष्टिक खाद्य की। उत्तर को गौरवान्वित करना अमानवीय है और दक्षिण को काल्पनिक अतिरंजना के साथ प्रस्तुत करना फूहड़ता है। एक से दूसरे में पलायन का कोई जरिया नहीं है। हार्लेभ की अंधी गलियों के काले और काठमांडू के उपनगरीय इलाकों में रहनेवाले हिप्पी इस कड़वे यथार्थ को बड़ी कठिनाई से समझ पाए हैं।

विश्व के एकीकरण और विभाजन के बीच का अंतर समाप्त करने में भविष्य की शिक्षा को जरूर ही योग देना होगा। औद्योगिक पूंजीवाद ने मानव की स्थिति को जो क्षति पहुंचाई है, उसकी पूर्ति न सिर्फ उससे फायदा उठानेवाले क्षेत्रों को बल्कि समूचे विश्व को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए। शिक्षा की नीतियां समाज के बुनियादी संरचनात्मक परिवर्तनों से आंतरिक रूप से जुड़ी होनी चाहिए क्योंकि इसके बिना नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था महज एक दिवास्वप्न बन कर रह जाएगी। इसे उन नियतिवादी विचारों का अवश्य सफाया कर देना चाहिए जिनके अनुसार गरीबी प्रकृति

की देन मानी जाती है और वंचित लोगों को गरीबी से वैसे ही समझौता कर लेना चाहिए जैसे प्राकृतिक विपदाओं से लोग समझौता कर लेते हैं। शिक्षा को उन लोगों के विचार जरूर सुधारने चाहिए जो गरीबी की दूषित आध्यात्मिकता में शांति तलाशते हैं या जो जीवन का अर्थ और उद्देश्य समृद्धि के उपभोगवादी बाजारों में तलाशते हैं। भविष्य की शिक्षा को शहरी परिष्कार और देहाती सहजता को एक साथ जोड़ना होगा और देहात शहर के रिश्ते को मानव-जाति के जीवन व्यवहार का सामान्य अंग बनाना होगा।

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को विकसित करने में शिक्षा को जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है, उसे देखते हुए यह ताज्जुब की बात लगती है कि शिक्षा में रोम के क्लब, जापानी क्लब या लियोतिएव के मॉडलों के लिए कोई जगह नहीं है। अगर हमारे भविष्य संबंधी मॉडलों की यह कमी दूर न की जाएगी तो, जैसा कि यूनेस्को के एक अध्ययन में कहा गया है, यह दुनिया दो के बजाए तीन हिस्सों में बंट जाएगी।

इसका मतलब यह है कि बुनियादी संरचनात्मक परिवर्तन (नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था) के बगैर हम एक ऐसी दुनिया बनाएंगे जो तीन प्रकार के देशों में बंटी होगी। सबसे निचले स्तर पर वे देश होंगे जिनमें सिर्फ प्राथमिक शिक्षा होगी और जिन्हें प्रत्यक्ष उत्पादन और निर्वाह स्तर का श्रम करना होगा। बीच में ऐसे देश होंगे जहां (पेशापरक शिक्षा समेत) शिक्षा माध्यमिक स्तर की होगी और जहां सिर्फ साधारण स्तर के छान फटक (प्रासेसिंग) का काम होगा। तीसरे और सबसे ऊपरी स्तर पर वे देश होंगे जहां का हर व्यक्ति विश्वविद्यालय का स्नातक होगा और बड़े वैज्ञानिक तकनीकी संस्थानों से जुड़े अनुसंधान बहुत उद्योगों में काम करेगा।

आधुनिक युग की यह त्रासदी है कि तीसरी दुनिया अभी तीसरी और चौथी दुनिया में विभाजित होती जा रही है और विकासशील देश कम और अति कम देशों में बंटते जा रहे हैं। दुर्भाग्य से विषमता की इस बढ़ती प्रक्रिया में शिक्षा की एक केंद्रीय भूमिका रही है। स्वप्न दुःस्वप्न बनता जा रहा है।

शिक्षा के अपने आंतरिक तनाव और दबाव

शिक्षा की प्रक्रिया के सामाजिक संदर्भ को लेकर ऊपर जो विचार किया गया है, उससे यह गलतफहमी हो सकती है कि शिक्षा काफी हद तक समाजजनित तत्त्व है, कि सारतः इसे बाहरी शक्तियां निर्धारित करती हैं और इसकी कोई स्वायत्तता तथा आंतरिक व्यवस्था नहीं है जो इसमें योगदान करती हो। यह बहुत बड़ा भ्रम है और भविष्य में चलकर इसके बड़े दूरगामी कुपरिणाम हो सकते हैं। इसलिए जरूरी है कि खुद शिक्षा के क्षेत्र की आत्मसंरचना में सक्रिय आंतरिक शक्तियों पर भी ध्यान केंद्रित किया जाए।

शैक्षिक विकास की दिशा को प्रभावित करनेवाला सबसे प्रमुख दबाव परंपरा और

आधुनिकता के अंतर्विरोध ने पैदा किया है। यह अंतर्विरोध परंपरा में मौजूद पतनशील, मृत और पिछड़े तत्वों को त्याग कर और जीवंत, शक्तिशाली तथा प्रासंगिक तत्वों को आधुनिकतम में शामिल कर, परंपरा का आधुनिकीकरण करने से ही हल हो सकता है। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि ज्योतिष शास्त्र का खगोल विज्ञान में रूपांतरण इसी तरह, यानी सौरमंडल के भूकेंद्रित होने की धारणा त्याग कर और उसके कुछ गणितीय सूत्रों को अपना कर ही हुआ था। आधुनिकता शून्य से नहीं टपकती, यह परंपरा के गर्भ से विकसित होती है। वह परंपरा का स्थानापन्न नहीं बल्कि रूपांतरण होती है। आधुनिकता आधुनिकीकृत परंपरा है, समय के समुद्र में एक बूंद है। अगर आधुनिकता समूची परंपरा का त्याग कर दे तो आधुनिक भी न रह जाएगी। वह जड़हीन और शक्तिहीन हो जाएगी; एक अवैध चीज, एक ऐसी चीज जो चमकदमक से भरी होने के बावजूद क्षणिक प्रभाव की होगी और जिसे इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिया जाएगा। और अगर अपने को आधुनिक बनाते हुए परंपरा अप्रासंगिक (पुराने पड़ गए) तत्वों को त्याग नहीं देती तो वह परंपरा भी नहीं रहती, वह संड़ाध और पतन का एक अनुर्वर और ठहरा हुआ तालाब बन जाती है।

परंपरा के आधुनिकीकरण की यह जीवनदायी प्रक्रिया कुछ धीमी गति से और अनेक उतार-चढ़ावों के साथ दुनिया की सभी प्रमुख सभ्यताओं में औद्योगिक क्रांति और उसके बाद औद्योगिक पूंजी तथा वित्तीय पूंजी के उदय के काल तक चलती रही, जहां से इतिहास में एक प्रस्थान बिंदु आया। जहां एक तरफ यूनानी रोमन परंपरा ने, जो धर्माधिकार के घुटन भरे माहौल से उबर आई थी, अपने को बुद्धिवाद और मानवतावाद के विकास पर आधारित करते हुए यूरोप के महानगरीय देशों में खुद को आधुनिक बनाया और विकसित किया, वहीं दूसरी तरफ औपनिवेशिक देशों की परंपराओं को अभूतपूर्व संकट का सामना करना पड़ा। संतुलित अक्षांशों के समुद्रतटीय क्षेत्र यूरोपीय अप्रवासियों के लिए वासस्थल बन गए। एक हाथ में बंदूक और दूसरे हाथ में बाइबिल लिए वे समस्त जनगणों को नष्ट कर देते थे और दया कर के सभ्यताओं को बाड़ों से घिरे क्षेत्रों में आखिरी सांस लेने के लिए छोड़ देते थे। यह पाशविक हत्याकांड ही उपनिवेशीकरण कहलाता था। इसी के साथ नए किस्म के साहित्य, चित्रकला और फिल्मों का उदय हुआ। जिनमें जंगली पश्चिम के इस सभ्यता अभियान को गौरवान्वित किया जाता था। अमरीका और आस्ट्रेलिया दोनों जगह स्थानीय परंपराओं की कब्र पर आधारित आधुनिकता का विकास किया गया। ऊष्णकटिबंधीय देशों में स्थिति इससे भिन्न थी। उन देशों का उपनिवेशीकरण न हुआ बल्कि उन्हें उपनिवेश ही बना लिया गया। अपने देश की जमीन में गहरी जड़ें जमाई हुई परंपराओं को और भारत जैसे देशों में तो हजारों साल के सामाजिक अनुभव के सारतत्त्व के रूप में कायम यहां की परंपराओं को गतिहीन बना दिया गया और वे अनुर्वर, क्षययुक्त और शिलीभूत हो गईं। इन परंपराओं के पिछले और पतनशील तत्वों को अपनी स्वाभाविक मौत मरने नहीं दिया गया ताकि उनकी जगह नई जमीन को उर्वर किया जाता और नए अंकुर फूटते।

साम्राज्यवादी शक्तियों ने जातिवाद, सांप्रदायिकता और संकीर्णता जैसे नासूरों को बनाए रखा ताकि राष्ट्रीय उत्थान का माहौल प्रदूषित हो और इन देशों की व्यवस्था में विचारधारात्मक दुर्बलता भरी जा सके। परंपरा के पतनशील तत्वों की इस धिनौनी सतह पर समुद्र पार से आयातित आधुनिकता की एक तह चढ़ा दी गई। ये संरचनात्मक (मूल) खामियां शिक्षा के अल्पविकास के संवेदनशील क्षेत्र में सबसे तीखे ढंग से व्यक्त हो रही थीं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो अधिकांश पाठशालाएं गुरुकुल और मदरसे तो भूकेंद्रित सौर-मण्डल का सिद्धांत (यानी सूरज पृथ्वी के चारों ओर घूमता है) बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक पढ़ाते रहे और मैकाले की शिक्षा व्यवस्था चाटुकार स्नातक पैदा करती रही। परंपरा तो मर रही थी, मगर आधुनिकता जन्म लेने में असमर्थ थी। इसलिए अधिकांश अन्य औपनिवेशिक देशों की तरह भारत का पुनर्जागरण भी न तो सही मायने में आधुनिक था और न तात्त्विक ढंग का पुनर्जागरण था। निष्ठात रूप से यह बात सच है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए चलनेवाले साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष ने शिक्षा के वैकल्पिक मॉडलों की खोज के लिए प्रेरित किया। लेकिन संभवतः रवींद्रनाथ ठाकुर और जवाहरलाल नेहरू के बौद्धिक योगदान को छोड़ दें तो परंपरा और आधुनिकता के बीच की दरार नहीं ही पाटी जा सकती।

न सिर्फ भारत में बल्कि समूचे दक्षिण गोलार्ध में समकालीन शिक्षा इस समस्या की जटिलताओं से अभी तक जूझ रही है। अकादमिक उपनिवेशवाद या नव उपनिवेशवाद को लेकर शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ती चिंता को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। इस उम्मीद के अनुसार और ज्यादा समानता पर आधारित दुनिया में भविष्य की शिक्षा को आयातित आधुनिकता की चुनौती स्वीकार करनी पड़ेगी और शैक्षिक कार्यक्रम इस तरह निर्धारित करना पड़ेगा कि आत्मनिर्भर राष्ट्रीय परंपराओं के आधार पर आधुनिकता का विकास हो।

शैक्षिक क्षेत्र की स्वायत्तता की आत्मसंरचना में सक्रिय दूसरी आंतरिक शक्ति है, ज्ञान का विस्फोट चूंकि शिक्षा मानवीकरण का काम सारतः मनुष्य जाति के संचित सामाजिक अनुभव को नई पीढ़ी तक पहुंचाने के रूप में करती है और ज्ञान इस अनुभव का ही अमूर्तन है, इसलिए ज्ञान के क्षेत्र में तीव्रगति से होनेवाले विस्तार का शिक्षा के लिए निहितार्थ काफी गंभीर है। लेखन, टाइपराइटर और कंप्यूटर ज्ञान के विस्तार में तीन गुणात्मक रूप से विकसित मंजिलें (छलांगें) हैं। पंद्रहवीं सदी में और शायद पहले के एक हजार वर्षों में जितनी पुस्तकें पूरे साल में छपती थीं, आज उतनी एक दिन में छप जाती हैं।

शिक्षार्थी पर पड़नेवाले भार में और शैक्षिक श्रम में होनेवाले बढ़ोतरी शिक्षा संबंधी सिद्धांत और व्यवहार पर नए सिरे से सोचने की मांग करती है। जिस तरह क्षमता के आधार पर औद्योगिक क्रांति के दौर में उत्पादन प्रक्रियाएं छोटी से छोटी इकाइयों में विभाजित कर दी गई थी, उसी तरह ज्ञान भी विश्लेषण के लिहाज से कई हिस्सों में बांट दिया गया था। बहुआयामी यथार्थ के बहुरंगी ज्ञान की जीवंत खोज बहुधा

अपने लिए ही अजनबी हो गए लोगों के आत्मलीन तकनीकी अभ्यास में बदल गई। हमारे समय की वैज्ञानिक प्रौद्योगिक क्रांति शिक्षाप्रक्रिया के गुणात्मक रूप से एक भिन्न मॉडल का निर्माण कर रही है जिसमें भावचित्रात्मकता की जगह विधिपरकता पर और विखंडित शिक्षा के बजाय संपूर्णतापरक शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता है। प्राचीन और मध्ययुगीन की विश्वकोशीय सर्वांगीणता औद्योगिक क्रांति द्वारा अपने विरोधी तत्त्व में यानी ज्ञान की विखंडित इकाइयों में बदल दी गई यह विखंडित ज्ञान अब फिर से वैज्ञानिक प्रौद्योगिक क्रांति द्वारा अपने विपरीत तत्व में बदला जा रहा है और उच्च स्तर पर इसकी आदिम एकता पुनः स्थापित की जा रही है। भविष्य की शिक्षा को इस पुनःस्थापना के लिए बौद्धिक माहौल निर्मित करना होगा। आसार ऐसे हैं कि यह काम नीचे दिए गए तरीके से किया जाएगा।

पहले, ज्ञान की विषयवस्तु की अपेक्षा ज्ञान की प्रक्रिया पर, यानी इस चीज पर ज्यादा जोर दिया जाएगा कि आखिर जाना कैसे जाता है, क्या जानना है इस पर जोर नहीं दिया जाएगा। सामान्य और गुणात्मक तर्कशास्त्र शैक्षिक गतिविधि में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान पर जाएगा क्योंकि इसमें मूर्त का सबसे बेहतर अमूर्तन होता है और इसकी मदद से ही अज्ञात क्षेत्रों की खोजबीन की जाती है। ध्यान देने की बात है कि ज्ञात क्षेत्र और अज्ञात क्षेत्र के बीच का अनुपात अभी पहले जैसा ही बना हुआ है। दूसरे शब्दों में, हर जानना साथ-साथ न जानना भी है। एक प्रश्न का उत्तर कई ऐसे प्रश्नों को जन्म दे देता है जिनका उत्तर अभी पाना है। ज्ञान के विस्तृत होते क्षेत्र का यह मॉडल एक ऐसी शिक्षाव्यवस्था की मांग करता है जो सारतः ज्ञान के औजारों को धारदार बनाती है।

दूसरे, भविष्य की शिक्षा में विशिष्ट की अपेक्षा सामान्य पर ज्यादा बल दिया जाएगा। ज्ञान के विस्तृत होते विश्व को समेट पाना तभी संभव होगा जब शिक्षा को विस्तृत सूचना इकाइयों के ब्यौरों पर आधारित न किया जाए बल्कि ऊंचे स्तर की एकतापरक बौद्धिक धारणाओं पर आधारित किया जाए।

तीसरे, ज्ञान के संगठन के संपूर्णतावादी सिद्धांतों पर यानी विकासक्रम और उसके सिद्धांतों पर ज्यादा से ज्यादा जोर दिया जाएगा। गतिशील पदार्थ, जिसे मनुष्य सामाजिक व्यवहार के जरिए जानता है, काल और दिक् के ढांचे में ही अपना अस्तित्व रखता है। काल और दिक् भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व के प्रमुख रूप होते हैं। जो है, उसका अस्तित्व अगर काल और दिक् के ढांचे में ही संभव है तो गहरे अध्ययन के लिए न सिर्फ संपूर्णता को उसके पहलुओं में विभाजित करने की जरूरत है बल्कि इन दो तत्त्वों के संदर्भ में इस संपूर्णता को एक व्यवस्थित रूप देने की भी जरूरत है। सिर्फ इसी तरह ज्ञान के उत्पादों और प्राथमिक संवेदनों से ले कर जटिल बौद्धिक धारणाओं तक को उचित और पर्याप्त ढंग से व्यवस्थित रूप दिया जा सकेगा। अकादमीय 'अनुशासन', जो पहली दो प्रक्रियाओं के परिणाम हैं, बहुआयामी यथार्थ के विभिन्न पहलुओं से संबंध रखते हैं। इनमें से दूसरी प्रक्रिया ने न सिर्फ ज्ञान के संगठित ढांचे

के अर्थ में दो 'अनुशासनों' को जन्म दिया है बल्कि इन अनुशासनों को यानी इतिहास और भूगोल को ज्ञान के संगठन के दो पूरक ढांचों के रूप में विकसित किया है। क्योंकि ज्ञान का विषय था यथार्थ। यथार्थ सिर्फ काल और दिक् के संदर्भ में ही अपना अस्तित्व रखता है। जो विज्ञान परिवर्तनों और अंतःसंबंधों का अध्ययन सारतः काल के संदर्भ में करता है, वह इतिहास है और जो इनका अध्ययन सारतः दिक् के संदर्भ में करता है, वह भूगोल है।

चौथे, बहु अनुशासनिक और अंतरानुशासनिक पद्धतियों पर ज्यादा जोर दिया जाएगा। सात अंशों की तरह विशिष्ट पहलुओं का अध्ययन करनेवाले अनुशासन (डिसिप्लिन) सीमित पक्षों पर ही ध्यान केंद्रित करते हैं और इस तरह अक्सर न सिर्फ संपूर्ण का बल्कि अंश का भी विकृत चित्र प्रस्तुत कर पाते हैं। इस चीज की समझ का हमारे समय की शैक्षिक गतिविधियों पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा है। पहले तो इसने विद्यालयों में सामान्य शिक्षा का आम आधार तैयार करने में मदद की है। दूसरे, अनुशासनिक विशेषीकरण को अंतरानुशासनिक मुद्दों से जोड़ने का काम किया है। तीसरे, रसायन व भौतिक शास्त्र या ऐतिहासिक भू-विज्ञान जैसे अनुशासन सीमाओं से लगे दिनामी अनुशासनों को जन्म दिया है। चौथे, मूल अनुशासन की धारणाओं को दूसरे अनुशासनों से, जैसे भौतिक शास्त्र के गुरुत्वाकर्षण की धारणा को जन सांख्यिकी से संबंधित आप्रवास-अध्ययनों तथा अर्थशास्त्र और भूगोल में माल संचरण के विश्लेषण को इस्तेमाल करने की प्रेरणा दी है। और अंततः सारे अनुशासनों में, और खास कर मूल विज्ञानों में दार्शनिक चिंताओं को गहरा किया है।

ऊपर बताए गए रुझान भविष्य में और मजबूत होंगे और इस प्रक्रिया में शिक्षा हमारे समय के लिए और ज्यादा प्रासंगिक हो जाएगी।

शिक्षा और श्रम की दुनिया

प्राचीन और मध्यकालीन शिक्षा सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित थे कि जो लोग काम (श्रम) करते हैं उन्हें सोचना न चाहिए और जो लोग सोचते हैं, उन्हें काम न करना चाहिए। चिंतन श्रम को सत्वहीन बनाता है और श्रम चिंतन को प्रदूषित करता है। ब्राह्मण को हल न छूना चाहिए और शूद्र को वेद नहीं छूना चाहिए। ध्यान-मनन ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत था और ज्ञान हिमालय की किसी कंदार के एकांत में अथवा निर्जन जंगल के किसी वटवृक्ष के नीचे ही प्राप्त किया जा सकता था। यही निर्वाण का, सच्चे ज्ञान की उपलब्धि का मार्ग था। लेकिन अगर कोई हल से खेत जोतता है या हथौड़े से कच्चे लोहे को नया रूप देता है तो उसकी चिंतन-क्षमता नष्ट हो जाएगी। इस सिद्धांत का प्रचार वे संपत्तिशाली वर्ग करते थे जो उत्पादन के साधनों तथा ज्ञान के साधनों पर अपना एकाधिकार और नियंत्रण कायम रखना चाहते थे। जब तक वे इन दो बुनियादी क्षेत्रों पर एकाधिकार कायम रखने की स्थिति में थे तब

तक दूसरों से काम कराते रहने में वे सफल थे और उनके श्रम से उत्पन्न अतिरिक्त मूल्यों को हड़पा करते थे। जब तक वे सत्ता के इन दोनों स्रोतों तथा माध्यमों पर कब्जा किए हुए थे तब तक बिना काम किए काम का फल चखा करते थे। न सिर्फ भारत में बल्कि समूची दुनिया में प्राचीन और मध्यकालीन दौरों में विकसित हुए शिक्षासिद्धांत का यही सामाजिक आधार था। उदाहरण के लिए प्लेटो के शिक्षासिद्धांत के अनुसार दार्शनिक को ही राजतंत्र का स्वामी होना चाहिए।

ज्ञान से कर्म का अलगाव शिक्षा से प्रशिक्षण के अलगाव के जरिए संपन्न किया गया था। प्रशिक्षण का उद्देश्य होता था, श्रम के कौशल और कारीगरी के भेदों को मेहनतकश गरीबों की नई पीढ़ी तक पहुंचाना ताकि वे अपने खून-पसीने से मूल्य पैदा कर सकें। शिक्षा का उद्देश्य था सामाजिक व्यवहार के अमूर्त सामान्यीकरणों को ज्ञान के मोतियों के रूप में संपत्तिशाली वर्गों की नई पीढ़ियों तक पहुंचाना ताकि वे उस ज्ञान पर अपने एकाधिकार के जरिए सत्ता में बने रह सकें और गरीबों के श्रम से उत्पादित अतिरिक्त मूल्यों को अपनी संपत्ति में बदलते रह सकें। मानव जाति के संचित सामाजिक अनुभव को नई पीढ़ियों तक पहुंचाने का मूलतः समन्वित काम इस तरह दो हिस्सों में बंट गया था। आदिम समाज की एकता वर्ग समाजों के भेद में बदल गई थी। प्रमुख कारीगर और उसके शिष्यों की दुनिया और उन संरक्षित बिहारों की दुनिया एक-दूसरे से एकदम अलग हो गई थी जिनमें बैठ कर ज्ञानीजन इस बात पर बहस किया करते थे कि सूई की नोक पर कितने देवदूत एक साथ बैठ सकते हैं। ज्ञान से कर्म को और सत्ता से कर्म को अलग करने की यह परंपरा ही मेहनत कशों को शिक्षा से वंचित करके ज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत करने की और अशिक्षितों का सत्ता में आना वर्जित कर उन्हें सत्ता के क्षेत्र से बहिष्कृत करने की प्रक्रिया का आधार रही है। इस तरह देखा जाए तो शिक्षा इतिहास में विषमता कायम करने का सबसे समर्थ साधन रही है।

औद्योगिक क्रांति के प्रभाव में पश्चिम के विकसित देशों ने इस विकृति को अंशतः सुधारा पर गुणात्मक रूप से प्रौद्योगिकी के बदल जाने पर अब यह संभव न रहा कि कुशल कारीगर प्रशिक्षण के क्षेत्र को पार कर शिक्षा के क्षेत्र में दाखिल हुए बगैर उत्पादन में भाग ले सकें। लोहार के लिए धातु विज्ञान की जानकारी जरूरी हो गई जैसे चर्मकारों के लिए रासायनिक (प्रौद्योगिकी) की जानकारी जरूरी हो गई। नई परिस्थिति में प्रशिक्षण और शिक्षा के बीच अभी तक बनी हुई अलंघ्य दीवार तोड़नी पड़ी। अटलांटिक सागर के पार की उन परंपरागत ढंग से अछूती जमीनों में ऐसा करना संभव हुआ, जहां चर्मकार और इतिहासकार, लोहार और भौतिकशास्त्री, कृषक और कवि पश्चिम के बीहड़ों में अपनी समान नियति को निर्मित करने में एक साथ लगे हुए थे। नई दुनिया के माहौल में ज्ञान से कर्म के अलगाव का मतलब होता है मृत्यु। एक राजनीतिकर्मी अपने साथ छेनी, हथौड़े, कुल्हाड़े और फाल के साथ कृषिशस्त्र की पाठ्य पुस्तक, जान पेन की कृतियां और बाइबिल भी लिए चलता था। व्यवहार से रहित सिद्धांत का निर्जीव

परिष्कार और सिद्धांत से रहित व्यवहार की गंवारू जीवंतता ने उदीयमान महाद्वीप के अग्रणी हरे आवास क्षेत्रों में घुल-मिलकर परिष्कृत जीवंतता को जन्म दिया।

यूरोपीय महाद्वीप के शुद्ध परंपरागत शिक्षावाले विश्वविद्यालय उस नए संकर शिक्षा परिसर को देख लाल-पीले होते रहे, जहां कर्म और ज्ञान मिलकर एक दूसरे को एक नया आयाम दे रहे थे। कैंब्रिज, पदुआ, सोबोन या कार्लोवा जैसे संस्थानों का प्रशंसित एकांत इस नई दुनिया में टूट गया था और कारखाने का हंगामा अंततः पवित्र विद्या मंदिरों में प्रवेश कर गया था। यूरोप के विश्वविद्यालयों को नए दौर की नई जरूरतों के अनुकूल ढलना पड़ा। शुरू में पिछड़ी जाति के ढंग के लाल ईंटोंवाले विश्वविद्यालयों का उदय हुआ जो आक्सफोर्ड और कैंब्रिज से जुड़ी परंपरा की समृद्धि से कोसों दूर थे। लेकिन यह आंदोलन काफी तेजी से फैला। इस तूफान को पिछड़े किस्म के पूर्वग्रहों से रोका न जा सका। विकसित देशों की शिक्षाव्यवस्था में प्राथमिक शिक्षा जरूरी बना दी गई और उच्च शिक्षा गवसाय से जुड़ गई।

तीसरी दुनिया की त्रासदी असल में यह है कि यहां औद्योगिक क्रांति न होने दी गई। इन देशों के सामाजिक ढांचे में कर्म और ज्ञान के बीच की दूरी अब भी बनी हुई है। औपनिवेशिक शासन की जरूरतों ने इनका आर्थिक विकास रोक दिया, कृषि के क्षेत्र में प्रौद्योगिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर दिया, आत्मनिर्भर औद्योगिक क्षेत्र विकसित न होने दिया, और इस तरह इसने श्रमशक्ति को प्राथमिक क्षेत्र से गौण क्षेत्र में स्थानांतरित होने की दिशा में गंभीर बाधा डाली और अधिक से अधिक अल्पविकास का ही विकास होने दिया। हस्त-उद्योग पर आधारित गौण क्षेत्र का विघटन होने से प्रौद्योगिकी के लिहाज से ठहराव के शिकार प्राथमिक क्षेत्र की गतिविधियों पर भारी दबाव पड़ा और औपनिवेशिक प्रशासन की जरूरतें अभावग्रस्त तीसरे क्षेत्र से पूरी की जाने लगीं जो श्रम से अलग था तथा वह श्रम को नीची निगाह से देखता था। इस तरह आज के विकसित देशों में जिन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने कर्म और शिक्षा के बीच की दूरी घटाई थी, वे तीसरी दुनिया के देशों में पैदा होने ही न दी गई। हालांकि इन देशों को राजनीतिक आजादी हासिल किए कई दशक बीत गए और श्रम तथा शिक्षा की दूरी कम करने के यहां अनेकों शैक्षिक सुधार भी किए जा चुके हैं लेकिन दक्षिणी गोलार्ध के अधिक देशों में स्थिति अब भी काफी असंतोषजनक है। इन देशों की शिक्षा का भविष्य काफी हद तक उन संबंध सूत्रों को फिर से स्थापित करने पर निर्भर है जो व्यक्तिगत संपत्ति और सामाजिक श्रेणी-विभाजन के उदय के कारण टूट गए थे। शिक्षा को भविष्य की शिक्षा बनने के लिए अपनी जड़ें श्रम में जमाना होंगी।

हमारे समय की वैज्ञानिक प्रौद्योगिक क्रांति, जिसने उत्तरी गोलार्ध में अनेक रचनात्मक परिवर्तनों के द्वार खोले हैं, फिलहाल, विकसित पूंजीवाद की बहादुराना नई दुनिया एक नई किस्म के खतरे पैदा कर रही है। वहां श्रम शक्ति अल्पसंख्यक उच्च प्रशिक्षितों और बहुसंख्यक मानवीय रोबोटों के बीच विभाजित होती जा रही है। लग रहा है कि शिक्षाप्रणाती मशीन जैसी बृहत् संख्या में से मानवीय अल्पसंख्या को छोट कर

अलग करने का साधन बन जाएगी। यह खतरा और गंभीर तब हो जाता है जब हम पाते हैं कि सूचना और उसके संप्रेषण के माध्यमों पर कम से कम लोगों का एकाधिकार होता जा रहा है। शिक्षाप्रक्रिया के वैयक्तीकरण की सुविधा, जो प्रौद्योगिकी में होनेवाले विकासों के कारण संभव हुई है, अब अर्थहीन होती जा रही है। अगर यह सच है कि उत्तर के हर घर में टेलीविजन है, वहां यह भी सच है कि सिर्फ कुछ अंतर्राष्ट्रीय कंपनियां टेलीविजन के संसाधनों पर एकाधिकार जमाए हुए हैं।

भविष्य की शिक्षा को कर्म और ज्ञान के बीच संबंध मजबूत करने की चुनौती का सामना करना होगा और उसको यह भी देखना होगा कि श्रमशक्ति की बहुसंख्या रोबोटों में न बदल दी जाए।

कुछ प्रयोगमूलक निष्कर्ष

- (1) भविष्य की शिक्षा को रूप और व्यापार, साधन और साध्य एवं कर्म और ज्ञान के पद पर अंतःसंबंध के जरिए मनुष्यों के मानवीकरण की प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है।
- (2) प्रौद्योगिकी में होनेवाले विकासों के चलते समान उत्पादन के लिए ही अल्पमात्रा और उच्च गुणोंवाली श्रम शक्ति की जरूरत पड़ती है। इसके लिए कम घंटे काम और अधिक घंटे शिक्षा की जरूरत पड़ती है क्योंकि काम के घंटे श्रम की मात्रा और शिक्षा के घंटे श्रम के गुण के सूचक होते हैं।
- (3) भविष्य की शिक्षा मनुष्य के समूचे जीवन भर, 'मां की गोद से कब्र' तक जारी रहनेवाली प्रक्रिया होगी।
- (4) भविष्य की शिक्षा को मनुष्य और प्रकृति के बीच की आदिम एकता को गुणात्मक रूप से ऊंचे स्तर पर पुनः स्थापित करना होगा और यथार्थ की उस अद्वैतवादी दृष्टि में अपनी जड़ें जमाने होंगी जो वर्ग समाजों में लाभ के लोभ से प्रेरित प्रकृति को पराजित करने की भागमभाग में खो गई थीं। पर्यावरणव्यवस्था का सिद्धांत वस्तुगत यथार्थ की समन्वित जटिलता को सबसे घनिष्ठ रूप से वैचारिक अभिव्यक्ति देता है और इसलिए यह इक्कीसवीं सदी की सबसे प्रासंगिक विचारधारा का आधार बन सकता है।
- (5) भविष्य की शिक्षा को एक तरफ समाज के सार्वभौमीकरण के लिए और दूसरी तरफ उसके विभेदीकरण के लिए माहौल तैयार करना होगा। संकीर्ण, रूढ़िबद्ध और संसारी हुए बिना इसे विशिष्ट को समझना होगा और पारलौकिक, वायवीय, तथा 'स्वर्गिक' हुए बिना सार्वभौम (सामान्य) को समझना होगा। इसको मानवीय, संवेदनशील और मानवजाति का अंतःकरण बनना होगा। यह धरती की महक लिए होगी लेकिन इसकी नजर तारों की ओर भी उठी होगी।

- (6) भविष्य की शिक्षा को विश्व के एकीकरण और विभाजन के बीच के अंतर्विरोध को हल करने में योग देना होगा। औद्योगिक क्रांति के आघातों से मानवीय स्थिति में जो टूटन और दरारें आ गई हैं उन्हें न सिर्फ उस टूटन को झेलने वालों के बल्कि संपूर्ण मानव जाति के हित में करना होगा। शिक्षा नीतियां बुनियादी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से आंतरिक रूप से जुड़ी होनी चाहिए क्योंकि इसके बिना नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था महज दिवास्वप्न बन कर रह जाएगी। इसे उन तमाम नियतिवादी धारणाओं का अंत करना होगा जिनका मानना है कि गरीबी प्रकृति का उपहार है और वंचित लोगों को इसे वैसे ही झेलते जाना चाहिए जैसे लोग प्राकृतिक विपदाओं को झेलते हैं। इसे उन लोगों की दृष्टि ठीक करनी होगी जो गरीबी की दूषित आध्यात्मिकता में पनाह खोजते हैं और उनकी दृष्टि भी ठीक करनी होगी जो समृद्धि के उपभोक्तावाद में जीवन का अर्थ और उद्देश्य खोजते हैं। भविष्य की शिक्षा को शहरी परिष्कार और देहाती लोकतत्त्व को एक साथ जोड़ना होगा और शहर-देहात संबंध को मनुष्य के जीवन के सामान्य अंग के रूप में स्थापित करना होगा।
- (7) भविष्य की शिक्षा आशा के मुताबिक अधिक समानतापरक दुनिया में शैक्षिक गतिविधि के क्षेत्र में आधुनिकता के आयातीकरण को चुनौती के रूप में लेगी और मृत परंपरा तथा जड़हीन आधुनिकता दोनों को त्याग कर, खुद आत्मनिर्भर राष्ट्रीय परंपराओं के आधुनिकीकरण की दिशा में प्रयत्न करेगी।
- (8) भविष्य की शिक्षा ज्ञान की वस्तु की अपेक्षा ज्ञान की पद्धति पर, क्या जाना जाए की अपेक्षा कैसे जाना जाए पर और विशिष्ट की अपेक्षा सामान्य पर ज्यादा जोर देगी।
- (9) भविष्य की शिक्षा ज्ञान के संगठन के संपूर्णतावादी सिद्धांतों पर ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों दृष्टियों से ज्यादा जोर देगी।
- (10) भविष्य की शिक्षा अनुशासनों की सीमाओं पर होनेवाले द्विशास्त्रीय अनुशासनों के विकासमूलक अनुशासनों की धारणाओं और पद्धतियों के अन्य अनुशासनों में उपयोग और समन्वय और सभी अनुशासनों में हो रहे अनुशासनिक विशेषीकरण के साथ दार्शनिक चिंताओं को उभार कर बहुअनुशासित और अंतर-आनुशासनिक दृष्टिकोण (पद्धति) विकसित करने पर ज्यादा जोर देगी।
- (11) भविष्य की शिक्षा बनने के लिए शिक्षा को अपनी जड़ें गहराई तक श्रम में जमाने होंगी। पाशविकता का अतिक्रमण करने में इसे मनुष्य की मदद करनी होगी और इसके साथ मनुष्य को मस्तिष्कहीन रोबोटो (स्वचालित यंत्रों) में बदलने से भी रोकना होगा।

संदर्भ ग्रंथ

अध्याय : दो

1. आइटन (1971) 'ए फैक्टर एनालिसिस आफ माडर्नाइजेशन इन विलेज इंडिया,' *इकनामिक जर्नल*, 81.
2. बेनेट, डब्ल्यू. एस. (1960), 'अंडर इनवेस्टमेंट इन कालेज एजुकेशन', *अमेरिकन इकनामिक रिव्यू* : प्रोसीडिंग्स, 50.
3. भट्तारी, पी. एन. (1978) : 'पापुलेशन एजुकेशन एंड इंप्लायमेंट इन तुमकूर डिस्ट्रिक्ट 1921-71': ए सेंसस एनालिसिस (मीमियो). आई. एस. ई. सी. बंगलौर.
4. ब्लाऊ, पी. एम. तथा ओ. डी. डंकन (1967) : *दि अमेरिकन एक्जूपेशनल स्ट्रक्चर*, न्यूयार्क, जॉनवाइली एंड संस.
5. चौधरी, डी. पी. (1974) : 'रूरल एजुकेशन एंड एग्रीकलचरल डेवलपमेंट : सम इंपिरिकल रिसर्च फ्राम इंडियन एग्रीकलचर,' पी. फोस्टर तथा जे. आर. शेफील्ड (सं.) 'द वर्ल्ड इयर बुक आफ एजुकेशन : एजुकेशन एंड रूरल डेवलपमेंट', लंदन, इवांस में संकलित लेख.
6. क्लिगनेट, आर. एंड. पी. फोस्टर, (1967) : 'फारचुनेट फिउ', इवांस्टन इलिनॉय, नाथविस्टर्न यूनिवर्सिटी प्रेस.
7. कोलक्लाफ, सी. (1982) : द इपैक्ट आफ प्राइमरी स्कूलिंग आन इकनामिक डेवलपमेंट : ए रिव्यू आफ द एविडेस, *वर्ल्ड डेवलपमेंट* 10.
8. डंकन, बी. (1976) : एजुकेशन एंड सोशल बैकग्राउण्ड, 'अमेरिकन जर्नल आफ सोशियोलोजी' 72.
9. इऐंसन, आर. एफ. बी. एम. पॉपकिन एंड ई. के. क्विजोन (1980) : न्यूट्रीशन वर्क एंड डेमो ग्राफिक बिहैवियर इन रूरल फिलिपीन हाउस होल्ड, एच. पी. विनसेंजर तथा अन्य (सं.); रूरल हाउस होल्ड, स्टडीज इन एशिया, सिंगापुर, सिंगापुर यूनिवर्सिटी प्रेस में संकलित.
10. हार्कर, बी. आर. (1974) : 'द कांट्रीब्यूशन आफ स्कूलिंग टु एग्री-कलचरल माडर्नाइजेशन : एन इंपिरिकल एनैलिसिस,' पी. फास्टर और जे. आर. शेफील्ड (सं.) 'द वर्ल्ड इयर बुक आफ एजुकेशन : एजुकेशन एंड रूरल डेवलपमेंट' में संकलित.

11. मार्टिन, सी. जे. (1982) : 'एजुकेशन एंड कंजपशन इन मारागोली (केनिया) : हाउस होल्ड्स एजुकेशनल स्ट्रैटेजीज, कंपरेटिव एजुकेशन संख्या 18.
12. मेंडिस, जी. (1981) : 'एजुकेशन इन प्रोसेस आफ विलेज डेवलपमेंट' 'इकनामिक रिव्यू' संख्या 6.
13. मिल, सी. राइट. (1959) : 'दि पावर इलीट' न्यूयार्क, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
14. मोइरा, जे. आर. (1960) : 'रूरल एजुकेशन एंड सोशियो-इकनामिक डेवलपमेंट इन ब्राजील' 'रूरल सोशियोलोजी', संख्या 25.
15. नैश, एम. (1965) : 'द रोल आफ विलेज स्कूल्स इन द प्रोसेस आफ इकनामिक मॉडर्नाइजेशन' 'सोशल एंड एजुकेशनल स्टडीज', संख्या 14.
16. पारीख, यू. (1982) : 'एजुकेशन एंड रूरल डेवलपमेंट इन एशिया' नई दिल्ली आक्सफोर्ड एंड आई. बी. एच.
17. राव, बी. एम. एंड एन. एस. शेटी (1968) : 'ए प्रिंसपल कंपोनेंट स्टडी आफ टेक्नोलॉजिकल प्रोग्रेसिवनेस आफ फार्मर्स-इलुस्ट्रेशन आफ एन ए फ्रॉच टु इवैल्युएशन', 'इकनामिक एनुअल', संख्या 15.
18. सीतारामु, ए. एस. (1984) : 'प्लानिंग एंड मैनेजमेंट आफ एजुकेशन विदिन इंटीग्रेटेड रूरल डेवलपमेंट प्रोजेक्ट्स (मीमियो)', बंगलोर इंस्टीच्यूट फार सोशल एंड इकनामिक चेंज, यूनेस्को प्रोजेक्ट.
19. सिंह, एस. एन. (1969) : 'ए स्टडी आन एडाप्शन आफ हाई ईलिंग बेराइटीज एंड इन्वेस्टमेंट पैटर्न आफ एडिशनल इनकम बाई फार्मर्स आफ डेल्ही टेरीटोरी'; अन पब्लिशड पी-एच. डी. डिसर्टेशन, आई. ए. आर. आई. नई दिल्ली.
20. स्पैडी, डब्ल्यू. जी. (1967) : 'एजुकेशनल मोबिलिटी एंड एक्सेस : ग्रोथ एंड पैराडाक्सेज', 'अमेरिकन जर्नल आफ सोशियोलोजी', संख्या 73.
21. वर्ल्ड बैंक (1980 ए) : 'ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेंट एंड इकनामिक ग्रोथ', स्टाफ पेपर्स, वर्ल्ड बैंक.
22. वर्ल्ड बैंक (1980 बी) : 'एजुकेशन सेक्टर पालिसी पेपर',

अध्याय : तीन

23. अहमद, ए. (1982) : 'इंटर-रीजनल इन इक्विटी इन लिटरेसी लेवेल्स आफ ट्राइबल्स एंड कास्ट सेगमेंट्स आफ पापुलेशन इन इंडिया, 1971, नीपा में लांग टर्म एजुकेशनल प्लानिंग, विषय पर आयोजित संगोष्ठी में पढ़ा गया पर्चा, नई दिल्ली, जनवरी 1982.
24. कैरों, शैबियल और चाऊ ता नागो (सं.) (1980ए) 'रीजनल डिस्पैरिटीज इन एजुकेशनल डेवलपमेंट : ए कंट्रोवर्सियल इश्यू', इंटरनेशनल इंस्टीच्यूट फार एजुकेशनल प्लानिंग, यूनेस्को, पेरिस.
25. ---- (1980बी) : 'रीजनल डिस्पैरिटीज इन एजुकेशनल डेवलपमेंट : डायग्नोसिस

- एंड पॉलिसीज फार रिडक्शन', यूनेस्को प्रेस, पेरिस.
26. सेंसस आफ इंडिया (1981) : प्रोविजनल पापुलेशन टेबुल्स सीरीज I, पेपर I आफ 1981, 1981
27. ----(1981) : प्रोविजनल पापुलेशन टेबुल्स : वर्कर्स एंड नॉन-वर्कर्स, पेपर 3 आफ 1981, नई दिल्ली.
28. डीसूजा, एस. विक्टर (1982) : अरबनाइजेशन एंड द रूरल-अरबन डिफरेंसेज इन लिटरेसी, पेपर प्रेजेंटेट एट द कानफरेंस आफ इंडियन एसोसिएशन फॉर पापुलेशन स्टडीज, नई दिल्ली, दिसंबर 1982.
29. गोसाल, जी. एस. (1968) : लिटरेसी इन इंडिया : एन इंटरप्रिटेटिव स्टडी, रूरल सोशियोलॉजी, वाल्यूम 29.
30. कुण्डू, ए. एंड जे. एम. राव (1982) : 'इनइक्विटी इन एजुकेशनल डेवलपमेंट : इश्यूज इन मिजरमेंट, चेंजिंग स्ट्रक्चर एंड इट्स सोशियो-इकनामिक कोरिलेट्स विद स्पेशल रेफरेंस टु इंडिया', पेपर प्रेजेंटेट एट रीजनल वर्कशाप इन लांग टर्म एजुकेशनल प्लानिंग, नीपा, नई दिल्ली, जनवरी 1982.
31. नेशनल कौंसिल आफ एजुकेशनल रिसर्च एंड ट्रेनिंग (1980) : फॉर्थ आल इंडिया एजुकेशनल सर्वे एन. सी. ई. आर. टी., नई दिल्ली.
32. राइबा, आर. (1979) : 'टेरिटोरियल पैटर्न्स आफ डाइवर्सिटी इन एजुकेशन', 'कंपरेटिव एजुकेशन', जिल्द 15, सं. 3.
33. सेन, ए. के. (1973) : 'आन इकनामिक इनइक्वालिटी', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.
34. शाह माया (1981) : 'इकनामिक फैक्टर्स एक्सप्लेनिंग वैरिएशंस इन लिटरेसी रेट्स इन रूरल एरियाज : ए केस स्टडी आफ गुजरात डिपार्टमेंट आफ इकनामिक्स, फैकल्टी आफ आर्ट्स, एम. एस. यूनिवर्सिटी बड़ौदा, बड़ौदा.
35. सोफर, डी. ई. (1974) : 'ए मीजर आफ डिस्पैरिटी' 'प्रोफेशनल ज्याग्रफर' जिल्द 26, सं. 4.
36. यूनेस्को (1978) : 'एस्टिमेट्स आफ प्रोजेक्संस आफ इल्लिटरेसी', डिविजन आफ स्टैटिस्टिक्स आफ एजुकेशन, यूनेस्को, पेरिस.
37. ----(1980) : 'कंपरेटिव एनालिसिस आफ मेल एंड फीमेल एनरौलमेंट एंड इल्लिटरेसी', यूनेस्को, पेरिस.
38. उषाराव, एन. आई. (1982) : 'इंस्ट्रास्टेट डिस्पैरिटीज इन लिटरेसी रेट्स इन कर्नाटक विद स्पेशल रेफरेंस टु शेड्यूल्ड कास्ट्स, एल. एस. भट्ट तथा अन्य (सं.) : 'रीजनल इनइक्वालिटी इन इंडिया' में संकलित, सोसाइटी फार स्टडी आफ रीजनल डिस्पैरिटीज, नई दिल्ली.
39. बिलियम्सन, डब्ल्यू. (1977) : पैटर्न्स आफ एजुकेशनल इनइक्वालिटी इन वेस्ट जर्मनी; 'कंपरेटिव एजुकेशन', जिल्द 13.

40. एरो, के. जे. (1963) : 'सोशल च्यायस एंड इंडिविजुअल वैल्यू', येल यूनिवर्सिटी प्रेस.
41. फ्रैंक, ए. जी. (1971) : 'कैपिटलिज्म एंड अंडर डेवलपमेंट इन लैटिन अमेरिका', पेंग्विन, हारमोड्सवर्थ.
42. कुंडू, ए. (1980) : 'मेजरमेंट आफ अरबन प्रासेसेज : ए स्टडी आफ रीजन-लाइजेशन', पापुलर प्रकाशन, बंबई.
43. सेन, ए. के. (1973) : 'आन इकनामिक इनइक्वालिटी' आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.
44. --- (1977) : 'सोशल च्यायस थ्योरी : एरी-एक्सामिनेशन; 'इकनोमेट्रिका' 45.
45. ट्रो, आई. एम. एंड ओ. फॉल्टन (1975) : 'रिसर्च एक्टिविटी इन अमेरिकन हायर एजुकेशन', मार्टिन ट्रो (स.) 'टीचर्स एंड स्टूडेंट्स' मैग्राहिल्ल, में संकलित.

अनुक्रमिका

अंतर्देशीय विषमता, शैक्षिक विकास में 87	असंभाव्य का प्रमेय 182
अंतर्देशीय शैक्षिक असंतुलन 57, 58	असमानताएं 77
अंतर्राष्ट्रीय भिन्नता 61	मापन 90
अंतर्राष्ट्रीय शैक्षिक योजना संस्थान 60	सूचकांकों का सह-संबंध गुणांक 65
अंतर्राष्ट्रीय शोषण 193	स्वरूप 90-91
अकादमिक उपनिवेशवाद/नव उपनिवेशवाद 199	आइस्टाइन 191
अकादमीय अनुशासन 200	आंकड़े और अध्ययन की विधि 24-27
अधिगम पर आधारित शिक्षण 137	आंकड़ों का आधार 62-64
अधिगम-शिक्षार्थी-उन्मुख शिक्षा 173	आटोनोमी 15, 168-70
अध्यापन-अध्यापक-उन्मुख शिक्षा 173	आधुनिक प्रौद्योगिक प्रगति 18
अध्यापन अनुसंधान 140	आधुनिकीकरण 198
अनुप्रस्थ काट-विश्लेषण 85-86	प्रवृत्ति 50
अनुप्रस्थ परिच्छेद 86-90	आयुर्विज्ञान स्नातक/परास्नातक बेरोजगार 122
अनुसंधान कार्य 140-43	आर्थिक आधार की विशेषताएं 75-77
अनुसंधान की आचार संहिता	आर्थिक विकास का निवेश 22
अनुसंधान में परिमाणात्मक क्रांति 85	आस्ट्रेलिया 5
अपर बोल्टा 60	इंजीनियरिंग तथा प्रौद्योगिकी में नामांकन 115
अपसरण-स्थायित्व-अभिसरण 60	इंडोनेशिया 112
अफगानिस्तान 60	इक्वेडोर 112
अफ्रीका 60	इथोपिया 60, 112
अभिविन्यास कार्यक्रम 146	इवेंसन, आर.एफ. 25
अमरीकी शिक्षा 155	ईस्ट इंडिया कंपनी 107
अरस्तू 191	
अलसाल्वाडोर 112	
अल्जीरिया 112	उच्च शिक्षा प्रणाली, असमानताएं 7
अल्पविकास का दुश्चक्र 78-81	गुणवत्ता और मात्रा 154
अवधारणाएं तथा संघटन, मूल्यांकन की 181-83	प्रबंधव्यवस्था 147

- मूल्यांकन 173-86
 अवधारणाएं तथा संघटन 181-83
 उपकरण 178-81
 गुणवत्ता और परिणाम 175-76
 सिद्धांत की खोज 176-78
 विकास 108
 विस्तार कार्य 144
 संरचना 107-23
 समकालीन भारत में 10
 शिक्षकों के कार्य 124-53
 कार्य-निष्पादन का स्वमूल्यांकन 149-50
 छात्रों के कार्य का मूल्यांकन 137-40
 ज्ञान का सृजन 140-43
 विस्तार कार्य और समुदाय की सेवा 143-47
 व्यवस्था का संचालन 147-49
 संचित ज्ञान का नई पीढ़ी को हस्तांतरण 132-37
 उपकरणों के स्वामित्व 50
 उपनिवेशकालीन शिक्षा व्यवस्था 2, 86
 उपनिवेशवादी शासक 3, 4
 उपनिवेशीकरण 198
 उपभोक्तावादी संस्कृति 21
 उपयोग, शिक्षा का 20
 उषा राव 61
- एकता और भिन्नता 166-67
 एकांतेबिलिटी 15
 एकीकरण 12, 13
 सिद्धांत 191
 एकीकृत शिक्षा नीति 159
 एक्स्ट्रा-म्यूरल शिक्षा 19
 एजुकेशन डिस्पैच (1854) 107
 एडलमैन 36
 एन.एम.ई. (नेशनल मेरिट एक्जामिनेशन) 18
 एस.यू. पी. डब्ल्यू (सामाजिक रूप से उपयोगी और उत्पादक कार्य) 6
- ऐरो 182
 ऐशवी 108
- औद्योगिक आत्म-निर्भरता 113
 औद्योगिक क्रांति 2, 20, 55, 195, 199, 202, 203
 औद्योगिक पूंजीवाद 195, 196
 औपचारिक नामांकन 18
 औपचारिक शिक्षा,
 आर्थिक विकास के निवेश के रूप में 22
 औपनिवेशिक भारत 2, 3, 4
 औपनिवेशिक शासन 55
 औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली 1, 4, 9, 137
 औपनिवेशिक शोषणव्यवस्था 195
- कनाडा 5
 कर्जन, लार्ड 107
 कला संकाय 113
 कांगों 112
 कारनॉय 22
 कार्य-निष्पादन 125
 स्वमूल्यांकन 149-50
 कार्योन्मुखी अनुसंधान परियोजना 142
 कालेज अध्यापन 126
 किसानों में शिक्षा का स्तर 27
 कुंडू, ए. 61, 63, 91
 कृषि उत्पादकता 2
 कृषि का आधुनिकीकरण 33-43, 50
 कृषि तथा पशु चिकित्सा विज्ञानों में नामांकन 115, 116
 कृषि विश्वविद्यालयों में विस्तार कार्य 145
 केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण 167-68
 केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड 6
 केंद्रीय विद्यालय 6
 केडर व्यवस्था और तरक्की प्रक्रिया के बीच संबंध 127
- केनिया 112
 कैरियर के विकास 125
 कोठारी आयोग 6
 कोलक्ताफ, सी. 22
 क्यूबा 112
 क्रमिक व्यवस्था 125
 क्लिंगनेट, आर. 22
 क्विजीन, ई. के. 25
 क्षेत्रवाद 4, 9, 160
 क्षेत्रीय असमानताएं 75-77
 क्षेत्रीय शैक्षिक असंतुलन 57
- खेतिहर मजदूर 27, 41
 खेती की नई प्रौद्योगिकी 26
 खेती के औजार और उपकरण 36
- गरीब किसानों में आरंभिक स्कूलशिक्षा 36
 'गरीबी पर सीधा हमला' 51
 गांधी, श्रीमती इंदिरा 12
 गांव की स्कूल समिति 16
 गुणवत्ता और परिमाण,
 मूल्यांकन की 175-76
 गुरु-शिष्य परंपरा 133, 174
 गृह उद्योग 77
 गैब्रियल, कैरो 60
 गोपनीय रिपोर्ट 125, 126
 गोसाल, जी.एस. 61
 ग्रांट, चार्ल्स 107
 ग्राम पंचायत 15
 ग्रामीण जनसंख्या का शैक्षिक स्तर 26
 ग्रामीण-नगरीय असमानता 49, 52, 57, 66
 साक्षरता दरों की 71-75
 वर्गीकृत जनपदों का वितरण 72
 ग्रामीण शिक्षा 49
 ग्रामीण स्कूल 16
 ग्रेट ब्रिटेन 5
 ग्रेडिंग की प्रणाली 183
 ग्वाटेमाला 112
- घूर्णक कारक भारक 67
- चतुर्थ अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण 64
 चाड 60
 चौधरी, डी.पी. 36
- छात्र शिक्षा आयोग (1964-66) 107
 छठी पंचवर्षीय योजना 65
 छात्रवृत्ति 159
 छात्रों के कार्य का मूल्यांकन 137-40
 छात्रों में व्याप्त कुंठा 17
- जन-आंदोलन 16
 जनता आवास योजना 41, 51
 जनवाद 11
 जनांकिकीय प्रतिक्रिया 43-49
 जवाबदेही 15
 जांबिया 2
 जातिवाद 4, 9, 160
 जापानी-रोम क्लब 21
 जमिनल 189
 जार्डन 112
 जैकसीनियन सिद्धांत 155
 जैपरसीनियन सिद्धांत 155
 जोला 189
 ज्ञान का सृजन 140-43
 ज्ञान का हस्तांतरण 132-37
- टर्म पेपर्स 139
 टोलेमी 191
 ट्यूटोरियल/प्रिसेप्टोरियल 134
 ट्राऊ 141
- डंकन, ओ.डी. 29
 डंकन, बी. 22
 डाल्टन 36
 डिग्री कालेज 2
 डिस्जा, एस. विक्टर 61

डोमिनिकन रिपब्लिक 112	98	प्रायोजित गतिशीलता 155	मूल्य और उपयोगिता 159-61
तरक्की प्रथा 126	पदोन्नति 126	प्रारंभिक शिक्षा का सार्वजनीकरण 15	शुद्ध अकादमिशियन और सरोकारी अध्यापक 163-65
तर्क शक्ति का परीक्षण 181	पर्यावरणव्यवस्था 191, 192	प्रौढ़पुरुष कामगार 46	समता और दक्षता 157-59
तालीमी सेना 16	परंपरागत शिक्षा व्यवस्था 1	प्रौद्योगिक प्रगति 189	स्वायत्तता और उत्तरदायित्व 168-70
थाइलैंड 112	परस्पर विरोधी दबाव, भारतीय उच्च शिक्षा में 154-72	प्रौद्योगिक विकास 2, 188	मूलभूत कमजोरी 113
दक्षता 157-59	पराधीन अर्थव्यवस्था 3	प्लेटो 189, 202	वृद्धि तथा प्रसार 111
दशमलव प्रणाली 2	परियोजना कार्य 135		संकट 123
10 ² 3 की शिक्षा प्रणाली 9, 11	परिवार का मुखिया, शैक्षिक उपलब्धि 31, 35	फ्रांस 5	भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद 149
दिक्गत इकाइयों का वर्गीकरण 92	शैक्षिक स्तर 44, 45	फॉल्टन 141	भारतीय प्रशासनिक सेवा 126
दुल्हन की उम्र 45	परिवारों का वर्गीकरण, जमीनों के गुणवत्ता के आधार पर 25	फार्म अर्थव्यवस्था 50	भारतीय विश्वविद्यालय 107
दुष्क्रियात्मक परीक्षाप्रणाली 9-10	जोतों के आकार के आधार पर 25	फिलीपन 112	भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (1857) 107
देशभक्ति 11	पेशे के आधार पर 26	फोस्टर, पी. 22	भारतीय शैक्षिक विकास 66
धर्म निरपेक्षता 11	परीक्षा प्रणाली 137, 173	बच्चा तथा स्त्री का अनुपात, शैक्षिक स्तर के आधार पर 44	भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद 149
नगरीकरण 64	पश्चिमी जर्मनी 60	बयालीसवां संविधान संशोधन 12	भाषावाद 160
नाइक 91	पॉपकिन, बी.एन. 25	बर्मा 112	भूमि विकास बैंक 36
नाइजीरिया 60, 112	पाकिस्तान 112	बलाऊ, पी.एम. 29	
नाउरू 5	पारीख, यू. 22	बाबूगिरी के नियम 126	मंगोलिया 112
नागी, चाऊ ता 60	पुरुष-स्त्री असमानता 7, 9	बालिकाओं के दाखिले की दर 33	मकतब 15
नामांकन का अनुपात 84	साक्षरता दर की 67-71	बाहरी परीक्षा प्रणाली 9	मध्यवर्ती पाठ्यक्रम 19
नामांकन में कालक्रम से वृद्धि दर 111	वर्गीकृत जनपदों का वितरण 69	बेनेट, डब्ल्यू. एस. 22	मनुष्य का प्रकृतीकरण 190-93
निकारागुआ 112	पुस्तक बैंक 159	बोडन 29	मलेशिया 5
निबंध शैली की परीक्षा 4, 17	पेरू 112	बौद्धिक आत्मनिर्भरता 124	महिलाओं की भागीदारी 3
नियोजित विकास 86-90	पेशे के आधार पर परिवारों का वितरण 26		महिला शिक्षकों की नियुक्ति 16
निःशुल्क आवास भूमि 41, 51	प्रकाशन 141-42	भट्ट 46	माध्यमिक स्तर पर नामांकित छात्र 5
नेपाल 112	प्रकृति का मानवीकरण 190-93	भविष्योन्मुखी शिक्षा 10-19	मानवतावाद 11
नैश, एम. 22	प्रतिबद्धता और निःसंगता 161-63	भारत की जनगणना, (1971) 55, 90	मानवपूँजी निर्माण 53
नौकरशाहीकरण, ग्रामीण स्कूलों में 16	प्रतिबद्धता-तटस्थता के विवाद 163	(1981) 62, 64, 87, 90	मानव संसाधन का विकास 53, 128
विश्वविद्यालयों में 126	प्रथम पंचवर्षीय योजना 64	भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद 149	मानवीकरण की प्रक्रिया 188
न्यूटन 191	प्रथम शिक्षा आयोग 107	भारतीय इतिहास कांग्रेस 149	मार्क्स, कार्ल 191
पड़ोसी विद्यालयों (नेबरहुड स्कूल) की योजना	प्रवेश प्रणाली 19	भारतीय उच्च शिक्षा 107	मार्टिन, सी. जे. 22
	प्रसारमूलक शिक्षा 19	परस्पर विरोधी दबाव 154-72	माली 60
	प्राइमरी स्कूल की शिक्षा का सार्वजनीकरण 29	एकता और भिन्नता 166-67	मिस्र 112
	प्राथमिक विद्यालय 5	केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण 167-68	मील, सी. राइट 22
	प्राथमिक स्तर पर नामांकित छात्र 5	प्रतिबद्धता और निःसंगता 161-63	मुस्लिम काल 9

मूल्य और उपयोगिता 159-61
 मूल्य निर्धारण 182
 मूल्यांकन 137-40
 उच्च शिक्षा में 173-86
 उपकरण 178-81
 कार्य 173
 मेंडिस, जी. 22
 मोइरा, जे. आर. 22

यमन 60
 यूनेस्को 21, 60, 65, 197

रॉबिंस समिति 123, 129, 141
 राइबा, आर. 60
 राज्यस्तरीय नियोजन 87
 राव, जे.एम. 61, 63
 राव, प्रो. वी.के.आर.वी. 24
 राव, वी.एम. 36
 राष्ट्रीय अर्हता परीक्षा 18
 राष्ट्रीय आंदोलन 4
 राष्ट्रीय एकता 4, 160,
 राष्ट्रीय एकीकरण,
 भारत की शिक्षा-प्रणाली में 12, 13
 राष्ट्रीय खुला विश्वविद्यालय 12
 राष्ट्रीय प्रतिमानों का विकास 11
 राष्ट्रीय प्रवेश प्रणाली 12
 राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम 145
 राष्ट्रीय रोजगार बाजार 12
 राष्ट्रीय विकास,
 असंतुलन और असमानता 53
 प्रारंभिक शिक्षा का सार्वजनिकीकरण 15
 राष्ट्रीय शिक्षा आयोग का गठन 108
 राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण
 परिषद 11, 64
 राष्ट्रीय शैक्षिक योजना और प्रशासन संस्थान
 15
 राष्ट्रीय-सामाजिक प्रतिबद्धता 161

राष्ट्रीय सेवा योजना 145
 राष्ट्रीय स्तर के नियोजन 87
 रेज़ के अज्ञान के नियम 177
 रोजगारदाताओं द्वारा न भरे गए रिक्त स्थान,
 अच्छे उम्मीदवार न मिलने के कारण 120
 रोजगार बाजार 17
 रोजगारपरक पाठ्यचर्या 12, 145
 रोजगारपरक माध्यमिक शिक्षा 6
 रोम क्लब 21

लाइबेरिया 112
 लेबनान 112
 लिओनतिफ क्लब 21
 लिसोथो 2
 लीबिया 112

वस्तुनिष्ठ प्रश्न 179
 वाणिज्य संकाय 114
 वाणिज्यिक बैंक 36
 वृक्षारोपण कार्यक्रम 145
 वृहद्स्तरीय नियोजन 87
 विकास का कारक और नतीजा,
 शिक्षा में 22
 विकास प्रक्रिया 14, 191
 विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग (भारत सरकार)
 149
 विज्ञान कांग्रेस 149
 विज्ञान संकाय 114
 वित्तीय संसाधन 37
 विद्यालय स्तर पर शैक्षिक विकास 92-106
 अंतर्संबंध 100-02
 उपयोगिता 106
 उपलब्धता 96
 गुणवत्ता 98-100
 परिमाण 94
 समता 102
 सुगमता 94

विभेदीकरण 13, 194
 वियतनाम 112
 विलियमसन्स, डब्ल्यू. 61
 विवेचन-विश्लेषण की पद्धति 23
 विश्लेषण का ढांचा 62-64
 विश्व अर्थव्यवस्था 193
 विश्व के एकीकरण और विभाजन 196
 विश्व बैंक 22, 112
 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग 12, 144,
 149
 विश्वविद्यालय के लक्ष्य 131
 विश्वविद्यालय की स्वायत्तता 126
 विश्वविद्यालय प्रशासन 147
 विश्वविद्यालय शिक्षक 124
 विस्तार कार्य 143-47
 वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद
 149
 वैज्ञानिक प्रौद्योगिक क्रांति 196, 200, 203
 वैरीमैक्स घूर्णन की विधि 66
 व्यय और व्यवसायीकरण,
 शिक्षा का 14
 व्यवस्था का संचालन 147-49
 व्याख्यान पद्धति 133-34
 व्यावसायिक गुणवत्ता 125
 व्यावसायिक दक्षता 125, 126

शत-प्रतिशत साक्षरता-लक्ष्य 65
 शाह, एम. 61
 शिक्षक और छात्र का रिश्ता,
 प्राचीन भारत में 4
 शिक्षक-छात्र अनुपात 84
 शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम 12
 शिक्षक-शिक्षण कार्यक्रम 12
 शिक्षकों का स्थानांतरण,
 प्राथमिक स्कूलों के 16
 शिक्षकों के कार्य,
 उच्च शिक्षा में 124-53

शिक्षण कार्य दिवस 13
 शिक्षण पद्धति में विचार-विमर्श 134
 शिक्षणप्रणाली,
 विचारों के आदान प्रदान की 134
 शिक्षण-समय 133
 शिक्षा,
 आंतरिक तनाव और दबाव 197-201
 आत्मनिर्भरता 2
 आधुनिक सिद्धांत 144
 उपयोग 20
 औपनिवेशिक भारत में सामाजिक-आर्थिक
 आधार 3
 किसानों में बढ़ता हुआ स्तर 27
 ग्रामीण-शहरी स्तर में असमानता 49, 52
 दुकानदारी वाले उद्योग 156
 प्रगतिशील परिवर्तन 19,
 प्रति व्यक्ति व्यय 84
 प्रभाव से संबंध रखनेवाला मुद्दा 23
 महिलाओं की भागीदारी 3
 मानव समाजों के विकास तथा सभ्यताओं
 के उत्थान में
 योगदान 20
 विकास का कारक और नतीजा 22
 व्यय 14
 व्यवसायीकरण 14
 व्यवस्था में असमानता 23
 संख्यात्मक विस्तार 156
 संस्था को दी जाने वाली सुविधा 14
 सामाजिक स्थितियों से संबंध 1

शिक्षा और काम के बीच संबंध 6
 शिक्षा और भविष्य 187-205
 आंतरिक तनाव और दबाव 197-201
 आरंभिक जांच पड़ताल 187-90
 मनुष्य का प्रकृतिकरण और प्रकृति का
 मानवीकरण
 190-93

- शिक्षा और श्रम की दुनिया 201-04
समकालीन विश्व 193-97
शिक्षा और विकास 52
शिक्षा और श्रम की दुनिया 201-04
शिक्षा क्षेत्र के ऊर्ध्व संबंध 14
शिक्षा प्रणाली,
असमानताएं 7
उच्च शिक्षा क्षेत्र की 7
पुरुष-स्त्री के बीच की 7, 9
समकालीन भारत में 10
शिक्षा संबंधी राष्ट्रीय संकल्प (1968) 109
शिक्षा सिद्धांत 143, 201, 202
शिक्षित बेरोजगारी 10, 117, 118
शुद्ध अकादमिशियन 163-65
शून्य की अवधारणा 1
शेड्यूल, एन.एस. 36
शैक्षिक उत्पादन 17
शैक्षिक क्षेत्रीय असमानता 60
शैक्षिक निवेश,
ग्रामीण परिवारों के संदर्भ में 22-52
शैक्षिक प्रबंध 15
शैक्षिक विकास 1
असमानताओं का कारण,
अंतर्क्षेत्रीय 57, 58, 87
ग्रामीण-नगरीय 57
पुरुषों और स्त्रियों के 56
तीसरी दुनिया के देशों में विशेषता 53
शैक्षिक स्तर,
ग्रामीण समूहों में स्कूल शिक्षा 31
शैक्षिक स्तर का वितरण,
पेशे के आधार पर बने समूहों
के परिवारों के मुखियों का 28
शैक्षिक शोध के विकास में बाधक,
रुढ़िवादी दृष्टिकोण 85
शोधकार्य 2
श्रम और शिक्षा में अंतर 55
श्रमशक्ति 2
- 1971 की भारतीय जनगणना पर आधारित
55
श्रीलंका 112
श्रेणी की प्रगति 17
संगोष्ठी 134
संदर्भगत गतिशीलता 156
संपन्न वर्ग में शिक्षा 31
संपूर्णतावादी सिद्धांत,
ज्ञान के संगठन के 200
संप्रदायवाद 9
संयुक्त राज्य अमरीका 112
सऊदी अरब 60, 112
सक्षमता का स्तर,
भारतीय शिक्षा प्रणाली में 13
सभ्यताओं के उत्थान में योगदान,
शिक्षा का 20
समकालीन विश्व,
एकीकरण, भेदीकरण और विखंडन 193-97
समकालीन शिक्षा 199
समता 157-59
समता के साथ संवृद्धि 53
समय-क्रम 86-90
संमागीकरण 13, 194
समाज के विकास में योगदान 20
समाजवाद 11
समानतापूर्ण विकास की नीति 65
समाजश्रयण परिणाम 80
समुदाय की सेवा 143-47
समुदाय पाठशाला 15
सरोकारी अध्यापक 163-65
सांप्रदायिकता 4, 160
साक्षरता 22
असमानताओं के स्थानिक प्रतिमान 64-75
ग्रामीण-नगरीय साक्षरता दर 71-75
पुरुष-स्त्री साक्षरता दर 67-71
साक्षरता दर 84

- असमानताओं का क्षेत्रीय आयाम 58-62
साक्षरता स्तर में असमानताओं का क्षेत्रीय
आयाम 53-54
सामाजिक-आर्थिक विकास 2, 20, 21
सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था 22
सामाजिक-आर्थिक संरचना में असमानता 54
सामाजिक गतिशीलता 28
सामाजिक जागरूकता 33-43
सामाजिक परिवर्तन के साधन 17
सामाजिक भागीदारी 41
सामाजिक सेवा से जुड़े उच्चस्तर शिक्षा 115
सामाजिक स्तरण (स्टैटिफिकेशन) 90
सामाजिक संस्कृति 3
सामूहिक चयन के सिद्धांत 182
सामूहिक नकल 17
सामूहिक विचारविमर्श 134, 135
सार्वजनीकरण,
प्रारंभिक शिक्षा का 15, 16, 29
सिद्धांत की खोज,
मूल्यांकन की 176-78
सिमेलना 194
सिंह. एस. एन. 36
सीतारामु, ए.एस. 26
सीमांत किसान 27
आरंभिक स्कूल शिक्षा का असर 37
सीरिया 112
सूखा/बाढ़ राहत कार्यक्रम 145
सेन, ए.के. 63, 183
सेनेगल 112
सेमिनार पाठ्यक्रम 139
सेवाकालीन प्रशिक्षण 17
सैंडविच कोर्सेज 19
सोफर, डी.ई. 63, 91
सोमालिया 2, 60
स्कूल शिक्षा प्रणाली,
असमानता 49
विकास 29
- विकास की मापन संबंधी समस्याएं 83-92
अनुप्रस्थकाट-विश्लेषण 85-86
अनुप्रस्थ परिच्छेद तथा समय-क्रम 86-90
गुणवत्ता और मात्रा 83-85
मापन 90
वर्गीकरण 92
विद्यालय स्तर पर शैक्षिक विकास के
लक्षण,
सूचक तथा सूचकांक 92-106
स्वरूप 90-91
वितरण 27-33
स्नातक बेरोजगार 10
संकाय के अनुसार 119
स्नातकों/परास्नातकों का नामांकन,
संकायों के अनुसार 113
स्नातकोत्तर शिक्षा 2
स्पार्टाकस 189
स्पेन 5
स्यैडी. डब्ल्यू. जी. 22
स्वतंत्र भारत में शिक्षा 4-10
स्वमूल्यांकन फार्म,
कालेज प्राध्यापकों के लिए 150-53
स्वशिक्षण पद्धति 136
स्वाधीनता संग्राम 11
स्वायत्तता 15
उत्तरदायित्व और 168-70
स्विटजरलैंड 2
स्त्री शिक्षा 9, 29, 57
स्वीडेन 112
हड़प्पा सभ्यता 3
हरित क्रांति 113
हस्तउद्योग 55
हकिर, बी.आर. 36
हिंदू काल 9
हिप्पो क्रेटीज 191
होंडुरास 112